अध्ययन और आस्वाद

(साहित्यिक निबन्ध)

लेखक

डा॰ गुलाबराय

१९५७

आत्माराम एण्ड सन्स

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता

काश्मीरी गेट

दिल्ली-६

प्रकाशक

भगवती देवी गुप्ता

प्रतिभा प्रकाशन

२०६, हैदरकुली, दिल्ली

लेखक की अन्य रचनाएँ

सिद्धान्त और अध्ययन	६.००
काव्य के रूप	५.००
आलोचक रामचन्द्र शुक्ल	६.००
हिन्दी काव्य विमर्श	३.५०
साहित्य और समीक्षा	१.५०
मन की बातें	३.००

आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली-६

मुद्रक

सुबोध प्रेस

बावड़ी बाजार, दिल्ली-६

उन होनहार विद्यार्थियों को
जो साहित्य का अध्ययन
रुचि के साथ उसका रसास्वाद करने के लिए करते हैं
और जिनको
मैं अपनी भौतिक सीमाओं के कारण
इस पुण्यकार्य में सहायता न दे सका

दो शब्द

यद्यपि 'उपजहिं अनत अनत छवि लहहिं' की उक्ति में बहुत-कुछ तथ्य है तथापि यह भी ठीक है कि लेखक को अपनी कृतियों का निकट-तम परिचय होता है। इसी नाते में 'अध्ययन और आस्वाद' के निबन्धों के सम्बन्ध में दो शब्द लिख रहा हूँ।

निबन्ध का विषय-विस्तार बहुत व्यापक है। उसके विस्तृत क्षेत्र में सारा जीवन और जगत आ जाता है। साहित्य और आलोचना भी उसी विशाल जीवन-विटप की सुरम्य सुमनावली में से है। जीवन और जगत से सम्बन्धित विषयों को लेकर मेरे दो संग्रह 'मेरे निबन्ध' (जीवन और जगत) और 'कुछ उथले कुछ गहरे' शीर्षक से निकल चुके हैं। यद्यपि इन संग्रहों के अधिकांश निबन्ध साहित्य से सम्बन्धित नहीं हैं (इनमें कुछ अवश्य साहित्य विषयक हैं) तथापि उनकी शैली सर्वथा साहित्यिक है। इनमें मेरे जीवन के अनुभव, राष्ट्रीय भावनाएँ और जीवन-दर्शन के सिद्धान्त संग्रहीत हैं। इनके अनुशीलन से विद्यार्थीगण विचारों में सम्पन्नता प्राप्त करने और व्यवहारकुशल अच्छे नागरिक बनने के साथ एक परिमार्जित और आकर्षक शैली के गुण सीख सकते हैं।

प्रस्तुत संग्रह के निबन्धों का विषय भी साहित्यिक है और उसी के साथ उनमें शैली की सरसता स्थित रखने का प्रयत्न किया गया है। ये निबन्ध उच्च स्तर के विद्यार्थियों के लिए अवश्य लिखे गये हैं किन्तु मेरा सदा यह ध्येय रहा है कि साधारण विद्यार्थी के लिए भी वे दुरुह न हो जाएँ। मेरा विश्वास है कि बहुत ऊँची बातें भी सरल और सुबोध भाषा में बताई जा सकती हैं, इसी विश्वास को इन निबन्धों में चरितार्थ किया गया है। इस संग्रह के प्रायः सभी निबन्ध आलोचनात्मक

हैं, कुछ सैद्धान्तिक आलोचना से सम्बन्ध रखते हैं और कुछ व्यावहारिक। सैद्धान्तिक और साहित्यिक एवं इतिहास से सम्बन्धित निबन्धों में अध्ययन की बात अधिक है और व्यावहारिक आलोचनाओं में अध्ययन के साथ आस्वाद का भी पुट है। अध्ययन और आस्वाद मेरी आलोचना के मूल स्तम्भ हैं और यही उनकी विशेषताएँ भी हैं।

इन निबन्धों में अधिकाँश 'निबन्ध-साहित्य' सन्देश के लिए लिखे गए हैं। इस संग्रह में वे अधिक परिमार्जित रूप में आये हैं। मासिक पत्रिकाएँ यद्यपि दैनिकों और साप्ताहिकों की अपेक्षा अधिक स्थायित्व रखती हैं फिर भी उन निबन्धों में वह तारतम्य, एकसूत्रता और क्रम-बद्धता नहीं रहती है जो पुस्तक में संग्रहीत निबन्धों में होती है। इन निबन्धों के संकलन और क्रमबद्ध करने और अखबार की फाइलों से निकाल कर पुस्तक रूप देने का श्रेय मेरे ज्येष्ठ पुत्र रामशङ्कर गुप्त को है। आशा है विद्यार्थीगण इनसे अपने अध्ययन तथा साहित्यिक निबन्ध लिखने के अभ्यास में लाभ उठायेंगे। काव्य के रसास्वाद करनेवालों को अपने रसास्वाद में भी इन निबन्धों से सहायता मिलेगी। इस प्रकार इस संग्रह का नाम 'अध्ययन और आस्वाद' सार्थक होगा।

गोमती-निवास
दिल्ली दरवाजा, आगरा
वैशाख शुक्ला पूर्णिमा
संवत २०१४

विनीत
गुलाबराय

विषय-सूची

अध्ययन और आस्वाद

१

साहित्य के मूल्य

आर्थिक व्यञ्जना

साधारण बोलचाल की भाषा में मूल्य शब्द का सम्बन्ध मोल-भाव या क्रय-विक्रय की मनोवृत्ति से है । उस शब्द के सुनते ही वर्तुलाकार रजत-खण्डों का जिनका प्रत्यक्ष दर्शन आजकल कुछ दुर्लभ हो गया है या उनके प्रतीक-स्वरूप नोटों का आकर्षक रूप सामने आ जाता है । अङ्गरेजी भाषा में 'वैल्यू' शब्द का अर्थ हिन्दी की अपेक्षा अधिक व्यापक हो गया है किन्तु वहाँ भी वह आर्थिक व्यञ्जना से निर्मुक्त नहीं हुआ है, और शायद इसी कारण से विशुद्ध कलावादी जो कला को सब मूल्यों से परे मानते हैं साहित्य के साथ मूल्य शब्द जुड़ा देखकर चौंक उठते हैं और कभी-कभी प्रभु ईसा-मसीह के से आवेश में आकर कहने लगते हैं कि तुम लोगों ने साहित्य जैसे पावन देव-मन्दिर को क्रय-विक्रय की हाट बनाकर रक्खा है ।

मूल्य और प्रयोजन

शायद ऐसी ही आपत्तियों से बचने के लिए भारतीय समीक्षा-शास्त्र में 'प्रयोजन' शब्द का व्यवहार हुआ है । प्रयोजन शब्द यद्यपि पर्याप्त रूपेण विस्तृत है और आर्थिक व्यञ्जना से मुक्त भी है तथापि वह मूल्य का ही आन्तरिक रूप है । मूल्य वस्तु के निर्माण के पश्चात् मिलता है । निर्माण से पूर्व वही लक्ष्य रूप से प्रयोजन कहलाता है । कलावादी तो मूल्य और प्रयोजन दोनों के ही विरोधी हैं ।

शुद्ध कलावादियों के क्षोभ की निवृत्ति के अर्थ हमको मूल्य शब्द के

अर्थ पर विचार कर लेना आवश्यक हो जाता है। साधारणतया हम उसी वस्तु को मूल्यवान् कहते हैं जो या तो सीधे तौर से हमारे उपयोग में आ सके या हमारे लिए उपयोग की वस्तुओं को जुटा सके या भविष्य में जुटा सकने की सामर्थ्य रक्खे। धन का मूल्य का प्रमुख रूप इसीलिए माना गया है कि उसके द्वारा हमको बहुत सी उपयोगी वस्तुएँ प्राप्त हो सकती हैं। हम उपयोगी उसी वस्तु को कहते हैं जो हमारी किसी आवश्यकता की पूर्ति कर सके। कूड़ा-कर्कट जब हमारी किसी आवश्यकता की पूर्ति नहीं करता तो अनुपयोगी समझा जाकर फेंक दिया जाता है; किन्तु वही जब खाद बनकर हमारे उद्यान के फूलों या गोभी-टमाटर के उत्पादन तथा उनकी पुष्टि और आकार-वृद्धि में सहायक होता है तब हमारी एक आवश्यकता की पूर्ति के कारण उपयोगी और मूल्यवान् बन जाता है। आवश्यकताएँ केवल भौतिक जगत में ही सीमित नहीं रहतीं, वे मानसिक और आध्यात्मिक भी हो सकती हैं। जो वस्तुएँ इन आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं वे उपयोगी और मूल्यवान कहलाती हैं।

मूल्य का अभिप्राय

कलावादियों की कला भी जो उपयोगिता की अपावन गन्ध से परे समझी जाती है, अपनी सौन्दर्य-जन्य प्रसन्नता देने की शक्ति और क्षमता के कारण उपयोगी कही जा सकती है। संगीत भी क्लान्त मन को विश्रान्ति देने के कारण उपयोगिता के क्षेत्र से बाहर नहीं। देश-सेवक अपने आदर्शों की पूर्ति के लिए प्राणों की भी आहुति देने में आना-कानी नहीं करता; उसके लिए वे आदर्श ही मूल्यवान् हैं क्योंकि उनकी पूर्ति में उसकी विस्तृत आत्मा को परितुष्टि होती है। एक धार्मिक व्यक्ति घर-बार की चिन्ताओं को छोड़कर हरि-भजन में मग्न रहता है, क्योंकि वह उसे अपने प्रियतम से मिलन का साधन समझता है। राजरानी मीरा ने अपने प्रभु गिरिधर नागर के लिए राज-वैभव, लोक-लाज और कुल-मर्यादा को तिलाञ्जलि देना ही श्रेयस्कर और मूल्यवान् समझा था, क्योंकि उससे उसके आध्यात्मिक भाव की तुष्टि होती थी। कोई श्रद्धालु भक्त मासिक 'कल्याण' के लिए डाकिए की

रुचि-वैचित्र्य

अधीर प्रतीक्षा करते हैं और कोई व्यसनप्रिय-सज्जन टाइम्स ऑव इण्डिया के क्रासवर्ड पज़ल्स के लिए न्यूज-एजेन्ट की दूकान के दिन में दस बार चक्कर लगाते हैं, क्योंकि उन वस्तुओं द्वारा उनकी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति होती है।

अब प्रश्न यह होता है कि ये मूल्य भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की रुचि-वैचित्र्य के कारण सापेक्षित हैं या निरपेक्ष। मूल्यों के सम्बन्ध में भी कुछ सापेक्षता अवश्य है किन्तु मनुष्य का जरा निकटतर अध्ययन करने से इन आवश्यकताओं के मोटे-मोटे प्रकारों का पता चल जायगा। मनुष्य में शरीर प्राण, मन, बुद्धि और आत्मा का अपूर्व संयोग है। इनके ही अनुकूल उसकी भिन्न-भिन्न आवश्यकताएँ हैं।

आवश्यकताओं के प्रकार

मनुष्य भौतिक पदार्थों की भाँति जड़ नियमों के बन्धन में रहता है। यद्यपि उसने अपनी वैज्ञानिक बुद्धि के बल पर उन नियमों पर बहुत अंशों में विजय प्राप्त कर ली है तथापि वह उनकी नितान्त अवहेलना नहीं कर सकता। मानवी बुद्धि की चरम सफलता के द्योतक वायुयान भी अचल होकर गगन-मण्डल में स्थित नहीं रह सकते। शीतोष्ण और क्षुत्पिपासा आदि आवश्यकताओं से भी मनुष्य अपना पल्ला नहीं छुड़ा सका। मनुष्य सत् होने के नाते मिट्टी के ढेले की भाँति प्राकृतिक नियमों में बँधा हुआ है और सजीव होने के नाते आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि प्राणि-शास्त्र सम्बन्धी आवश्यकताओं में पशुओं का समानधर्मी है। अन्तर केवल इतना ही है कि मनुष्य की इन सब बातों में कुछ मानसिक पक्ष भी लगा रहता है और इस कारण उसका आनन्द भी बढ़ जाता है। पेट तो होटल में भी भर जाता है, किन्तु प्रेम से परोसे हुए भोजन में कुछ सरसता, तुष्टि और शायद पुष्टि भी अधिक बढ़ जाती है। इसी कारण परम विरक्त गोस्वामी तुलसीदास को विनय-पत्रिका में राम-नाम के सम्बन्ध में "सुखद आपनो सो घर है" कहना पड़ा था।

भौतिक आवश्यकताएँ

यहाँ तक तो मनुष्य के अन्नमय और प्राणमय कोषों की बात रही, उसका मनोमय कोष इन दोनों से ऊँचा है। इसका सम्बन्ध उसके मन, बुद्धि चित्त, और अहङ्कार से है। उसकी एषणाएँ, अभिलाषाएँ, महत्वाकांक्षाएँ सब इसी से सम्बन्धित हैं। इस प्रकार उसकी भौतिक और प्राण-सम्बन्धी आवश्यकताओं के अतिरिक्त उसकी मनोवैज्ञानिक आवश्यकताएँ भी हैं। यही आवश्यकताएँ उसके व्यक्तित्व की पोषिका बन जाती हैं। वे उसकी अहं-भावना को तुष्ट करती हैं। किन्तु मनुष्य में जहाँ व्यक्तित्व का पार्थक्य है वहाँ उसकी आत्मा उसको व्यक्तित्व की तुच्छ सीमाओं के ऊपर उठाती है। उसकी सामाजिकता इसी का फल है। इसी कारण वह आचार और नीति के घेरे में आता है, यही प्रवृत्ति अनेकता में एकता स्थापित करती है।

उच्च प्रकार की आवश्यकताएँ

योरुप के लोगों ने इस एकता का आधार मनुष्य की सामाजिक प्रवृत्ति को माना है। भारतीय मनीषियों ने इस एकता की प्रवृत्ति का आध्यात्मिक आधार माना है और उसका सम्बन्ध विज्ञानमय कोष से स्थापित किया है। उसी आधार पर भारतीय एकात्मवाद की प्रतिष्ठा हुई। कुछ पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी 'सुपर ईगो' अर्थात् पर-आत्मा माना है। आनन्दमय कोष इससे भी ऊँचा है। उसमें ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय की त्रिपुटी की एकता हो जाती है। कला अपने चरम विकास में इसी ध्येय की ओर अग्रसर होती है। इसीलिए रस को काव्य की आत्मा माना है और उसे ब्रह्मानन्द सहोदर कहा है।

एकात्मवाद का आधार

भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के अतिरिक्त मनुष्य जीवन में आनन्द के लिए भी कुछ स्थान है। इस आनन्द की ऊँची और नीची कई श्रेणियाँ हैं। क्रिकेट मैच देखने से हमारा पेट नहीं भरता और न हम सिनेमा देखने से कुछ मोटे हो जाते हैं फिर भी हम उनके लिए परेशान रहते हैं। शतरंज का खिलाड़ी खाने-पीने और बाल-बच्चों की भी परवाह नहीं करता है। भगवद्भक्त राम-गुणगान में तल्लीन हो जाता है। साहित्य और कला

आनन्द की श्रेणियाँ

के क्षेत्र में यही आनन्द रस कहलाता है। यही काव्य का जीवन है किन्तु इस रस का स्रोत आन्तरिक होता हुआ भी वाह्य जगत से असम्बद्ध नहीं है।

साहित्य मुखरित जीवन है। वह जीवन का ही आत्माचिन्तन है। जीवन की आवश्यकताओं को भूलकर हम साहित्य का चिन्तन नहीं कर सकते। हमारे यहाँ का साहित्य शब्द 'लिटरेचर' से कुछ अधिक व्यञ्जना रखता है। साहित्य में 'सहित' 'इकट्ठे होने वा समन्वय का भाव लगा हुआ है—"सह एव सहितं, तस्य भावः साहित्यम् ।" दूसरी व्युत्पत्ति है 'हितेन सह सहितं तस्य भावः साहित्यम् ।" साहित्य की इन्हीं दोनों व्युत्पत्तियों से हमको इन मूल्यों के प्रश्न को हल करने में सहायता मिलेगी।

साहित्य और जीवन

यह बात तो सभी मानेंगे कि जिसका जीवन में मूल्य है उसका साहित्य मे भी मूल्य है। साहित्य के मूल्य जीवन के मूल्यों से भिन्न नहीं। अब प्रश्न यह होता है कि क्या इनमें कोई सर्वप्रधान है कि जिसमें हाथी के पैर के समान सबके पैर आ जायँ अथवा सब एक-सा महत्त्व रखते हैं और देवताओं के समान कोई छोटा बड़ा नहीं ? यह प्रश्न टेढ़ा है। सब लोग अपने-अपने पक्ष को महत्ता देने के लिए अपनी-अपनी ढपली पर अपना-अपना राग अलापते हैं। '**भिन्न रुचिर्हि लोकाः**' की बात इस समस्या को और भी जटिल बना देती है। सब मनुष्यों को एक लाठी से हम हाँक भी नहीं सकते। कुछ लोग तो प्रगतिवादियों के साथ यह कहेंगे कि '**भूखे भजन न होय गुपाला**' और कुछ बिहारी के साथ कहेंगे कि "**तंत्रीनाद कवित्त रस सरस राग रतिरंग। अनबूड़े बूड़े तिरे जे बूड़े सब अङ्ग**" में मनोविज्ञान ने भी मनुष्यों के 'इन्ट्रोवर्ट' (अन्तर्मुखी) और एक्स्ट्रोवर्ट (वहिर्मुखी) दो प्रकार के टाइप माने हैं। छायावादी शायद इन्ट्रोवर्ट श्रेणी में रखे जायँगे और प्रगतिवादी 'एक्स्ट्रोवर्ट' (वहिर्मुखी) के अन्तर्गत माने जायँगे। ये दोनों टाइप किसी अंश में एक दूसरे को प्रभावित कर सकते हैं, परिवर्तित नहीं कर सकते।

व्यापक मूल्य की खोज

व्यक्तियों की व्यक्ति-सम्बन्धी और टाइप सम्बन्धी विशेषताओं को ध्यान में रखकर अब यह ध्यान रखना चाहिए कि साहित्य के लिए भौतिक (प्राण-सम्बन्धी आवश्यकताएँ भी इसमें शामिल हैं) भावात्मक, बौद्धिक, सामाजिक (इनमें हम नैतिक आवश्यकताओं को भी शामिल करते हैं) और आध्यात्मिक आवश्यकताओं में किसी एक को प्राधान्य देना चाहिए या सबको।

भारतीय समन्वय दृष्टि

हमारे यहाँ जो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के चार पुरुषार्थ माने गये हैं उनका भी इन्हीं मूल्यों से सम्बन्ध है। धर्म में सामाजिक और नैतिक मूल्य आ जाते हैं, अर्थ का सम्बन्ध भौतिक मूल्यों से है, काम में सौन्दर्य और कला सम्बन्धी सभी मूल्य सम्मिलित हैं और मोक्ष में आध्यात्मिक मूल्य आ जाते हैं। यद्यपि ये सभी मूल्य अपना महत्व रखते हैं, तथापि इनमें से किसी एक की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती है। मोक्ष को चाहे थोड़ी देर के लिए हम भुला दें, किन्तु इन तीन को हम नहीं छोड़ सकते और करीब-करीब तीनों का बराबर महत्त्व है। किसी एक को भी प्राधान्य देना जीवन का सन्तुलन बिगाड़ना होगा। मर्यादापुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र जी ने अपने भाई भरत जी को प्रश्नों द्वारा नीति का उपदेश देते हुए पूछा था कि कहीं अर्थ से धर्म में या धर्म से अर्थ में और काम से धर्म और अर्थ में तो बाधा नहीं पड़ती?

"कच्चिदर्थेन वा धर्ममर्थं धर्मेण वा पुनः।
उभौ वा प्रीतिलोभेन कामेन न विबाधसे॥"

श्री रामचन्द्र जी ने भरत जी को समय विभाजन कर तीनों के परिसेवन का उपदेश दिया था।

इस प्रकार श्री रामचन्द्र जी ने भरत जी को अपने जीवन में धर्म, अर्थ, काम तीनों ही के समन्वय की शिक्षा दी थी। यही समन्वय-दृष्टि भारतीय दृष्टि है।

हमारे यहाँ के काव्य-समीक्षकों ने आनन्द में सब मूल्यों का समन्वय

किया है; वे लोग यश और अर्थ के भौतिक उद्देश्यों से चलकर पर-निर्वृत्ति के आध्यात्मिक लक्ष्य तक गये हैं। मम्मटाचार्य ने काव्य के उद्देश्यों में यश को सबसे पहला स्थान दिया है। कालिदास आदि ने यश के लिए ही लिखा था। उसके पश्चात् धन का स्थान आता है। आजकल की अधिकांश साहित्य-सृष्टि धन के लिए ही होती है। काव्य लोक-व्यवहार से परिचित होने तथा परिचित कराने के लिए भी लिखा जाता है। प्राचीन लोग प्रार्थनाओं द्वारा अनिष्ट निवारण के लिए भी काव्य लिखते थे, जैसे गोस्वामी जी ने बाहु पीड़ा से मुक्त होने के लिए हनुमान बाहुक लिखा था। काव्य का सबसे बड़ा उद्देश्य तुरन्त उत्पन्न होने वाला आनन्द है। काव्य स्त्री की भाँति कोमलता और सहृदयतापूर्ण उपदेश देने को भी लिखा जाता है, जैसे बिहारी के **'नहिं पराग नहिं मधुर मधु'** वाले दोहे ने मिर्जा राजा जयशाह को सचेत किया था। काव्य के ये सब उद्देश्य नीचे के श्लोक में दिये गये हैं—

मम्मट का मत

"काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥"

भामह ने भी काव्य को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का साधक और कला में नैपुण्य उत्पन्न करने वाला तथा प्रीति और कीर्ति की प्राप्ति कराने वाला बतलाया है—

भामह का मत

"धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधु काव्यनिबन्धनम्॥"

आध्यात्मिक मूल्य भौतिक मूल्यों से ऊँचे अवश्य हैं, किन्तु उनकी उपेक्षा नहीं करते। भौतिक सोपानों द्वारा ही आध्यात्मिक की प्राप्ति होती है।

साहित्य का मूल्यांकन भी हम इसी व्यापक दृष्टिकोण से कर सकते

है। जो साहित्य हमको इन धर्म (नीति, आचार और आध्यात्मिक मान) अर्थ (भौतिक और शारीरिक मान) और काम (एषणाएँ महत्वाकांक्षाएँ, कला और सौन्दर्य-सम्बन्धी मान) इन तीनों प्रकार के मानों के अथवा मूल्यों के समन्वय की ओर ले जाता है, वही सत्साहित्य है। साहित्य का अर्थ भी सहित का भाव है जो समन्वय-दृष्टि प्रधान है।

साहित्य का आदर्श

आचार्य कुन्तक ने शब्द के शब्दोत्तर के साथ और वाच्य के वाच्यांतर के साथ मेल को ही साहित्य कहा है—

कुन्तक का मत

"सहितौ इत्यत्रापि यथा युक्ति स्वजातीयापेक्षया शब्दस्य शब्दान्तरेण वाच्यस्य वाच्यान्तरेण च साहित्य परस्परास्पर्द्धित्व लक्षणामेव विवक्षितम्।"

कुन्तक ने शब्द और अर्थ दोनों को ही महत्त्व दिया है। यथा—

"शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनौ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणी॥"

इसलिए वक्रोक्तिवाद का कोरे अभिव्यंजनावाद से तादात्म्य करना उचित नहीं ठहरता। साहित्य की दूसरी व्युत्पत्ति है "हितेनत्र सह सहितं तस्य भावः साहित्यम्।" साहित्य के दोनों ही अर्थ हमको समन्वय भाव और लोक मंगल की ओर ले जाते हैं। जो साहित्य मनुष्य-जीवन में उसकी सभी वृत्तियों और जीवन के सभी स्तरों में साम्य की ओर ले जाता है वही हमारे लिए मान्य होगा। इस साहित्य को चाहे प्रगतिवाद कहें, चाहे छायावाद और चाहे समन्वयवाद।

वक्रोक्तिवाद और अभिव्यञ्जनावाद

प्रगतिवाद ने आर्थिक मूल्यों को प्रधानता दी है। वह अन्य मूल्यों की यदि उपेक्षा करता है तो एकाङ्गी ठहरकर उच्चादर्श से गिर जाता है। छायावाद मनुष्य की कला-सम्बन्धी प्रवृत्तियों का पोषण करता है, वह शब्द-सौन्दर्य पर भी अधिक बल देता है। किन्तु वह भी आर्थिक मूल्यों की उपेक्षा नहीं कर सकता। आजकल के छायावादी प्रायः सभी इन आर्थिक मूल्यों के प्रति सचेत होते जाते हैं।

प्रगतिवाद और छायावाद

कला-सम्बन्धी मूल्य अथवा नगेन्द्रजी के शब्दों में छायावाद का वायवी सौन्दर्य मूर्त-सौन्दर्य को पूर्णता प्रदान करता है। स्वयं सौन्दर्य भी एक साम्य है, जिसमें भौतिक और आध्यात्मिक दोनों का ही सम्मिश्रण रहता है। सौन्दर्य का आधार भौतिक है किन्तु बिना मानसिक रुचि और आकर्षण के वह अपनी पूर्णता को नहीं प्राप्त होता है। रवीन्द्र बाबू ने इसी बात को लक्ष्य करके कहा है—

सौन्दर्य का वस्तुगत और मानसिक पक्ष

"ओ वोमन, दाउ आर्ट हाफ ड्रीम एण्ड हाफ रीयैलिटी।"

सुमन के दिव्य सौन्दर्य एवं सौरभ के लिए उसका परागमय स्थूल शरीर ही नहीं, वरन् कटीली डालें और मिट्टी के ढेले भी आवश्यक हैं। किन्तु हम मिट्टी के ढेले पर ही सन्तोष नहीं कर सकते। सुमन का सौरभ मिट्टी के ढेले की पूर्णता है। वही पृथ्वी का गन्धवती होना प्रमाणित करता है। किन्तु हमको यह भी मानना होगा कि फूल के साथ हाँडी जिसमें दाल पकती है और घड़ा जिसमें पानी ठंडा रहता है मिट्टी की पूर्णताओं में से हैं। इसके साथ हम यह भी नहीं भूल सकते कि सारी मिट्टी घड़े और कुल्हड़ बनाने में ही खर्च नहीं हो जाती है, उसके खिलौने भी बनते हैं और उससे सुमन-सौरभ भी उत्पन्न होता है।

स्थूल और सूक्ष्म की पारस्परिक निर्भरता

उपसंहार रूप से एक बार मैं फिर दोहराना चाहता हूँ कि जीवन के मूल्य साहित्य के मूल्य हैं जो साहित्य जीवन को पूर्ण बनाये, वही सत्साहित्य है। जीवन की पूर्णता का अर्थ है भौतिक, मानसिक, सामाजिक और आध्यात्मिक, (जिसमें धर्म और कला दोनों ही सम्मिलित हैं) मूल्यों की सम्पन्नतापूर्ण समन्विति। हम वैविध्य-शून्य अभावों की समन्विति नहीं चाहते। हम चाहते हैं वीणा के स्वरों अथवा इन्द्रधनुषी रंगों का-सा विविधतापूर्ण सम्पन्न साम्य। सत्साहित्य जीवन के व्यापक क्षेत्र में विविधता में एकता स्थापित करने वाले विकासवाद के चरम लक्ष्य को चरितार्थ करता है। मनुष्य

उपसंहार

केंचुए से तथा उसके भी उच्च श्रेणी के जीवधारियों से अधिक विकसित इसीलिए कहा जाता है कि उसके अंगों में कार्यों के वैविध्य के साथ पूर्ण अन्विति है। सत्साहित्य का क्षेत्र न किसी वर्ग-विशेष में सीमित होगा और न उसमें किसी का बहिष्कार होगा। जहाँ उसको मानवता के दर्शन होंगे, उसकी वह उपासना करेगा। उसके लिए उपयोगिता और सौन्दर्य दोनों एक ही वस्तु के भीतरी और बाहरी रूप होंगे। बाहर और भीतर के साम्य में ही सौन्दर्य की पूर्णता है और वही रस भी है। इस दृष्टि से साहित्य के प्राचीन मान अलंकार, ध्वनि, आदि भी निरर्थक नहीं हो जावेंगे। वे सौन्दर्य के ढाँचों के रूप में वर्तमान रहेंगे। कलाकार को यह स्वीकार करना पड़ेगा कि बिना वस्तु के ढाँचे खोखले और निर्मूल्य होंगे और बिना ढाँचों के सामग्री बिखरी रहेगी और उसमें अन्विति नहीं आ सकेगी। काव्य की आत्मा रस ही रहेगा, किन्तु उसका स्रोत रूढ़िवाद का अन्धकूप न होगा, वरन् जीवन का विशाल और गतिशील निर्भर होगा। भविष्य का कलाकार जीवन के भौतिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक और आध्यात्मिक श्रेयों को कला के सौन्दर्यपूर्ण ढाँचों में ढालकर प्रेय बनावेगा। वह सौन्दर्य को केवल वायवी न रखकर उसको पुष्ट और मांसल बनावेगा और अचल तथा स्थूल में भी वायवी सौन्दर्य की प्राण-प्रतिष्ठा करेगा।

२

साहित्यिक जीवन के दो पक्ष

यद्यपि साहित्यिक न तो पुच्छविषाणहीन पशु होता है और न अन्तरिक्ष में स्थित किसी नक्षत्र का काल्पनिक प्राणी, वह भी साधारण मनुष्य का-सा हाड़-मांस-चाम का बना हुआ पृथ्वीतल-वासी चलता-फिरता, बोलता-चालता पुतला होता है, फिर भी उसके जीवन में कुछ विशेषताएँ देखी जाती हैं जिनके कारण वह अपने सजातियों में बिहारी की नायिका की भाँति फानूस-सा छिपाये नहीं छिपता। उसके जीवन के दो पक्ष होते हैं—एक बाह्य और दूसरा आन्तरिक। यद्यपि उसका बाह्य जीवन हाथी के दाँत की भाँति असली नहीं होता तथापि उसका भी बाजार में मूल्य है।

बाह्य और आन्तरिक

साहित्यिक शिव का ध्यान करते-करते स्वयं शिव-सा ही फक्कड़ बन जाता है। स्वयं अशिव रूप धारण करता हुआ भी दूसरों के लिए शिवरूप होता है, स्वयं विभूति रमाकर दूसरों की विभूति का कारण बनता है। वह एकाकी रहना पसन्द करता है। उसके लिए भी कुछ सत्यता के साथ कहा जा सकता है 'सहज एकाकिन के घरहिं, कबहुँकि नारि खटाहिं'। साहित्यिक को निर्द्वन्द्व (जोड़े से रहित) जीवन व्यतीत कराने में कभी-कभी स्वयं मृत्युञ्जय भगवान् ही सहायक बन जाते हैं। यदि जनगणना के चक्र देखे जायँ तो विधुरों और अविवाहितों की संख्या साहित्यिकों में सब से अधिक मिलेगी। वर्तमान हिन्दी-साहित्य में पण्डित बनारसीदासजी चतुर्वेदी विधुर सम्प्रदाय के आदि-आचार्य हैं, शायद निरालाजी के आगे उनको भी सिर झुकाना पड़े।

पारिवारिक जीवन से उदासीनता

यदि सौभाग्य वा दुर्भाग्य से किसी साहित्यिक को पारिवारिक जीवन

बिताना ही पड़े, तो वह उसे एक आवश्यक बुराई के रूप में, छिपकली की पूँछ की भाँति जो अधिक बल पड़ने पर उससे अलग हो जाती है, स्वीकार करता है और वह उसे सदा 'कीर के कागर लों' त्यागने को तैयार रहता है। जीवन-सागर का आलोड़न-विलोड़न करने पर भी लक्ष्मी जी उसके हाथ नहीं लगतीं। उसके बाँट में तो जीवन का विष ही आता है। सुरसा के मुख की भाँति दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ने वाली 'अभाव की चपल बालिके' चिन्ता से ही उसका पाला पड़ता है। नोन, तेल, लकड़ियों की सौहार्द-शून्य माँग और बच्चों का सप्त स्वर भेदी रें-रें-पें-पें-प्रधान आर्तनाद उसकी लजवन्ती सदृशा सहज शान्ति की मान-मर्यादा को अनायास ही भंग कर देता है। शिव-धनु की भाँति उसका धैर्य-धनु भी छुअत ही टूट जाता है। पलायनवाद के विरोध में प्रगतिशीलता की दुहाई देता हुआ भी 'अवनी के कोलाहल' से दूर जाने के लिए नाविक के भुलावे में आने को वह सदा प्रस्तुत रहता है। कभी-कभी इस भुलावे को निद्रा का सुख लेने के लिए वह शिवजी की ही भाँति भाँग-धतूरे नहीं तो छनी-छनाई बोतल-वासिनी वारुणी-देवी को जठराग्नि से प्रदीप्त अन्तस्तल में निवास कराने का भी यथासाध्य उपक्रम कर लेता है। कोमल कुसुमोपम प्रफुल्ल सुकुमार शिशुओं की मोदभरी किलकन और अन्नपूर्णा गृहलक्ष्मी की प्रेमपूर्ण मुस्कान के बदले भी वह जीवन-भार की मोट को अपने सर पर रखने के लिए प्रसन्नता से तैयार नहीं होता, विवशता की दूसरी बात है। वह काव्य-कानन में खिले हुए शृङ्गार और वात्सल्य के कागज के से अम्लान परन्तु निर्जीव रंग-बिरंगे पुष्पों से अमिश्रित आनन्द रस का पान कर सन्तोष कर लेता है। गृह चिन्ताभार से विमुक्त होकर आदिरस के आस्वादन का अवसर कदाचित् उसे मिल जाय तो वह उसकी अनैतिकता को भी थोड़ी देर के लिए भूल सकता है।

साहित्यिक जीवन में एक विशेष प्रकार की अव्यवस्था रहती है। वह वैवाहिक जीवन का भी अंकुश नहीं स्वीकार करती है। वह महिषासुर-मर्दनी भगवती दुर्गा की भाँति अजेय है। कुछ सामान्य साहित्यिकों में यह

अव्यवस्था स्वाभाविक ही होती है और सांसारिक विषयों में दार्शनिक उपेक्षा और स्वान्तःसुखाय वाले विषयों में निमग्नता भगवान अक्षपाद[1] की सी अन्धकूप में गिरानेवाली तल्लीनता को भी पार कर जाती है किन्तु अधिकांश में यह कृत्रिम, प्रदर्शित और स्वारोपित होती है। साहित्यिक मध्य पथ को ग्रहण करना पसन्द नहीं करता, या तो वह कुन्देन्दु-प्रभा-विनिन्दित धवल धौत विशुद्ध खद्दर धारण करेगा या सदा एक रस रहने वाले रेशमी वस्त्रों में अपने शरीर को आच्छादित करेगा। वह प्रायः धोती-कुर्ता पहनता है और यदि प्रगतिवाद की ओर कुछ रुचि हुई तो पाजामा और पेशावरी चप्पलों से प्रगतिशीलता प्रदर्शित करता है। गले का बटन होता हुआ भी अजागलस्तनवत् निरर्थक रहता है। कभी-कभी लौटकर वह छिपा भी लिया जाता है। बाल काढ़े जाकर भी उनमें एक कृत्रिम अव्यवस्था उत्पन्न कर दी जाती है। ताम्बूल के बिना उनकी सरस्वती जड़ीभूत रहती है। भोजन की अपेक्षा उन्हें चाय और चुरट की चिन्ता कुछ अधिक वेग से सताती है। दूध पीने को वे सर्पों का धर्म समझते हैं। जो लोग घर के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं, उनके यहाँ तो सुदामा की फूटी कठौती और टूटे तवे के भी मुश्किल से ही दर्शन होते हैं। अगर चाय गरम करने के लिए कहीं हाँडी या देगची नाम की कोई चीज दिखाई पड़ जाय तो वह भी एलूमीनियम की होती है। संसार का कलुष वह अपने ऊपर धारण किये रहती है और जीवन की ठोकरों में अपने स्वामी का प्रतिनिधित्व करती हुई कभी-कभी प्राचीन योद्धा की भाँति ग्रीवा-विहीन दिखाई देती हैं। कुछ धूल-धूसरित पुस्तकें और अखबार उनके कमरे के अलङ्करण बने रहते हैं।

अव्यवस्थित जीवन

---

१. कहते हैं कि न्यायशास्त्र के कर्ता महर्षि गौतम किसी विषय के चिन्तन में इतने तल्लीन हो गये थे कि वे अंधे कुएँ में गिर पड़े थे। इस दशा की पुनरावृत्ति से बचाने के लिए भगवान् ने उनके चरणों में आँख दे दी थी ताकि वे चलते-चलते देख सकें।

टूटी चारपाई अथवा उसकी प्रतिनिधि चटाई उनके सुख-दुख की एक मात्र संगिनी होती है। परसा, परसो, परसराम की भाँति सम्पन्नता की श्रेणियों को द्योतित करते हुए बीड़ी, सिगरेट और सिगार के अवशिष्ट भाग उनके निशा-जागरण का साक्षित्व करते हैं। उषा रानी के स्वर्णिम सौन्दर्य के वे चाहे जितने गीत गायें, किन्तु परम तेजस्वी होकर सूर्योदय का स्वागत करना वे अपना अपमान समझते हैं। स्वयं सूर्यदेव ही अपने कोमल करों से उनका वाक्रचनाविधान सम्पन्न करते हैं। इस प्रकार वर्तमान साहित्यिक के घर में पुस्तकों का सतोगुण, धूल का रजोगुण और निद्रालस्य और कभी-कभी क्रोध का तमोगुण मिलकर त्रिगुणमयी प्रकृति का दृश्य उपस्थित कर देता है।

इसके विपरीत कुछ कलाकार ऐसे भी होते हैं जिनके पूर्वजों के पुण्य-प्रताप से लक्ष्मी देवी की वरद छाया उनके घरों को शीतल किये रहती है।

फैशन के पुजारी कलाकार

वे एकाकी रहते हुए भी कम से कम अपने कमरे की व्यवस्था को अक्षुण्ण रखते हैं। वे एक दूसरे ही छोर के मनुष्य हैं। वे पतलून की क्रीज को अन्तर्राष्ट्रीय सीमाओं से भी अधिक महत्त्व देते हैं। वे रेशमी वस्त्रों द्वारा अपनी विगत सुकुमारता की क्षतिपूर्ति करते रहते हैं। कलियुग में झूठ और लोभ की भाँति रेशम ही उनका ओढ़ना होता है और रेशम ही उनका बिछौना। चबेना के लिए उन्हें फोर्स और विटेमिनाइज्ड फूड का आश्रय लेना पड़ता है। यदि प्रोफेसर वर्ग में पहुँच गये तो कभी-कभी सिगार के साथ कार का भी व्यवहार करने लगते हैं। स्वयं तमाल पत्र का धूम्रपान कर दूसरों को शक्ति के भण्डार पेट्रोल का धूआँ पिलाते हैं। बलिदान के नाम पर वे सर तो नहीं किन्तु सर के बाल कटाने को सदा तैयार रहते हैं। सम्पन्न वर्ग के हमारे प्रगतिशील साहित्यिक खस की टट्टी और विद्युद्व्यजन के शीतल वातावरण में सुकोमल गद्दियों से लदे हुए स्प्रिंगदार सोफों पर बैठकर पार्कर पेन से प्रचण्ड मार्तण्ड के प्रखर आतप से सन्तप्त अर्धनग्न जठराग्नि के ज्वर से जर्जरित फावड़े चलाने वाले मजदूर की अन्तर्वेदना के शब्दचित्र अंकित

करने का सद्प्रयास करते हैं। वे महलों में रहकर झोपड़ियों का ख्वाब देखते हैं। वे जीवन की घुड़दौड़ में अपने घोड़े को सबसे आगे ले जाने वाले की महत्वाकांक्षा रखते हुए भी जीवन की निस्सारता के तराने गाते हैं। वे अपने जीवन के खोये हुए साम्य को संगीत की स्वर्ण-शृंखलाओं में जकड़कर शब्दों की कालिमामयी कारा में आबद्ध करना चाहते हैं। लोकतन्त्र की दुहाई देते हुए भी धोबी और रसोइये के लिए वे भगवान् विरूपाक्ष का तृतीय नेत्र खोलने को तैयार रहते हैं। हमारे देश में सम्पन्न और विपन्न दोनों ही प्रकार के साहित्यिक दिखाई पड़ते हैं। इनके जीवन के ये दोनों ही चित्र बाहरी हैं। हाथी के दिखाने के दाँतों की भाँति इनका बाजार में मूल्य हो किन्तु वे असली जीवन के द्योतक नहीं—इनमें से सम्पन्न जीवन का नहीं तो विपन्न जीवन का तो सहज ही में अनुकरण हो सकता है, किन्तु साहित्यिक हृदय के बिना वह जीवन प्राणहीन और निस्सार हो जाता है।

साहित्यिक जीवन का हृदय अथवा आन्तरिक पक्ष क्या है? वह है व्यापक सहानुभूति, जिसके द्वारा वह संसार के सुख-दुख को अपना सुख-दुख बनाकर मुखरित करता है। वह विश्व से अपना तादात्म्य करने को तैयार रहता है। निज और पर की लघुता उसके जीवन को स्पर्श नहीं करती। क्रौंच-बध से उद्वेलित होकर शोक को श्लोक में परिणत करने वाली आदि-कवि की करुणा को वह एक अमूल्य पैतृक सम्पत्ति के रूप में अपने हृदय-कक्ष के भीतर स्थान देता है। वह संसार के साथ रोता है किन्तु उसके रोने में एक सामंजस्यपूर्ण राग रहता है।

आन्तरिक पक्ष-संवेदनशीलता

साहित्यिक का हृदय और मस्तिष्क रेडियो के ग्राहक-यन्त्र से अधिक संवेदनशील और उसकी वाणी की अभिव्यक्ति ध्वनिविस्तारक-यन्त्र से भी अधिक प्रभावशालिनी होती है किन्तु उसके शक्ति भरे स्वर में कर्कशता का लेश भी नहीं रहता। वह विपत्ति में भी अपनी शालीनता नहीं खोता और किसी प्रकार की बीभत्सता उसकी वाणी के शृंगार से मेल नहीं

तदनुकूल अभिव्यक्ति

खाती। वह कीचड़ उछालने की अपेक्षा कीचड़ के कलुषित स्थल को धोकर परिमार्जित और परिष्कृत करना अधिक पसन्द करता है। सच्चा साहित्यिक मानवता का उपासक होता है। वह स्वयं दीन रहकर दूसरों को दैन्य धारण करने के अवसरों से बचाता है। वह अपने स्वाभिमान की अपेक्षा दूसरे के स्वाभिमान की रक्षा करने को अधिक महत्त्व प्रदान करता है। वह यदि सेवा का भार अपने सर पर लेता है तो उसमें शासन की दुर्गन्ध को नहीं आने देता। उसका उपदेश कान्ता से भी मधुर होता है। वह यदि कठोर बनता भी है तो लोक मङ्गल के लिए, अपनी महत्ता जतलाने के लिए नहीं, पुजाने की अपेक्षा वह पूजने के लिए अधिक लालायित रहता है। दम्भ, पाखण्ड, प्रपञ्च और गुरुडम उसके जीवन को स्पर्श नहीं करतीं। सच्चा साहित्यिक अपने दोषों की उपेक्षा नहीं करता। अपने विपरीत मत का अनुकूल मत से भी अधिक स्वागत करता है और सफलता और विफलता में सदा अनुद्विग्नचित्त रहकर हँसता हुआ कर्तव्य-पालन करता है।

शील और सौन्दर्य की उपासना

परमात्मा के दैवी गुणों में वह शक्ति की अपेक्षा शील और सौन्दर्य को अधिक महत्त्व देता है। शील को वह सौन्दर्य का आन्तरिक पक्ष मानकर अपनाता है। उसके हृदय में संहारकारिणी शक्ति की अपेक्षा संरक्षणी शक्ति अधिक मान पाती है। जो शक्ति संसार में आन्तरिक और बाह्य सौन्दर्य की प्रतिष्ठा में सहायक होती है वही साहित्यिक की आराध्या बनती है।

प्रेम का प्रदीप

साहित्यिक भू के कोने-कोने में सौन्दर्य के दर्शन करता है और अपेक्षाकृत असुन्दर को भी सुन्दर बनाने की वह प्राणपण से चेष्टा करता है। वह पतित से पतित और नीच से नीच ईश्वरीय ज्योति के प्रकाश-कणों की झलक देखता है और वह अज्ञान, उपेक्षा और तिरस्कार के आवरण को हटाकर स्वयं अपने को ही नहीं वरन् सारे संसार को उस दिव्य-ज्योति का पावन प्रकाश प्रदान

करता है। साहित्यिक जीवन के लहराते हुए सागर में अवगाहन कर नित्य नये रत्नों को प्रकाश में लाता है। उसका जीवन एक खोज और विजय का इतिहास है। वह मानव-हृदय के अन्धतम स्तरों में प्रवेश कर उनको अपने प्रेम-प्रदीप से प्रकाशित करता है। उसके साम्राज्य की सीमाएँ नित्य विस्तारोन्मुखी रहती हैं। प्रत्येक विफलता से उसे एक नयी शक्ति मिलती है और वह उस शक्ति का मानव हिताय प्रयोग करता है।

समता और स्वातन्त्र्य

साहित्यिक का जीवन सजीव होकर समता और स्वातन्त्र्य की भावनाओं से ओत-प्रोत रहता है। वह वनस्पतियों की भाँति केवल बढ़ना नहीं जानता। सक्रिय जीवन ही उसके लिए जीवन है। निष्क्रिय जीवन उसके लिए मृत्यु है। वह जीवन को सुन्दर, सम्पन्न और साम्यमय देखना चाहता है। शून्य की सरलता उसका ध्येय नहीं। इसीलिए **'अद्वेष्टा सर्व-भूतानां मैत्रः करुण एव'** का पाठ वह स्वयं पढ़ता है और दूसरों को भी पढ़ाता है। साहित्यिक क्षुद्र राष्ट्रीयता के भेदक प्राचीरों और सीमाओं को स्वीकार नहीं करता। उसके लिए विश्व एक नीड़ बन जाता है। वह विद्या-विनय-सम्पन्न ब्राह्मण, गाय, हाथी, श्वान और श्वपच सब में एक परमात्मा के दर्शन करता है। वह सदा निर्भय रहकर दूसरों को प्राणदान देता है। वह भय की प्रीति नहीं सिखाता वरन् प्रीति के भय को अपने कर्तव्यशास्त्र में स्थान देता है। उसकी आत्मा सदा स्वतन्त्र रहती है। वह स्वार्थ के स्वर्णकणों के लिए सत्य की हत्या नहीं करता। वह सत्य-हित और प्रिय वाणी द्वारा विश्व-कल्याण की कामना करता हुआ निर्वैर और साम्यमय-सम्पन्न जीवन व्यतीत करता है। यह है सच्चे साहित्यिक जीवन की एक क्षीण झलक। ईश्वर करे हमारे देश में ऐसे ही साहित्यिक उत्पन्न हों जो सदा संसार में 'सर्वे भद्राणिपश्यन्तु' की भाव-तरंगें प्रवाहित करते रहें।

('आजकल' से)

३

समालोचक के कर्त्तव्य और गुण

मूल उद्देश्य

जिस प्रकार 'यशसे', 'अर्थकृते', 'व्यवहारविदे', 'शिवेतरक्षतये' आदि काव्य के उद्देश्य बतलाये गये हैं, उसी प्रकार आलोचना के भी कई उद्देश्य हो सकते हैं।

समालोचना का मुख्य उद्देश्य तो पुस्तक का विवेचनापूर्ण परिचय करा कर पाठकों को उसके रसास्वादन में सहायता करना है। यदि पुस्तक में कुछ ऐसे गुण हैं जो सहज में दृष्टिगोचर नहीं हो सकते तो उनसे पाठकों को अवगत करा देना, जिससे वे कृति के सौन्दर्य का भली प्रकार आस्वादन कर सकें और यदि पुस्तक वास्तव में दूषित है, और पाठक उससे लाभ नहीं उठा सकते तो पाठकों के धन और समय का अपव्यय रोक देना, ये दोनों बातें आलोचक का परम कर्त्तव्य हो जाती हैं। समालोचक इस कार्य की पूर्ति के लिए कई प्रकार के साधनों का प्रयोग करते हैं और काव्य की उत्तमता के निर्णय करने में कई प्रकार की कसौटियों से काम लेते हैं। उनका वर्णन स्वतन्त्र रूप से किया गया है।

उपर्युक्त उद्देश्य के अतिरिक्त और भी कई उद्देश्य हैं। उनमें कुछ लभ्य हैं और कुछ निन्ध्या और कुछ लोग 'अर्थकृते' समालोचनाएँ लिखते हैं।

अर्थकृते

जो कार्य कर्त्तव्य-बुद्धि से सम्पादित किया जाय यदि उससे कुछ अर्थ-लाभ हो जाय, तो कर्त्ता दोषी नहीं ठहराया जा सकता। कर्त्ता दोषी तभी ठहराया जाता है जब उसका उद्देश्य केवल अर्थ-लाभ होता है, और अपने उद्देश्य की पूर्ति में कर्त्तव्य का ध्यान नहीं रखता।

कुछ लोग यश के लिए ही समालोचनाएँ लिखते हैं उनमें से। कुछ

दूसरों के गुण-दोष निकालने से ही सहज में जनता का चित्त आकर्षित कर लेते हैं। यद्यपि कविता करना एक बात है और समालोचना लिखना दूसरी बात है तथापि कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि किसी महाकवि की कविता में दोष दिखा देने से लोग उनको उस कवि से अधिक काव्य-मर्मज्ञ समझने लग जायँगे। लेकिन वे लोग यह भूल जाते हैं कि जब तक जिस कवि के हम दोष निकालते हैं, उसकी-सी कविता स्वयं न कर लें, तब तक हम उस कवि की बराबरी या उससे बढ़ जाने का दावा नहीं कर सकते हैं, अस्तु।

यशसे

समालोचना लिखना ख्याति का साधन अवश्य है। जो लोग ऐसी समालोचनाएँ लिखते हैं, उनके नाम का बार-बार उल्लेख होने लगता है और इस कारण कभी-कभी वे लोग उस विषय के अधिकारी और ज्ञाता भी समझे जाने लगते हैं। ख्याति प्राप्त करने की सब लोगों में कमजोरी होती है। इसलिए समालोचना का यह उद्देश्य भी क्षम्य हो जाता है। किन्तु इसमें प्रश्न यही उठता है कि एक की ख्याति के लिए दूसरे का क्यों बलिदान किया जाय? ऐसी समालोचनाएँ यदि प्राचीन कवियों के सम्बन्ध में लिखी जायँ, तो विशेष हानि नहीं, क्योंकि कालिदास, सूर और तुलसी को कोई सहज में उनके उच्च आसन से डिगा नहीं सकता, और समालोचक की हौंस भी निकल जाती है। किन्तु किसी जीवित लेखक को अपनी ख्याति के उद्देश्य से जनता की दृष्टि से गिरा देना उसके प्रति अन्याय है। इसका यह भी मतलब नहीं कि पुराने कवियों की बेधड़क बुराई की जाय।

कुछ लोग समालोचनाएँ अपने दल या पक्ष को बढ़ाने और प्रतिद्वन्द्वी पक्ष को गिराने के अर्थ लिखते हैं। यदि कोई लेखक खड़ीबोली के पक्ष का है, तो वह ब्रजभाषा की पुस्तकों में अश्लीलता का दोष दिखाता है और इसके विपरीत यदि लेखक ब्रजभाषा के पक्ष में है तो प्रत्येक खड़ी बोली की पुस्तक में नीरसता, कर्ण-कटुता, छन्दोभङ्ग आदि दोषों को दिखलाने की फिक्र में रहता है। इसी प्रकार जहाँ धार्मिक दलबन्दियों का प्रश्न उपस्थित हो जाता है

दलीय भावना

वहाँ लोग प्रायः कोरे कथनों को वाग्जाल में लपेटकर आलोचना का रूप देने लग जाते हैं। ऐसी आलोचनाएँ प्रायः प्रभावोत्पादक होती हैं। वे लोग अपनी ही रुचि को प्रमाण मानते हैं। आलोचक को परीक्षा-बुद्धि से ही काम लेना चाहिए। महाकवि कालिदास के निम्नोल्लिखित वाक्य आज भी सत्य हैं—

"पुराणमित्येव न साधु सर्वं
नचापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्षान्तरद्भजन्ते
मूढ़ः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ॥"

जहाँ पर समालोचना में व्यक्तिगत ईर्ष्या-द्वेष का भाव आ जाता है, वहीं समालोचना का पतन होने लगता है। यदि मैं किसी ऐसे पद को नहीं प्राप्त कर सका, जिसे किसी दूसरे ने प्राप्त कर लिया हो, और ऐसी अवस्था में उस दूसरे की कृतियों में दोष दिखाने लग जाऊँ, तो मैं समालोचक के पद का दुरुपयोग करता हूँ। समालोचना का सबसे अधिक पतन तब होता है, जब समालोचना का विषय कवि की कृति न रहकर कवि या लेखक का व्यक्तित्व हो जाता है। सच्चा निर्णायक वही है, जो कर्त्ता की ओर ध्यान न रखकर कृति की ओर ध्यान देता है। चित्रकार की कुरूपता से उसकी कृति में कोई अन्तर नहीं पड़ता, लेकिन यह अवश्य है कि यदि चित्रकार भी सुन्दर हो, तो सोने में सुगन्ध की बात हो जाती है, जैसे गोस्वामी जी की कविता के अनुकूल ही उनका चरित्र भी था। यदि कोई मनुष्य धार्मिक या नीति सम्बन्धी ग्रन्थ लिखता है तो चरित्रवान होना उसका कर्त्तव्य हो जाता है।

स्वान्तः सुखाय

इसके अतिरिक्त कुछ लोग 'स्वान्तः सुखाय' के ऊँचे उद्देश्य से भी समालोचना करते हैं। समालोचना लिखने से जो ज्ञान-वृद्धि और रुचि का परिमार्जन होता है वही उनके लिए सब कुछ है। वे लोग स्वयं ही आनन्द नहीं लेते, वरन् दूसरों की रुचि को ठीक रास्ते पर लाने का भी श्रेय पाते हैं।

अच्छी समालोचना के लिए समालोचक को ऊँचे उद्देश्यों को ही लेकर प्रवृत्त होना चाहिए किन्तु समालोचक का ऊँचा उद्देश्य होते हुए भी वह अपनी अयोग्यता के कारण लेखक के प्रति अन्याय कर सकता है। इसलिए जब तक अपने कार्य में दक्षता न हो, समालोचक को किसी की समालोचना करने की अनधिकार चेष्टा नहीं करनी चाहिए।

आवश्यक गुण
अन्तर्दृष्टि

प्रथम गुण है **अन्तर्दृष्टि या पैठ** (Insight)। यह बहुत अंश में दैवी देन होती है। जिस प्रकार कविता के लिए शक्ति या प्रतिभा आवश्यक है, उसी प्रकार भावक या समालोचक होने के लिए पैंठ का होना जरूरी है। पैंठ वाला मनुष्य सहज ही कवि के अभिप्राय को ग्रहण कर सकता है। जिस प्रकार कवि मानव-जीवन की अन्धतम गुफाओं में प्रकाश डालकर 'जहाँ न जाय रवि तहाँ जाय कवि' की लोकोक्ति को सार्थक कर देता है, उसी प्रकार भावक या समालोचक कवि के अन्तस्तल में प्रवेश कर उसमें रखे हुए रत्नों को प्रकाश में लाता है। यह गुण यद्यपि दैवी देन के रूप में प्राप्त होता है, तथापि अध्ययन और सत्संग से भी थोड़ा-बहुत मिल सकता है। इस पैंठ के लिए प्रकृत संस्कारों के साथ अध्ययन और सत्संग से प्राप्त रसिकता आवश्यक है।

रसिक हुए बिना कविता का रसास्वाद होना कठिन ही नहीं असम्भव है। इसीलिए तो कहा है कि **'अरसिकेषु कवित्तनिवेदनं शिरसि मा लिख, मा लिख, मा लिख।'**

रसिकता का अर्थ है भाव-तन्मय हो जाने की शक्ति। यह भाव-तन्मयता इतनी तो न चाहिए कि वह कविता के दोषों को न देख सके, किन्तु इसको इतनी मात्रा में अवश्य होना चाहिए कि पाठक और लेखक का भाव-तादात्म्य हो सके, सूर और तुलसी की आलोचना के लिए नितान्त जड़ और प्रत्यक्षवादी होने से काम न चलेगा; समालोचक को रसिक होना आवश्यक है।

दूसरा गुण है **सहानुभूति**। इस गुण की प्राप्ति के लिए सहृदयता की

आवश्यकता है । यदि भावक सहृदय दृष्टि से किसी रचना को देखता है, तो उसके मर्म को वह सहज में समझ सकता है, किन्तु जो लोग छिद्रान्वेषण को ही कर्त्तव्य समझते हैं, उनको छिद्र तो अवश्य मिल जाते हैं, किन्तु वे रत्नों के स्थान में शून्यता को अपनाते हैं । सुधार के लिए छिद्रान्वेषण बुरा नहीं, किन्तु गुणों को छोड़ देना लेखक को निरुत्साहित कर देना है और उसके द्वारा भविष्य में होने वाली साहित्य-सेवा में बाधक बनना है । इसीलिए कुछ भावक लोग गुणों की ही खोज करते हैं दोषों की नहीं, देखिए—

सहानुभूति

"गुणदोषौ बुधो गृह्णन् इन्दुक्ष्वेडाविवेश्वरः ।
शिरसा श्लाघते पूर्वं परं कण्ठे नियच्छति ॥"

अर्थात् शिवजी की भाँति बुधजन गुण और अवगुण दोनों को ग्रहण करते हैं किन्तु चन्द्रमा की भाँति गुणों को शिर पर रख प्रकाशित करते हैं और दोषों को विष की भाँति गले के भीतर ही रखते हैं। दोषों को दबाना तो उचित नहीं, किन्तु उनको उसी अनुपात में रखना चाहिए, जिसमें वे पुस्तक में हों। दोषों को बढ़ाकर लिखना और गुणों को दबा रखना लेखक के साथ अन्याय है । यदि पुस्तक में दोषों का अनुपात अधिक है, तो उनको उसी अनुपात में रख देना चाहिए । संसार में ऐसे लोगों की भी कमी नहीं है जो जोंक की भाँति केवल दोषों को ही ग्रहण करते हैं । ऐसे लोग जलौकावृत्ति के कहलाते हैं ।

"दोषहि को उमहे गहे, गुन न गहें खल लोक ।
पियै रुधिर पय ना पियै, लगी पयोधर जोक ॥"

तीसरा गुण है बहुज्ञता । यह समालोचक के लिए अत्यन्त वाञ्छनीय है । जिसको साहित्यशास्त्र का ज्ञान होता है वह कवि के अभिप्राय को भली भाँति समझ सकता है । वह साहित्य के संकेतों, रूढ़ियों और कवि समयों को भली भाँति जानता है । वह जान लेता है कि कवि कहाँ पर परम्परा का अनुकरण कर रहा है । वह यदि उसमें दोष देखता है तो कवि के व्यक्तित्व का नहीं, वरन् उस परम्परा का जिसका उसने अनुकरण किया

है। वह सब शृङ्गारी कवियों के चरित्र पर लाञ्छन लगाने के लिए पर्युत्सुक न होगा। वह कवि के समझने में भूल न करेगा। दूसरे के रत्नों का मूल्याङ्कन करने के लिए कुछ घर की भी पूँजी आवश्यक होती है। पुरातत्ववेत्ता ही खण्डहरों में ऐतिहासिक महत्त्व की चीजें खोज सकते हैं। रत्न की परीक्षा राजा कर सकता है अथवा जौहरी, घसियारा नहीं। बन्दर क्या जाने अदरक का स्वाद। रचना का मूल्य पण्डित ही आँक सकता है।

"विद्वानेव विजानाति विद्वज्जनपरिश्रमम्।"

बहुज्ञ समालोचक किसी कवि या लेखक की कृति पर विचार करते हुए यह भी जान लेगा कि उसने कहाँ तक परम्परा का अनुकरण किया है और कहाँ तक किसी विशेष कवि की विशेष बात की चोरी की है। जो बातें साहित्य संसार की सम्पत्ति हैं उनका लिखना चाहे चमत्कार का अभाव समझ लिया जाय किन्तु चोरी नहीं कहला सकती। वायु की कोई चोरी नहीं करता, निजी सम्पत्ति की ही चोरी होती है।

बहुज्ञ समालोचक न तो किसी कवि से सहज में प्रभावित होगा और न वह सहज में ही किसी को चोर ही कह सकेगा। बहुज्ञ समालोचक छिपे हुए रत्नों को खोज निकालेगा, उत्तम रत्नों पर मुग्ध हो जायगा, किन्तु वह साधारण रत्नों की प्रभा से प्रभावित नहीं होगा। जिसने बहुत नहीं पढ़ा है वह साधारण से साधारण बात को अनूठी कहने को तैयार हो जायगा। समालोचक की बहुज्ञता असराहनशीलता (Nil admirari) अर्थात् किसी की प्रशंसा न करने की मनोवृत्ति में परिवर्तित न हो जाना चाहिए। आलोचक को उस सम्बन्ध में बहुत संतुलित रहना वाञ्छनीय है। आलोचक जहाँ तक हो स्रष्टा न हो, नहीं तो वह अपनी कृति के आगे अन्य की कृति को महत्त्व नहीं देगा। समालोचक के लिए बहुज्ञता के अतिरिक्त विशेषज्ञता की भी आवश्यकता है। प्रत्येक समालोचक प्रत्येक कृति की समालोचना नहीं कर सकता। अर्थशास्त्र सम्बन्धी पुस्तक की समालोचना करने के लिए समालोचक को उस विषय का ज्ञाता होना चाहिए।

बहुज्ञता और विशेषता के साथ समालोचक के लिए औचित्य का ज्ञान

भी वांछनीय है। औचित्य के अभाव को ही रसभङ्ग का कारण बतलाया गया है। अनौचित्य के कारण ही रसाभास की उत्पत्ति होती है। औचित्य के दो रूप होते हैं एक नैतिक, दूसरा कलात्मक। नैतिक औचित्य का सम्बन्ध प्रायः विषय से होता है। उसमें लोक-हित पात्रता, व्यवहारिकता आदि का ध्यान रखना पड़ता है। कला सम्बन्धी औचित्य के सम्बन्ध में शब्द-चयन आदि के अतिरिक्त समालोचक को गति (Movement), अनुपात (Proportion), और अन्विति (Unity) की जाँच करने का अभ्यास होना आवश्यक है, जिससे वह यह कह सके कि अमुक स्थान में शैथिल्य आ गया है, अथवा अमुक स्थान में आवश्यक बात के लिए कम स्थान दिया है, और अनाश्यक बात को अनावश्यक विस्तार दे दिया गया है। अन्विति संगति के निर्वाह का गुण तो सभी रचनाओं में होना चाहिए। विवेचनात्मक ग्रन्थों के लिए तो समालोचक को तर्कशास्त्र का ज्ञान होना आवश्यक है। काव्य के समालोचक को काव्य के नियम तथा गुण-दोषों और परिभाषिक शब्दों का ज्ञान होना अनिवार्य तो नहीं किन्तु यदि हो तो श्रेयस्कर है। किसी कृति द्वारा समाज के हिताहित के जाँचने की शक्ति भी बहुज्ञता का एक अङ्ग है।

औचित्य

पाँचवाँ गुण है **धैर्य और निष्पक्षता की वैज्ञानिक मनोवृत्ति**। यह समालोचक के लिए अत्यन्त आवश्यक है। उसके लिए समालोचक को वैज्ञानिक और दार्शनिक की मनोवृत्ति रखनी चाहिए। वैज्ञानिक हमेशा यह देखता है कि वह अपने उत्साह में भूल तो नहीं कर रहा है। वह अपनी निजी रुचि का बिल्कुल निराकरण कर देता है। वह अपने पक्ष के विपरीत उदाहरणों को उसी तत्परता से देखता है जिससे अनुकूल उदाहरणों को। समालोचक को न्यायाधीश की भाँति पक्षपातरहित होना चाहिए। समालोचक को वकील बनने की आवश्यकता नहीं। यदि वकालत भी करे तो अपनी वकालत न करे। लेखक की वकालत करने में इतना दोष नहीं।

धैर्य और निष्पक्षता

समालोचक के लिए दलबन्दी तथा व्यक्तिगत राग-द्वेष के भावों को अपने से दूर रखना वाञ्छनीय है।

उसको मेंढक की भाँति न होना चाहिए जो अपनी रुचि और कीचड़ के साथ सम्बन्ध के कारण चन्दन और कीचड़ के झगड़े में कीचड़ को चन्दन की अपेक्षा श्रेष्ठ बतला देता है—

"चन्दनकर्दमकलहे मण्डूको मध्यस्थो कृतः।
ब्रूते पङ्कनिमग्नः कर्दमसमतां न चन्दनो याति॥"

समालोचक का छठा गुण है प्रभावोत्पादक अभिव्यक्ति समालोचक स्वयं एक प्रकार का स्रष्टा और कलाकार होता है। वह कृति का स्वयं ही अध्ययन नहीं करता वरन् दूसरों को भी अध्ययन कराता है। कवि के हृदयगत रस को दूसरे के आस्वाद का विषय बनाना सहज कार्य नहीं। अपने हृदय के रस को दूसरे तक पहुँचाना ही तो कला है किन्तु दूसरे के हृदय के रस को तीसरे तक पहुँचाना और भी ऊँचे दर्जे की कला है।

प्रभावोत्पादक अभिवृत्ति

समालोचक का सबसे पहला उत्तरदायित्व पाठक के प्रति है। आजकल बहुत सी रोक-थाम होने पर भी अवांच्छनीय साहित्य निकल जाता है। बहुत से लेखक और प्रकाशक आकर्षक नाम देकर लोगों को ठगने की कोशिश करते हैं। कभी-कभी पुस्तक का आवश्यकता से अधिक मूल्य रख दिया जाता है, और छोटी-छोटी किताबों के साथ बड़े-बड़े सूचीपत्र रखकर वी० पी० पैकिट का आकार बढ़ा दिया जाता है। ऐसे लेखकों और प्रकाशकों की जितनी जल्दी कलई खोल दी जाय उतना अच्छा है। जिस प्रकार राजा लोग अपने चरों अर्थात् गुप्त दूतों की दृष्टि से देखते हैं उसी प्रकार पाठक पुस्तकों को समालोचकों की दृष्टि से परखते हैं। समालोचक भोले-भाले पाठकों को जिधर चाहें उधर ले जा सकते हैं। जनता की रुचि-निर्माण करना समालोचकों के हाथ में है। इस रुचि-निर्माण का कार्य समालोचकों को बड़ी सावधानी से करना चाहिए। जनता की रुचि अच्छे

समालोचक का उत्तरदायित्व

साहित्य की ओर आकर्षित कर समालोचक साहित्य का ही उपकार नहीं करते, वरन् देश-सुधार में भी सुधारकों का हाथ बँटाते हैं।

समालोचकगण जनता के शिक्षक हैं। वे नई रचनाओं के समझने में सहायक होते हैं। समालोचकों के अभाव में अच्छे-से-अच्छा साहित्य जनता तक नहीं पहुँचने पाता। समालोचकगण नई रचना के तत्त्व को अवगत करा सकते हैं। आजकल इतना साहित्य निकल रहा है कि यदि मनुष्य उसको ही पढ़ता रहे, तो प्राचीन काल के कर्मनिष्ठ ब्राह्मण की भाँति उसे संसार का कोई काम न रह जायगा। ऐसी अवस्था में समालोचकों का उत्तरदायित्व और भी बढ़ जाता है। उसका यह कर्तव्य हो जाता है कि वह पाठकों को पुस्तकों के चयन में सहायता दे। समय-समय पर वह पाठकों को नई पुस्तकों में आई हुई नवीन विचारधाराओं से भी परिचित करा दे, जिससे पाठकगण समय की गति को जानते हुए अपने ज्ञान को अद्यतन (अपटूडेट) बनाये रखें। अच्छे लेखक को समालोचना से डरना नहीं चाहिए क्योंकि आलोचना के बाद भी मूल पुस्तक में बहुत कुछ मूल्यवान वस्तु रह जाती है।

समालोचक का जितना उत्तरदायित्व पाठक के प्रति है करीब-करीब उतना ही लेखक के प्रति भी है। सत्कवि के गुणों के सम्बन्ध में मौन रहना समालोचक के लिए उतना ही पाप है जितना कि कुकवि की सराहना। वास्तव में लेखक अधिकारी आलोचक के लिए ही लिखता है और यदि आलोचक मौन रहे तो लेखक को बहुत अखरता है।

"सुकविन के हिय माहिं नित, सालत है द्वै नौन।
मूरख केरि सराहिबो, पंडित जन को मौन॥"

यद्यपि आलोचक का मौन अखरने वाली वस्तु है तथापि आलोचक को मौन भंग करने से पूर्व अपनी बात को भली प्रकार तोल लेना चाहिए। समालोचक जो बात कहे उसे अच्छी तरह विचार ले। असावधानी से की हुई समालोचनाओं द्वारा लेखकों की बहुत हानि होती है।

समालोचकों को पाठकों के समय और धन का खयाल रखते हुए लेखक

के परिश्रम का भी खयाल रखना चाहिए। इसलिए कुछ लोगों का मत है कि यदि स्वयं लेखक वृत्ति को अपनाने वाले समालोचक में यह दोष न आ जाय कि 'हम चुना दीगरे नेस्त' अर्थात् मेरी-सी रचना कोई कर ही नहीं सकता तो समालोचक का लेखक होना परम वांछनीय है क्योंकि बाँझ प्रसव की पीड़ा को नहीं जान सकती।

"जाके पाँव न फटी बिवाई। सो का जाने पीर पराई॥"

समालोचक को कुछ उत्तरदायित्व अपने वर्ग के प्रति भी है। जो बड़े महत्त्व का है। समालोचक को यह भी ध्यान रखना चाहिए कि वह समाज में समालोचना का बुरा आदर्श तो नहीं उपस्थित कर रहा है, जिससे अन्य समालोचक अपने कर्त्तव्य से गिर जायँ। समालोचकों को अपने पेशे का गौरव रखना चाहिए। किसी को अनावश्यक ही गिरा देना अथवा किसी को आसमान पर चढ़ा देना समालोचक के गौरव के विरुद्ध है। जो समालोचक किसी की भलाई-बुराई करने में संयम नहीं रख सकते वे अपने वर्ग की बदनामी करते हैं; समालोचक पाठकों के उपनेत्र हैं और लेखकों के लिए दीपक हैं। वास्तव में समालोचकगण ही सच्चे 'प्रकाशक' हैं। लेखकों की शोभा समालोचकों से ही है। आचार्य राजशेखर ने तो कहा है कि भावक कवि का स्वामी, मित्र, मंत्री, शिष्य और आचार्य सब कुछ हो सकता है। देखिए—

"स्वामी मित्रं च मंत्री च शिष्यश्चाचार्य एव च;
कवेर्भवति हि चित्रं किं हि तद्यन्न भावकः।"

४

भारतीय आलोचना-पद्धति

भारत में काव्य-शास्त्र की परम्परा बहुत प्राचीन है और लोक-रुचि पर आश्रित आलोचना का जन्म तो काव्य-शास्त्र से भी पूर्व हुआ होगा।

प्रारम्भिक रूप

हमको भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र से पता चलता है कि नाटकों की सिद्धियों (सफलताओं) का अनुमान निर्णायक लोग दर्शकों के हर्षोल्लास, हँसने, साधुवाद आदि से लगाया करते थे। इसी आधार पर वे लोग राजा से अभिनेताओं को पताका-प्रदान की सिफारिश किया करते थे। यह एक प्रकार की प्रभाववादी (Impressionist) आलोचना होती थी; किन्तु सामूहिक होने से उसका मूल्य बढ़ जाता था। भरत मुनि का उद्धरण देखिए :

"स्मितार्धहासातिहासा साध्वहो कष्टमेव वा।
प्रवृद्धनादा च तथा ज्ञेया सिद्धिस्तु वाङ्मयी ॥"

अर्थात् जहाँ मुस्कराहट, आधा हास्य या अति हास्य, साधु-साधु (अंग्रेजी के हीयर-हीयर का पर्याय तो क्या उससे कुछ अच्छा शब्द है), कष्ट या ऊँची आवाज से लोग देर तक चिल्लायें वहाँ शाब्दिक सफलता या असफलता समझनी चाहिए।

यह तो आलोचना का सबसे प्रारम्भिक रूप है। प्रायः सभी देशों में ऐसा रहा होगा। फिर लोक-रुचि को ही नियम-बद्ध करके काव्य-शास्त्र बना होगा। हमारे यहाँ आलोचक लोग भावक कहलाते थे, और इसी आधार पर प्रतिभा के दो रूप किये गये थे—कारयित्री और भावयित्री।

कवि और भावक

कवि या कलाकार की प्रतिभा को कारयित्री प्रतिभा कहते हैं और भावक या आलोचक की प्रतिभा को भावयित्री कहते हैं। उसकी व्याख्या करते हुए आचार्य राजशेखर

कहते हैं—

"सा च कवेः श्रममभिप्रायं च भावयति। ततः खलु फलितः कवेर्व्यापारतरुः अन्यथा सोऽवकेशी स्यात्।"

अर्थात् "वह कवि के श्रम और अभिप्राय या उद्देश्य को प्रकाश में लाती है, उसके द्वारा कवि-व्यापार का वृक्ष फलता है, नहीं तो वह निष्फल रहता है।" इससे प्रतीत होता है कि भावक का कार्य गुण-दोष-विवेचन ही नहीं वरन् उसके व्यापार को फलवान बनाना था, अर्थात् उसकी व्याख्या करना भी था।

इसलिए भावक कवि का स्वामी, मित्र, मन्त्री, शिष्य, आचार्य सब-कुछ होता था।

"स्वामी मित्रं च मन्त्री च शिष्यश्चाचार्य एव च।
कवेर्भवति हि चित्रं किं हि तद्यन्न भावकः॥"

इससे यह प्रतीत होता है कि उस समय में भावक लोग कवि के कार्य को गति-विधि भी देते थे, तभी तो उनको आचार्य भी कहा है।

हमारे यहाँ कवि और भावक की प्रतिभा अलग-अलग मानी है। 'एक सूते कनकमुपलः स्यात्परीक्षाक्षमोऽन्यः' एक पत्थर सोने को उत्पन्न करता है, दूसरा उसकी परीक्षा करने में समर्थ होता है। वास्तव में कवि के कार्य की पूर्णता भावक में ही मानी है। 'उपजहिं अनत, अनत छवि लहहीं' कवि की कृति की छवि भावक के मन में ही निखार में आती है।

पृथक् प्रतिभाएँ

(१) विशेषताएँ बतलाने वाली सूक्तियों के रूप में जैसे—

"उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥"

"भासो हासः कविकुल गुरु कालिदासो विलासः"

'उपमा को बलवीर'

"सतसइया के दोहरे ज्यों नाविक के तीर।
देखन को छोटे लगें घाव करें गम्भीर॥"

किन्हीं सूक्तियों में कवियों को श्रेणी-बद्ध किया जाता था, जैसे—

"सूर सूर तुलसी ससी उडुगन केसवदास।
अब के कवि खद्योत सम जहँ-तहँ करत प्रकास॥"

(२) भारतीय पद्धति में गुण-दोष-विवेचन में बहुत-सी कृतियों की आलोचना हो जाती थी। उसमें पूरी कृतियों की आलोचना तो नहीं होती थी, किन्तु विशेष-विशेष स्थलों की आलोचना हो जाती थी। यह नियमों के आधार पर होने के कारण वह अंग्रेजी के Judicial criticism के निकट आ जाती थी।

गुण-दोष-विवेचन पद्धति

(क) दोषों के निरूपण के मिष आलोचना 'अकाण्डे छेदो यथा वीर चरिते द्वितीयेऽङ्के राघवभार्गवयो धाराधिरूढे वीर रसे कङ्कण मोचनाय गच्छामि इति राघवस्योक्तौ।' अकाण्ड छेदन अर्थात् अवसर के बीच में प्रसंग को अनुचित रूप से बदल देना, जैसे भवभूति के महावीर चरित के द्वितीय अङ्क में जब कि रामचन्द्र जी और परशुराम जी की बातें वीर रस-सम्बन्धी हो रही थीं, तब एक साथ बीच में राम से यह कहलाना कि मैं भीतर कङ्कण खुलवाने जाता हूँ, दोष माना जायगा।

(ख) 'अङ्गिनोऽननुसंधानम् यथा रत्नावल्यां चतुर्थेऽङ्के बाभ्रव्यागमने सागरिकायाविस्मृति।'

अर्थात् अङ्गी या मुख्य पात्र को भूल जाना, जैसे रत्नावली के दूसरे अङ्क में बाभ्रव्य नाम के दूत के आगमन पर राजा का सागरिका (रत्नावली) को भूल जाना।

(ग) विभाव की कष्ट कल्पना का उदाहरण:

"परिहरति रतिं मतिं लुनीते स्खलति भृशं परिवर्तते च भूयः
इतिवत विषमा दशाऽस्यदेहं परिभवति प्रसभं किमत्र कुर्मः॥"

अर्थात् अरे इस नायिका के शरीर की विषम दशा हो गई है—सांसारिक पदार्थों की ओर उसकी रुचि नहीं है, उसकी बुद्धि लुप्त हो रही है, वह बार-बार भूल करती है अब हम क्या करें? यहाँ पर रुचि का छूट

जाना आदि अनुभाव करुण रस के भी हो सकते हैं, इसलिए इन अनुभावों के साथ यह मुश्किल से कल्पना की जा सकती है कि यह बात किसी कामिनी के सम्बन्ध में कही गई है, यह दोष है।

गुणों के उदाहरण—

अर्थालङ्कार जहाँ रस के सहायक होते हैं—

"मनोरागस्तीव्रं विषमिव विसर्पत्यविरतम्
प्रमाथी निर्धूमं ज्वलति विधुतः पावक इव।
हिनस्ति प्रत्यङ्गं ज्वर इव गरीयानित इतो
न मां त्रातुं तातः प्रभवति न चाम्बा न भवति॥"

'मालती माधव' के द्वितीयाङ्क में मालविका अपनी सखी लवंगिका से कहती है—तीव्र मनोराग निरन्तर विष की भाँति शरीर में व्याप्त होता जा रहा है। यह बड़ा प्रबल है और धुएँ से हीन अग्नि के समान जलता है और कठिन सन्निपात के ज्वार की भाँति प्रत्येक अङ्ग में पीड़ा देता है। मुझे इस पीड़ा से बचाने में न तो मेरी माता, न मेरे पिता और न तुम ही समर्थ हो सकती हो। यहाँ मालोपमा अलङ्कार विप्रलम्भ शृङ्गार को बल दे रहा है, यह गुण है।

इस प्रकार के आलोचनात्मक उदाहरणों से 'काव्य प्रकाश' के सातवें और आठवें उल्लास भरे हुए हैं। उनमें से शाकुन्तला, महावीर-चरित, मालती माधव, रघुवंश, किरातार्जुनीय, हनुमन्नाटक आदि ग्रन्थों के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध श्लोकों के गुण-दोष बतलाये गये हैं।

(२) टीकाओं की काव्यात्मक आलोचनाएँ।

प्राचीन काल की टीकाएँ केवल अर्थबोध ही नहीं करती थीं वरन् वे रचना का काव्य-सौष्ठव दिखाने और उनके आन्तरिक भाव को स्पष्ट करने में भी सहायक होती थीं, जैसे श्रीमद्भागवत की सुबोधिनी टीका। भाष्य भी यही कार्य करते थे। भाष्य अधिकतर दार्शनिक और व्याकरण ग्रन्थों पर लिखे गये हैं। वेदान्त सूत्रों का शाङ्कर भाष्य तो एक स्वतन्त्र ग्रन्थ-सा बन गया, उसमें सभी मतों का खण्डन-मण्डन है। शाङ्कर मत की आलोचना

रामानुजाचार्य के श्रीभाष्य में हुई है। साहित्यिक ग्रन्थों की प्रायः प्रसिद्ध टीकाएँ ही मिलती हैं, जैसे रघुवंश और किरातार्जुनीय पर मल्लिनाथ की टीका।

हिन्दी में भी टीकाएँ लिखी गई हैं और कुछ टीकाओं में दोहों का भाव कुण्डलियों में बढ़ाकर लिखा गया है। बिहारी की सरदार कवि की टीका इसी प्रकार की है। भारतेन्दु बाबू ने भी ऐसी टीका लिखी है। देखिए—

"तजि तीरथ हरि-राधिका-तन-दुतिकर अनुराग।
जिहि ब्रज-केलि-निकुञ्ज-मग पग-पग होत प्रयाग॥"

यह तो है बिहारी का दोहा। अब इसकी व्याख्या देखिए—

"पग-पग होत प्रयाग सरस्वति पव की छाया।
नभ की आभा गंग छाँह सम दिनकर जाया॥
छन छबि लखि 'हरिचन्द' कलप कोटिन लव सम।
भजु मकरध्वज मनमोहन मोहत तीरथ तजि॥"

इसमें व्याख्या कर दी गई कि किस प्रकार 'पग-पग होत प्रयाग'।

(४) कथावाचकों की आलोचनाएँ—

रामायण, विनय-पत्रिका आदि की टीकाओं में और ग्रन्थों के समान भाव भी दिये गये हैं। उनमें तुलनात्मक आलोचना भी हो जाती थी और पारस्परिक संगति भी बिठा दी जाती थी। कथावाचक लोग एक-एक शब्द की व्याख्या में भिन्न-भिन्न प्रसङ्गों में आये हुए उस शब्द का उल्लेख कर देते हैं और बहुत सी चौपाइयों के संस्कृत-ग्रन्थों से उनके स्रोत भी खोजकर बतलाते हैं।

(५) सम मूल्याङ्कन सम्बन्धी आलोचना के व्यावहारिक उदाहरण तो कम मिलते हैं किन्तु उसकी सिद्धान्त रूप से स्वीकृति अवश्य मिलती है, जैसे।

मूल्याङ्कन सम्बन्धी

"कीरति भनित भूति भलि सोई।
सुर सम सब कहँ हित होई॥"

सारांश यह है कि भारतीय समीक्षा का झुकाव शास्त्रीय आलोचना की ओर अधिक रहा है, किन्तु और प्रकार की आलोचनाओं का अभाव नहीं रहा है। शास्त्रीय आलोचना में रस, अलङ्कार, रीति, वृत्ति आदि का विवेचन होता है। इस प्रकार की कुछ आलोचनाएँ आजकल भी हुई हैं। श्री कृष्णबिहारी मिश्र द्वारा सम्पादित 'मतिराम-ग्रन्थावली' की भूमिका से एक छन्द की आलोचना उदाहरणार्थ यहाँ दी जाती है :

शास्त्रीय आलोचना

"बसत तरंगिनी मे तीर ही तरल आय
ग्रस्यो ग्राह पाँव, खैंचि पानी बीच तरज्यो।
करनी कलभ करें कलपना कूल ठाड़े,
कहा भयो कहा, करुना के संग लरज्यो॥
कठिन समय बिचारि साहब सों गयो हारि,
हठि पग ध्यान रघुनाथ ज्यों ही सरज्यो।
असरन-सरन विरद को परज देख्यो,
पहले गरज भई, पीछे गज गरज्यो॥"

अलंकार—कुल छन्द में मुख्य अलंकार चंचलातिशयोक्ति है। जिस प्रकार सत्कवि के काव्य में बिना उद्योग के भी और बहुत-से अलंकार आ जाते हैं वही बात मतिराम के इस छन्द में हुई है।

गुण—प्रसाद गुण मुख्य है। परन्तु कहीं-कहीं (जैसे द्वितीय पद में) ओज गुण के भी सूचक पद हैं।

वृत्ति—उपर्युक्त पद्य में मधुरा और परुषा वृत्ति का मिश्रण है। इस कारण यह प्रौढ़ा वृत्ति है। इसी का नाम सात्वती वृत्ति भी है।

रस—इस छन्द में पराए दुःख को दूर करने का जो उत्साह है वह स्थायी भाव है। इसका आलम्बन विभाव दुःखार्त्त गजराज है। गजराज की दीनता-भरी पुकार उद्दीपन विभाव है ''स्थायी भाव उत्साह है इसलिए यह वीर रस का दया-वीर रस नामक रूपान्तर है।

काव्य—कुछ छन्द में वाच्य की तह से जो अर्थ लिखा है वही प्रधान होने से यह लक्षणामूलक मध्यम काव्य है।" —'आलोचना' से

५

मनोविश्लेषण और आलोचना

आलोचना की पद्धति विकासशील है। अब कवि की कृति का ही विश्लेषण नहीं किया जाता है, वरन् उसके कर्ता के मन का भी विश्लेषण किया जाता है, सो भी केवल ऊपरी मन का नहीं वरन् उसकी भीतरी तहों तक पहुँचने का प्रयत्न किया जाता है। यह प्रयत्न किस लिए? यह इस लिए कि कवि की कृति में उसके आत्मभाव या स्वरूपता (Personality) की झलक होती है। 'आत्मा वै जायते पुत्रः' कवि की कृति द्वारा हम कवि के मन की झाँकी पाते हैं और कवि के मन की झाँकी द्वारा उसकी कृति को भली प्रकार समझ सकते हैं। साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन दो प्रकार से होता है। एक साहित्य-सृष्टि में बसने वाले पात्रों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, जैसे सूर के बालकृष्ण का अध्ययन, भरत की आत्मग्लानि का अध्ययन और प्रेमचन्दजी के ज्ञानशङ्कर या और किसी पात्र का अध्ययन; दूसरे स्वयं कवि का अध्ययन। स्वयं कवि के अध्ययन से आलोचना को यह लाभ होता है कि आलोचना संकुचित नहीं रहती। हम कवि को बँधे-बँधाये मानदण्डों के अनुसार दोषी नहीं ठहराते। वह एक प्रकार की कविता करता है या दूसरी प्रकार की कविता करता है और इस प्रकार वह अच्छा या बुरा है, ऐसा निर्णय हम सहसा नहीं देते। हम उसके मन के अन्तस्तल में प्रवेश करके यह जान लेते हैं कि वह अपनी पारिवारिक, सामाजिक और वैयक्तिक स्थिति में ऐसी ही कविता कर सकता था। मनोविश्लेषण आलोचना को वैज्ञानिक स्थिति पर ले आता है। वह कवि, उसकी सामाजिक और पारिवारिक स्थिति में और उसकी कृति में एक कार्य-कारण शृङ्खला स्थापित कर देता है।

स्वरूपता की झलक

आलोचना को मनोविश्लेषण की देन समझने से पूर्व हमको मनोविश्लेषण का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है। मनोविश्लेषण की सबसे बड़ी देन है अवचेतन (Subconscious) मन का प्रतिपादन। वह चेतन से अवचेतनपन को विशेष महत्त्व देता है। चेतन मन की वासनाएँ सामाजिक औचित्य-निरीक्षक (Censor) की रोक-थाम के कारण दमित हो जाती हैं किन्तु वे चेतन मन को प्रभावित करती रहती हैं। वे स्वप्न, (जैसे, महत्वाकांक्षा के लिए सीढ़ी किसी के मरने की इच्छा पूरी करने के लिए तख्तों को जो कफन के बक्स के द्योतक हैं, नई पोशाक को नये पति की कामना-पूर्ति के अर्थ देखना) भूल, हँसी-मजाक और कलाकृतियों में वेश बदलकर प्रतीकात्मक रूपों में प्रकट हो जाती हैं। कभी-कभी ये कल्पनाओं और दिवा स्वप्नों का रूप धारण कर लेती हैं और कभी ये इतनी प्रबल हो जाती हैं कि मानसिक विकृतियाँ उत्पन्न कर देती हैं और तर्क और सामाजिक नियन्त्रण का बाँध तोड़कर अनर्गल प्रलाप का रूप धारण कर लेती हैं। इन सब वासनाओं में यौन वासनाएँ बड़ी प्रबल हैं। उनका पूर्वरूप बचपन में भी थपथपाने, अँगूठा चूसने आदि में मौजूद रहता है। फ्रायड के मत से दमित यौन वासनाएँ ही हमारे चेतन जीवन को प्रभावित करती रहती हैं। यौन वासना को इतना महत्त्व देने में और सब लोग फ्रायड के साथ सहमत नहीं हैं। फ्रायड ने आत्मा की तीन श्रेणियाँ मानी हैं, वैयक्तिक आत्मा (Ego), परात्मा (Super Ego) और तदात्मा (Id)। वैयक्तिक आत्मा का सम्बन्ध हमारी चेतनात्मा से है। उसमें आकार, तर्क, संगति का प्राधान्य रहता है। परात्मा का सम्बन्ध नैतिक, मान और औचित्य से है। औचित्य-निरीक्षक भी इसी का सहारा लेता है। तदात्मा का सम्बन्ध हमारी सहज वृत्तियों, सामान्य भावनाओं और दमित वासनाओं से है जो हमारे कार्यों को प्रेरक शक्ति प्रदान करती हैं।

फ्रायड का मत

मनोविश्लेषणशास्त्र के दो और आचार्य हैं—एडलर और जुंग। एडलर

एडलर और जुंग

ने हीनता-ग्रन्थि (Inferiority Complex) को महत्त्व दिया है। वे पारिवारिक स्थिति के कारण बनी हुई हीनता-ग्रन्थियों को मूल प्रेरक कारण मानते हैं। हीनता-ग्रन्थि क्षति-पूर्ति के नियम के अनुसार मनुष्य में उच्च भावना-ग्रन्थि (Superiority Complex) बन जाती है। जुंग ने मनुष्यों को दो वर्गों में विभाजित किया है—अन्तर्मुखी (Introvert) और वहिर्मुखी (Extrovert)। अन्तर्मुखी प्रायः भावुक लोग होते हैं जो अपने ही में लीन रहते हैं। वे बाहरी जगत् की कम परवाह करते हैं और वहिर्मुखी वे होते हैं जो अपने को वाह्य संसार के अर्थ समर्पित कर देते हैं। वे स्व की अपेक्षा पर का अधिक ध्यान रखते हैं। ये दो प्रकार की मनोवृत्तियाँ अन्योन्य वहिष्कारक (Mutually Exclusive) नहीं होती हैं। वास्तविक जीवन में इन दोनों का मिश्रण रहता है। इनकी श्रेणियाँ भी बहुत-सी होती हैं। जुंग ने इन दोनों वृत्तियों का समन्वय करने वाली एक मूल वृत्ति भी मानी, इसको उसने Phantasy अर्थात् स्वच्छन्द कल्पना कहा है उसमें शाश्वत रचनात्मक क्रिया का प्रसार रहता है। उससे सब विरोधों और प्रश्नों का शमन हो जाता है। उसमें अन्तर और बाह्य एक सजीव एकता में मिल जाते हैं। वह सब सम्भावनाओं की माता है—

It is the creative activity whence issue the solutions to all unanswerable questions; it is the mother of all possibilities in which the inner and outer worlds like all Psychological anti-thesis are joined in living union.

Yung-psychological Types.

जुंग ने इस स्वच्छन्द कल्पना के दो रूप बताये हैं। एक सक्रिय और दूसरा निष्क्रिय। निष्क्रिय स्वच्छन्द कल्पना अनियन्त्रित रहती है और वह प्रायः स्नायुविक दोष वाले लोगों में ही होती है। कवि या कलाकार अपनी स्वच्छन्द कल्पना को ऐसी मोड़ दे देता है कि उसमें निर्वैयक्तिता आ जाती है

और वह सार्वजनिक हित की बन जाती है।

मनोविश्लेषण के सभी सम्प्रदाय प्रतिभा और काव्यावेश (Inspiration) की व्याख्या करते हैं। फ्रायड का मत है कि नई नई कल्पनाएँ कवि को तदात्मा (Id) के भण्डार में मिलती हैं जहाँ दमित वासनाएँ अनियन्त्रित रूप में रहती हैं और जहाँ उनको सहज वृत्तियों की शक्ति का भी सम्पर्क मिलता रहता है। वैयक्तिक चेतनात्मा (Ego) उनमें नियम और व्यवस्था उत्पन्न कर देती है और परात्मा (Super Ego) उनमें नैतिकता, आदर्शवादिता और निर्वैयक्तिकता उत्पन्न कर देती है। कवि की सफलता वैयक्तिक को निर्वैयक्तिक बनाने में है तभी दूसरे लोग उसमें रुचि ले सकते हैं। यही हमारे यहाँ के साधारणीकरण का सिद्धान्त है। कभी-कभी यह निर्वैयक्तिकता इतनी बढ़ जाती है कि मनोविश्लेषणशास्त्री भी धोखा खा जाते हैं। कवि और पाठक की दमित वासनाओं की (हम भारतीय भाषा में प्राक्तन और अर्वाचीन संस्कार कहेंगे) जब मेल खा जाते हैं तभी रस की सृष्टि होती है। हमारे यहाँ स्थायी भावों के संस्कार पाठक में भी माने गये हैं और उन पर विशेष बल दिया गया है। प्राक्तन संस्कारों और भूली हुई या दबी हुई स्मृतियों का उल्लेख शकुन्तला में भी हुआ है—

प्रतिभा की व्याख्या

"रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्,
पर्युत्सुकी भवति यदि सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं,
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥" ५।२॥

अर्थात् 'सुखी मनुष्य भी (जैसा दुष्यन्त था) सुरम्य स्थलों को देखकर और मधुर शब्दों को सुनकर (इसीलिए हमारे यहाँ उद्दीपनों को महत्त्व दिया गया है) जो बेचैन हो उठता है उसका कारण यह है कि वह बिना जाने अपने अवचेतन मन में संस्कारवश स्थित जन्म-जन्मान्तर के भावों का स्मरण करता है।' यह अवचेतन मन की देन कालिदास के अबोधपूर्व शब्द में भी मिलती है। यह सिद्धान्त आजकल के मनोविज्ञान का ही एकाधिकार नहीं है।

पहले जमाने में काव्यावेश (Inspiration) की व्याख्या धार्मिक आधार पर की जाती थी, तुलसीदासजी ने भी कहा है कि 'शंकरजी ने उनके हृदय में बैठकर रामचरितमानस लिखाया था। सूरदासजी को भी महाप्रभु वल्लभाचार्य की कृपा से भगवत् लीला का स्फुरण हुआ था। आजकल का कलियुगी मनोविज्ञान धार्मिक प्रभावों को तो नहीं मानता लेकिन व्यक्ति के जीवन का अध्ययन कर उसकी दमित वासनाओं और कुण्ठाओं का पता लगाता है और उनके आधार पर उसकी कविता में फैले हुए मानसिक चित्रों के जाल की व्याख्या करता है। फ्रायड के मत से बहुत-सी कला और कविता कुण्ठित वासनाओं की मानसिक इच्छा-पूर्ति है। जैसे स्वप्न दमित इच्छाओं की पूर्ति का साधन हैं, वैसे ही कला और कविता भी। फ्रायड लिखते हैं—

The artist who is urged on by instinctive needs which are too clamorous, longs to attain honour, power, riches, fame and the love of woman; but he lacks the means of achieving these qualifications, so like any other with an unsatisfied longing, he turns away from reality, and transfers all his interest, and all his libido too, on to the creation of his wishes in the life of phantasy.

अर्थात् 'कलाकार वह है जो अपनी अति-मुखरित सहज वृत्तियों से प्रेरित होकर सम्मान, शक्ति, धर्म, यश और स्त्री का प्रेम चाहता है लेकिन वह इन इच्छाओं की पूर्ति के साधन नहीं रखता ('चहिय अमिय जग जुरइ न छाछी') इसलिए किसी साधारण मनुष्य की भाँति वह वास्तविकता से भागकर अपने सब हितों और काम-वासना को भी केन्द्रित कर कल्पना-लोक में अपनी इच्छाओं की पूर्ति में लगा देता है।' वह अपनी कला के जादू से उन्हें प्रेषणीय और सार्वजनिक बना देता है और फिर उसे वे वस्तुएँ जो वह

कल्पना में चाहता था वास्तविकता में भी मिलने लगती है। वह पलायन-वादी कविता की तो व्याख्या कर देता है किन्तु वीर रसात्मक या प्रगतिवादी कविता की व्याख्या नहीं करता। इसके लिए हमको अडलर की हीनता-ग्रन्थि में या जुंग की वहिर्मुखी मनोवृत्ति में (Extrovert Tendencies) का आश्रय लेना पड़ता है। आजकल हमारे आलोचक कुण्ठाओं का बहुत उल्लेख करते हैं। उन पर फ्रायड का ही प्रभाव है। यह हम मानते हैं कि लेखकों में कुण्ठाएँ होती हैं। कालिदास में अपनी स्त्री की विद्वत्ता से हीनता-ग्रन्थि बनी होगी, तुलसीदास जी में अपनी स्त्री से तिरस्कृत होने पर, भूषण में नमक के लिए अपनी भाभी से उपालम्भ सुनने पर, जायसी को अपनी कुरूपता के वश, कबीर को अपने जुलाहेपन के कारण हीन-भावना हुई होगी और उसकी क्षति-पूर्ति में वे ऊँचे उठे होंगे (हीन-भावना भी एक प्रकार की कुण्ठा ही है) किन्तु यह उनकी प्रतिभा की पूरी व्याख्या नहीं है। सैकड़ों आदमियों में यह हीनता ग्रन्थियाँ उनमें उच्च होने की आकांक्षा उत्पन्न नहीं करती। हम यही कह सकते हैं कि मनोविश्लेषण कवि की प्रतिभा समझने में कुछ सहायक होती है। प्रतिभा में हमको कुछ पूर्व जन्म का या अलौकिक अथवा व्याख्यातीत अंश मानना पड़ेगा।

अन्तर्मुखी और वहिर्मुखी

जुंग की अन्तर्मुखी (Introvert) और बहिर्मुखी (Extrovert) प्रकृतियों का विभाजन हमको बहुत गहरा तो नहीं ले जाता फिर भी हमको क्लासिकल और रोमांटिक तथा विषयगत (Objective Epic) और विषयीगत (Subjective) कविता लिखने वाले कवियों की प्रतिभा के समझने में सहायक होता है। वहिर्मुखी लोग क्लासीकल और महाकाव्य आदि की ओर अधिक जाते हैं और अन्तर्मुखी रोमांटिक और प्रगीतात्मक कविता लिखने की ओर झुकते हैं। वास्तव में लोगों में दोनों ही प्रवृत्तियों का मिश्रण रहता है। अन्तर्मुखी समाज की परवाह नहीं करता, उसकी वृत्ति विद्रोहात्मक होती है। वह रोमांटिक की ओर जाता है और वहिर्मुखी नियमों और आकार की पाबन्दी की ओर अधिक ध्यान

देता है । वह Classical कविता की ओर प्रवृत्त होता है । सबमें ही विद्रोह और नियन्त्रण की प्रवृत्तियाँ रहती हैं। जिसमें जो प्रवृत्ति अधिक होती है वह उसी ओर झुक जाता है । अच्छा कवि वह होता है जिसमें विद्रोह और नियन्त्रण का सन्तुलन रहता है । फ्रायड के अनुसार विद्रोह तदात्मा (Id) से मिलेगा और नियन्त्रण चेतनात्मा और परात्मा से मिलेगा।

सावधानी की आवश्यकता

इन सिद्धान्तों के व्यवहारिक प्रयोग में हमको सावधानी और सन्तुलन से कार्य लेना चाहिए । सब जगह ही यौन भावना की गन्ध न पानी चाहिए। यौन भावना के अतिरिक्त और भी भावनाएँ काम कर सकती हैं। तुलसी के नीचे लिखे छन्द में हमारे उत्साही मनोवैज्ञानिक आलोचक दमित काम-वासना का उभार बता सकते हैं। देखिए—

"विन्ध्य के बासी उदासी तपोव्रत-
　　धारी महा, बिनु नारी दुखारे।
गौतम-तीय तरी, 'तुलसी' सो कथा
　　सुनि, भे मुनिवृन्द सुखारे ।।
ह्वै हैं सिला सब चन्द्रमुखी
　　परसे पद-मंजुल-कंज तिहारे।
कीन्ही भली रघुनायक जू
　　जो कृपा करि कानन को पगु धारे ।।"

—कवितावली

इसमें दमित यौन वासना कही जा सकती है किन्तु उन आलोचकों को यह न भूलना चाहिए कि इसमें रामपद की धूलि रूपी सजीवन मूरि की महिमा अधिक है। इसी ने केवट-प्रसङ्ग को भी इतना सरस बना दिया है।

काव्य और प्रेम-वासना का भक्ति में उन्नयन (Sublimation) प्रायः हो जाता है। कवीन्द्र रवीन्द्र ने भी कहा है 'मोह मोर मुक्ति रूपे उठिबे ज्वलिया प्रेम मोर भक्ति रूपे रहिबे फलिया' किन्तु हमेशा इसका उल्टा

(Obverse) ठीक नहीं होता । हरेक भक्ति के मूल में लौकिक वासना की गन्ध देखना जैसा प्रायः मीरा के साथ किया जाता है, उचित नहीं है। मीरा का वैयक्तिक जीवन जाने बिना हम कुछ नहीं कह सकते हैं । बहुत-से आलोचक तो वाल्मीकि के 'मा निषाद प्रतिष्ठां' में काम मोहितम् के आधार पर करुणा के स्थान पर काम का ही साम्राज्य देखते हैं । फिर भी हम यह मानते हैं कि काम बहुत-सी प्रवृत्तियों के मूल में है।

काम-वासना को अथवा दूषित भावनाओं को छिपाने के लिए जो प्रतीक रच लिये जाते हैं उनके अर्थ लगाने में भी मनोविश्लेषण से सहायता मिल जाती है । फूलों का हार, स्वर्ण-मन्दिर, कली आदि नारी शरीर के प्रतीक बन जाते हैं। ऐसे ही टोप, कलम, ऊँची सुर्री पुरुष का प्रतिनिधित्व करते हैं। यात्रा मृत्यु की, पानी कठिनाइयों का, और आकाश हृदय का द्योतक होता है। कुछ प्रतीक तो परम्परागत होते हैं और कुछ नये प्रतीक बन जाते हैं। मनोविश्लेषण इन नये प्रतीकों के रहस्योद्घाटन में विशेष सहायता देता है। बहुत सी बातें चेतन के स्तर पर भी स्पष्ट रूप से कहने योग्य नहीं होती हैं, उनको भी प्रतीक में छिपाया जा सकता है । मनोविश्लेषण क्या साधारण जीवन का ज्ञान भी उन प्रतीकों की कुञ्जी खोज निकाल सकता है, जैसे बच्चनजी की निम्नोल्लिखित कविता में दूसरी शादी का संकेत स्पष्ट है। मनोविश्लेषण गहरी पैंठ कर सकता है । बच्चन की कविता का कुछ अंश देखिए—

प्रतीक

"जीवन में एक सितारा था,
माना वह बेहद प्यारा था,
वह डूब गया तो डूब गया।
अम्बर के आनन को देखो,
कितने इसके तारे टूटे,
कितने इसके प्यारे छूटे।
जो छूट गये फिर कहाँ मिले॥
बोलो टूटे तारों पर अम्बर कब शोक मनाता है ?"

इस प्रकार हम देखते हैं कि मनोविश्लेषण कवि के व्यक्तित्व का विश्लेषण कर कवि की कृति को समझने में सहायक होता है। मनोविश्लेषण के सहारे हम कवि की कृति का कवि के जीवन और स्वभाव के साथ मेल देखकर एक गुत्थी सुलझाने का-सा आनन्द पाते हैं। किन्तु मनोविश्लेषणात्मक आलोचना की सीमाएँ हैं, उनका हमें ध्यान रखना चाहिए। मनोविश्लेषण के सिद्धान्त कवि के व्यक्तित्व समझने के एकमात्र कुञ्जी नहीं हैं। इसी प्रकार उपन्यासों की रचना में मनोविश्लेषण के उदाहरण उपस्थित करने मात्र के लिए जैसा नरोत्तम नागर ने किया है घटनाओं को उपस्थित करना ठीक नहीं है। जीवन का प्रवाह स्वभाविक रूप से चलने देना चाहिए।

सारांश

—'साहित्य संदेश', जुलाई १९५२

६

आलोचना सम्बन्धी मेरी मान्यताएँ

आलोचना के विभिन्न रूप और आदर्श होते हैं। समीक्षा पुस्तकों में उनके कुछ मोटे-मोटे प्रकार बतलाये जाते हैं, लेकिन वे प्रकार कबूतरखाने की भाँति नितान्त एक-दूसरे से अलग नहीं होते। प्रत्येक आलोचक अपनी रुचि के अनुकूल उनके विभिन्न योगों में सम्मिश्रण से और कुछ अपनी सूझ-बूझ से भी एक नया रूप खड़ा कर लेता है। आलोचना के आदर्शों के निर्माण में व्यक्ति की शिक्षा-दीक्षा, जातीय और पारिवारिक संस्कार, विभिन्न साहित्यों और समीक्षाशास्त्रों का अध्ययन तथा जीवन-सम्बन्धी सिद्धान्त उपकरण रूप से काम करते हैं।

रुचि-भेद

मेरी आलोचना सम्बन्धी मान्यताओं के निर्माण में भी मेरे संस्कार, मेरी शिक्षा-दीक्षा और अध्ययन तथा जीवन-दर्शन का प्रभाव है। मेरा जन्म एक धार्मिक परिवार में हुआ था। मेरे धार्मिक संस्कार घिसते-घिसते केवल इतने ही रह गये हैं कि मेरा सर्वात्मवाद की ओर झुकाव बन गया है और उसी के साथ एक अहिंसात्मक कोमलता आ गई है। मुझ में शिक्षक वृत्ति अवश्य है किन्तु शिष्य-वृत्ति कुछ अधिक मात्रा में है। मैं अपने शिक्षितों के पास सहपाठी रूप में कुछ-कुछ सेवा-भाव से जाता हूँ। गोस्वामी तुलसीदास जी के मर्यादावाद से प्रभावित अवश्य हूँ किन्तु मैं यह भी मानता हूँ कि मनुष्य को नियमों के अक्षरशः पालन करने की आवश्यकता नहीं, नियमों के हार्द की रक्षा होनी चाहिए। नियम मनुष्य के लिए हैं न कि मनुष्य नियमों के लिए। मेरे जीवन में मशीन की-सी कोई बात नहीं है। सत्य को मैं बहुपक्षी मानता हूँ। कोई वाद जो अस्तित्व में आता है किसी-न-किसी

मेरे संस्कार

मानव आवश्यकता का द्योतक होता और उसके सत्य का आधार रहता है। बहुत से मनुष्य नवीनता के उत्साह में प्रायः सत्य का अतिक्रमण कर एकांगी बन जाते हैं। भारतीय समन्वयवाद का भी मुझ पर प्रभाव है, किन्तु अति-शयताप्रधान अंशों का नहीं वरन् सारभूत सत्यांशों का। लोग मुझसे कभी-कभी पूछने लगते हैं कि क्या राम और रावण का भी समन्वय हो सकता है। मेरा उत्तर है कि रावण का हठवाद अपने अतिक्रमित रूप में दृढ़ता का ही रूप था। उसके गुण मर्यादा की सीमा पार कर दोष बन गये थे। मैं संसार को गुण-दोषमय मानता हूँ, इसलिए दूषित कृतियों में भी मुझे कुछ सार मिल जाता । राजनीति में मैं गांधीवादी अधिक हूँ।

मेरा यह जीवन-दर्शन मेरी आलोचना सम्बन्धी मान्यताओं को रूप देने में सहायक हुआ है। मैं निर्णयात्मक आलोचना की अपेक्षा व्याख्यात्मक आलोचना को अधिक महत्त्व देता हूँ। शास्त्र के बतलाये हुए सिद्धान्तों को इसलिए महत्त्व देता हूँ कि प्राचीन साहित्य से संग्रहीत जो सिद्धान्त और आदर्श हैं वे प्राचीन कलाकारों के अनुभव, गहरी पैठ और अन्तर्दृष्टि के परिचायक हैं किन्तु वे वेद-वाक्य नहीं हैं। उनसे हम लाभ अवश्य उठा सकते हैं। शास्त्रीय और चोटी के कलाकारों के परिनिष्ठित ग्रन्थों का अध्ययन मनुष्य की रुचि-निर्माण में सहायक होता है। सुसंस्कृत रुचि से की हुई प्रभाववादी आलोचना शास्त्रीय आलोचना के निकट आ जाती है। इसके अतिरिक्त प्रभाववादी आलोचना भी कुछ विशेष महत्त्व रखती है, वह यह कि किसी ग्रन्थ का मूल्य बँधे-बँधाये सुनिश्चित मानों से नहीं आँका जा सकता है। ग्रन्थ में बहुत सी ऐसी बातें होती हैं जो नियमों के बन्धन से परे होती हैं। **'वह चितवन औरे कछू जिहि बस होत सुजान'** ऐसे ही ग्रन्थ और शैली का एक विशेष व्यक्तित्व होता है जिसका मूल्यांकन एक प्रकार की साहित्यिक अन्तरात्मा से किया जाता है।

शास्त्रीय और व्याख्यात्मक आलोचना

मैं इस साहित्यिक अन्तरात्मा में विश्वास करता हूँ और उसको परिष्कृत और परिमार्जित रखने का प्रयत्न करता हूँ। मैं शास्त्रीय नियमों के ज्ञान

और इस अन्तरात्मा की गवाही को निर्णय देने के लिए नहीं, वरन् कवि को समझने के लिए, उसकी आत्मा से परिचित होने के लिए काम में लाता हूँ। बहुत से कवि और लेखक ज्ञात और अज्ञात रूप से शास्त्रीय नियमों से प्रभावित होते हैं और कुछ अपने व्यक्तित्व की भी देन होती है। शास्त्रीय प्रभावों को समझने के लिए शास्त्रीय ज्ञान आवश्यक होता है। गूँगे की सेन गूँगा ही जानता है। शास्त्रीय नियम भी तो कलाकारों की प्रतिभा प्रसूत विशेषताओं के सामान्यीकरण होते हैं। कोई कवि चाहे जान-बूझकर शास्त्रीय नियमों से न प्रभावित हो, किन्तु उसमें भी वैसी ही प्रतिभा की तरंगें उठ सकती हैं जैसी प्राचीनों में उठी थीं। शास्त्रीय ज्ञान उसके पहचानने में सहायक होता है। प्रत्यभिज्ञान जिसको अंग्रेज़ी भाषा में (Recognition) कहते हैं, पूर्व ज्ञान की अपेक्षा रखता है। वह पूर्व ज्ञान हमको शास्त्रीय ज्ञान से मिलता है। शास्त्रीय नियमों के पालन का मुझको विशेष मोह नहीं है, नायिका-भेद के आचार्यों की भाँति सभी नियमों के पालन के लिए प्रयत्नशील होना मैं काव्य के रस के लिए घातक भी समझता हूँ किन्तु जहाँ किसी शास्त्रीय नियम का प्रयोग स्वाभाविक और मौलिक ढंग से होता है वहाँ मैं उसका आदर करता हूँ। मैं इतना तो सर्वात्मवादी और समन्वयवादी नहीं कि सब धान बाईस पसेरी बेचूँ तथापि मैं यह अवश्य मानता हूँ कि गाजर या बथुआ के शाक में भी अपनी विशेषता है जो आलू या परवल में है और उनके लिए जो कुकरमुत्ता खाते हैं उस विशेष प्रकार के कुकरमुत्ता में भी उतना ही [illegible] और [illegible] है जितनी गोभी में। किन्तु मैं निराला [illegible] कमल का तिरस्कार न कराऊँगा, क्योंकि [illegible] मूल्य मानता हूँ। साथ ही गुलाब और [illegible] कुकरमुत्ता का तिरस्कार करें।

शास्त्रीय ज्ञान और रुचि परिमार्जन के लिए ही मैंने सैद्धान्तिक आलोचना के ग्रन्थ लिखे। उनमें दो मुख्य हैं 'नवरस' तथा 'सिद्धान्त और

अध्ययन'। 'नवरस' में मैंने शास्त्र को मनोवैज्ञानिक आधार देने का प्रयत्न किया है। मैं तो अलंकारों का भी मनोवैज्ञानिक आधार मानता हूँ (साहित्य और समीक्षा में अलङ्कारों का अध्याय देखिए)। वे कवि के हृदय के ओज और उत्साह के परिचायक होते हैं। 'सिद्धान्त और अध्ययन' में सिद्धान्तों का इसी दृष्टि से निरूपण किया है कि वे अध्ययन में सहायक हों। मैंने इन आलोचनात्मक निबन्धों का नाम भी 'अध्ययन और आस्वाद' रखा है।

दो प्रमुख ग्रन्थ

जैसा मैं आपसे निवेदन कर चुका हूँ कि कवि के अध्ययन और रसा-स्वादन के लिए काव्य-शास्त्र के सिद्धान्तों और नियमों के अध्ययन के साथ कवि के व्यक्तित्व, उसकी रचनागत विशेषताओं का अध्ययन जो बहुत-कुछ गाजर, मूली, टमाटर या कुकरमुत्ता के खाद्यतत्वों के वैज्ञानिक अध्ययन की भाँति है, और स्वाद के आनन्द के लिए सुरुचि के परिमार्जन की आवश्यकता है। मैं इन विशेषताओं और कवि की निजी देन के समझने के लिए व्याख्यात्मक आलोचना के क्षेत्र में प्रवेश करता हूँ। इसके बहुत से अंग हैं। कवि को बाह्य परिस्थितियों का अध्ययन जो ऐतिहासिक आलोचना के अन्तर्गत माना जाता है और आन्तरिक परिस्थितियों का विवेचन जो मनोवैज्ञानिक आलोचना का रूप धारण कर लेता है, इनके अतिरिक्त उनका तुलनात्मक अध्ययन भी किसी अंश में आवश्यक होता है। ऐतिहासिक आलोचना को महत्त्व मैं अवश्य देता हूँ, किन्तु मैं यह नहीं मानता कि कवि या लेखक परिस्थितियों का पुतला होता है। कवि अपनी निजी सूझ-बूझ लेकर आता है; उसकी विशेष प्रतिभा होती है, जो किसी अंश में घर की परिस्थितियों, वंश-परम्पराओं और निजी अध्ययन तथा उनकी सुरुचि से प्रभावित होती है।

कवि के व्यक्तित्व का अध्ययन

इन सब परिस्थितियों का अध्ययन मैं आवश्यक समझता हूँ, किन्तु इन सब के अध्ययन के लिए दुर्भाग्यवश पर्याप्त सामग्री नहीं मिलती है। इन

बाह्य और आन्तरिक परिस्थितियों का अध्ययन मैं अपने सीमित ज्ञान के अनुकूल ही कर सका हूँ। मनोवैज्ञानिक आलोचना को मैं मनोविश्लेषणशास्त्र में सीमित नहीं रखना चाहता हूँ, वरन् साधारण मनोविज्ञान का भी सहारा लेता हूँ। मनोविश्लेषण में फ्रायड की भाँति सब समस्याओं का हल यौन-वासना में नहीं मानता। लोक-एषणा और वित्त-एषणा को भी मैं महत्त्व देता हूँ। मनुष्य का अहं कभी-कभी सैक्स से भी प्रबल होता है। प्रत्येक व्यक्ति में कुछ जातीय संस्कार होते हैं, कुछ माता-पिता के और कुछ वातावरण के। इन सबका अध्ययन मैं आवश्यक समझता हूँ, यदि न कर पाऊँ तो दूसरी बात है।

मनोविश्लेषण की सीमाएँ

इनका अध्ययन करके मैं यह देखना चाहता हूँ कि कवि कहाँ तक शास्त्र और परम्परा से प्रभावित है और कहाँ तक वह अपनी निजी देन दे रहा है। कवि के निजी दान को मैं विशेष महत्त्व देता हूँ। इसलिए कवि को शास्त्र के कटहरे में बन्द करके यह भी देखने की कोशिश करता हूँ कि आधुनिक प्रवृत्तियों के आलोक में शास्त्र में कहाँ तक परिवर्तन लाने की आवश्यकता है। सूर-तुलसी जैसे महाकवियों से शास्त्र भी बहुत कुछ सीख सकता है। आजकल के कवियों की भी अपनी-अपनी देन है। मैं अपने पूर्वग्राहों से जहाँ तक हो कम काम लेता हूँ। पहले तो मेरी बहुत उल्लेखनीय देन नहीं जिसके प्रति मुझे मोह हो और यदि हो भी तो मैं उसे अन्तिम मानने का दुस्साहस नहीं करता। अपनी विशेष सूझ-बूझ के प्रतिपादन का उत्साह और आग्रह जो मेरी दुर्बलता है उसे ही मैं अपना बल समझता हूँ। अलग-अलग विशेषताओं का महत्त्व स्वीकार करने के कारण आचार्य शुक्ल जी की भाँति मुझे प्रबन्ध काव्य के प्रति विशेष मोह या आग्रह नहीं है। मैं मुक्तक को भी उतना ही महत्त्व देता हूँ, विशेषकर सूर जैसे रससिद्ध कवि के मुक्तकों को, जितना कि प्रबन्ध काव्य को। हमारे प्राचीन आलोचकों ने भी अमरुकशतक के एक-एक श्लोक को सौ-सौ प्रबन्धों के

शास्त्र और परम्परा का प्रभाव

बराबर कहा है । प्रबन्ध काव्य में जहाँ सुनार की सौ चोट से रस परिपाक होता है वहाँ कभी-कभी एक चोट से ही रस परिपाक हो जाता है और आकार की लघुता के कारण व्यंजना को भी अच्छी छटा आ जाती है। रस, ध्वनि, रीति, अलंकार, औचित्य और छन्दों में सबको यथोचित स्थान देते हुए भी मैंने रस को ही आत्मा का शीर्ष स्थान दिया है।

कला-पक्ष

मैंने कला पक्ष की अवहेलना न करते हुए भी भाव पक्ष को अधिक मुख्यता दी है । भाव पक्ष की अमर्यादित स्वतन्त्रता में मैं विश्वास नहीं करता । उसके एक ओर बुद्धितत्त्व से और दूसरी ओर नैतिक तत्त्व के कूलों में बँधा हुआ देखना चाहता हूँ। इन दोनों कूलों में बँधकर ही भाव सरिता द्रुत गति के साथ प्रवहमान हो सकती है।

सौन्दर्य-बोध

मेरा सौन्दर्य-बोध बड़ा व्यापक है। भाव-सौन्दर्य, वस्तु-सौन्दर्य, जो मानव और प्रकृति दोनों को ही घेर लेता है, और कर्म-सौन्दर्य तीनों ही उसके व्यापक क्षेत्र में आते हैं। सौन्दर्य में विषयगतता को प्रधानता देता हुआ भी व्यक्ति की रुचि की देन को भी महत्ता देता हूँ। आचार्य शुक्ल जी ने सौन्दर्य-बोध में विषय के साथ मन की तदाकार परिस्थिति को अधिक महत्ता दी है किन्तु मन में भी ग्राहकता, तदाकार में ढलने की क्षमता होना आवश्यक है। अभिनवगुप्त ने जो रस की निष्पत्ति सहृदय में माना है उसका यही अभिप्राय है। **'अरसिकेषु कवित्त निवेदनं सिरसि मा लिख मा लिख'** की बात को न भूलना चाहिए।

नैतिक मूल्य

कर्मगत सौन्दर्य के साथ नैतिक और अन्य मूल्यों की बात आती है। **'कीरति भनित भूतिभल सोई'** जो **'सुरसरि सम सब कहँ हित होई'** हित वह है जो व्यक्ति और समाज दोनों को बनावे । सामाजिक व्यवस्था वही सर्वश्रेष्ठ है जिसमें विकासवाद का यह सिद्धान्त कि अधिक से अधिक विभाजन विशेषीकरण के साथ अधिक से अधिक साथ संगटन हो। यह श्री मद्भगवद्गीता के **'अविभक्तं विभक्तेषु'** वाले सात्विक ज्ञान के आदर्श के अनुकूल भी पड़ता

है। रामराज्य में भी अधिक से अधिक भौतिक सम्पन्नता के साथ मानसिक साम्य था। **'बैर न कर काहू सन कोई, राम प्रताप विषमता खोई'** जो काव्य-समाज की ऐसी सम्पन्नमयी स्थिति को लाने में सहायक होता है वही मेरी समझ में सत्काव्य है। इस प्रकार मेरी आलोचना पर गांधीवाद का भी प्रभाव है।

मैं साहित्य में किसी प्रकार की वीभत्सता या कटुता को पसन्द नहीं करता हूँ। मैं चाहता हूँ कि साहित्य अपने गौरव के अनुकूल शालीनता बनाये रखे। कटु सत्य छिपाये न जायँ किन्तु उनका उद्घाटन क्षुद्रता या वैयक्तिक कटुता के साथ न किया जाय। 'सत्यं ब्रूयात्' के साथ 'प्रियं ब्रूयात्' की बात न भूलनी चाहिए। इसलिए मैं आलोचना में वस्तु की गरिमा के साथ कथन की शालीनता पर भी ध्यान रखता हूँ। इस बात में मेरा प्रगतिवादी आलोचकों से मतभेद है। वे शालीनता की इतनी परवाह नहीं करते जितनी तथ्य कथन की। वे संघर्ष का भी पोषण करते हैं।

—आकाशवाणी केन्द्र, लखनऊ, से प्रसारित एक वार्ता के आधार पर

७

कवि-समय

बहुत प्राचीन काल से कवि लोग अपनी बात को विशेष चुभने वाली बनाने के अर्थ कुछ ऐसे विश्वासों, प्रसिद्धियों या प्रशस्तियों से काम लेते आए हैं कि जिनके पीछे एक पुरानी परम्परा लगी हुई

व्याख्या

हो और जिनके द्वारा कविता के मर्म जानने वालों पर गहरा प्रभाव डाला जा सके। इन विश्वासों और प्रसिद्धियों का आधार चाहे प्राकृतिक सत्य न हो, परन्तु इनके सम्बन्ध में सब सहृदय समाज एकमत रहता है और एक परम्परागत किन्तु बिना लिखा-पढ़ी का समझौता-सा बन जाता है कि कम-से-कम कविता में इन बातों का इसी प्रकार से वर्णन किया जाय। ये रेखागणित की पूर्व स्वीकृतियों (Postulates) की भाँति मान-सी ली जाती हैं।

ऐसे विश्वासों को पारिभाषिक शब्दावली में 'कवि-समय' कहते हैं। समय—वायदे वा समझौते को कहते हैं। वानर-राज सुग्रीव जब राज और स्त्री पाकर सीताजी की खोज-खबर लेना भूल गए थे तब श्री रामचन्द्रजी ने रोष कर सुग्रीव से कहा था **'समये तिष्ठ सुग्रीव'**[1] अर्थात् अपने वायदे पर रहो। समय, वह बात है जो सबके लिये सम, अर्थात् एक-सी हो। कवियों के आपस के समझौते को कवि-समय कहते हैं।

एक उदाहरण देकर यह बात अधिक स्पष्ट की जा सकती है। सांसारिक

---

१. पूरा श्लोक इस प्रकार है—

"न स संकुचितः पन्था येन बाली हतो गतः।
समये तिष्ठ सुग्रीव मा बालिपथमन्वगाः॥"

मिलन का सुख कमल के पत्ते के ऊपर की पानी की बूँद की भाँति क्षणिक और बह जाने वाला होता है। उसमें वियोग की बाधा लगी रहती है, किन्तु परमात्मा के साथ आध्यात्मिक मिलन में यह बात नहीं होती। कवि यदि उस दैवी मिलन की चाह को प्रकट करना चाहे तो केवल इतना कह देने से न वक्ता को संतोष होगा और न श्रोता को ही पूरा-पूरा आनन्द मिलेगा कि परमात्मा के साथ मिलन में वियोग का भय नहीं, किंतु वह चकवी और चकवे के सम्बन्ध में इस विश्वास का सहारा लेकर, कि रात में इस जोड़े का वियोग हो जाता है और यदि नर-पक्षी नदी के इस पार रहता है तो मादा दूसरी पार, यह कहे—

साहित्यिक उपयोगिता

"चल चकई वा सर विषय जहँ नहि रैन-बिछोह।"

तो बात का कुछ गहरा प्रभाव पड़ेगा और हमारे सामने चिर-मिलन की एक तसवीर-सी खिंच जायगी।

कवियों के ऐसे विश्वास प्रत्येक भाषा के साहित्य में वर्तमान हैं। वे कविता को कुछ और गौरवपूर्ण बना देते हैं। अंग्रेजी साहित्य के विद्यार्थी परंपरागत इस विश्वास से परिचित हैं कि 'स्वान' (Swan), अर्थात् राजहंस मरते समय गीत गाया करता है। इसीलिए मरने से पहले किसी मनुष्य की लुभावनी बातों को 'स्वान सोंग' (Swan song) कह देते हैं। इसी प्रकार अरब के रेगिस्तान की फिनिक्स (Phoenix) नाम की चिड़िया के बारे में ऐसी प्रसिद्धि है कि मरते समय उसके शरीर से अग्नि उत्पन्न हो जाती है और उसी चिता में उसका शरीर भस्म हो जाता है। फिर उसी भस्म से एक अंडा निकलता है और उसके द्वारा चिड़िया पुनः जन्म लेकर अपनी जीवन-यात्रा एक नए सिरे से चलाती है। यह कवि-प्रसिद्धि किसी संस्था के शिथिल होकर नष्ट होने और उसके पश्चात् फिर जन्म लेकर नये उत्साह के साथ काम करने की बात को बड़ी सुविधा के साथ व्यक्त कर देती है।

अंग्रेजी साहित्य में कवि-समय

झूठे दिखावटी आँसुओं को अंग्रेजी में 'क्रोकोडाइल टीअर्स' (Crocodile Tears) कहते हैं। इसके पीछे यह विश्वास है कि घड़ियाल बनावटी आँसू बहाकर अपने शिकार को आकर्षित कर लेता है और उसका भक्षण करते हुए भी रोता ही रहता है। फारसी साहित्य में 'हुमा' नाम की एक चिड़िया का जिक्र आता है। वह हड्डी खाती है, किंतु इसकी छाया जिस आदमी पर पड़ती है वह बादशाह हो जाता है।

राजशेखर का मत

संस्कृत और हिन्दी के कवियों में कुछ ऐसी ही प्रसिद्धियाँ चिरकाल से चली आ रही हैं। राजशेखर जैसे 'काव्य-शास्त्र' के व्याख्याताओं ने इन कवि-समयों का विशद वर्णन किया है। उन्होंने पृथ्वी (भौम), पाताल और आकाश की वस्तुओं के सम्बन्ध में अलग-अलग कवि-समय माने हैं। इन तीनों के भी तीन प्रकार के कवि-समय हैं—

१. असत् बात का कहना;

२. सत् बात का न कहना; और

३. अनियत को नियत करना।

इनमें पृथ्वी से सम्बन्ध रखने वाले कवि-समय मुख्य हैं। अस्तु, इस सम्बन्ध में असत् बात को कहने के उदाहरण हैं—कमल का नदी में वर्णन करना पर कमलझील या तालाब के बँधे हुए पानी में ही होता है, नदी के बहते पानी में नहीं। स्त्री की कमर को **'मुष्टि-ग्राह्य'**, अर्थात् मुट्ठी में आ जाने वाली कहना और अंधकार को **'सूची-भेद्य'**—सुई से छेदे जाने योग्य कहना। यह शायद उसकी प्रगाढ़ता के कारण ऐसा कहा जाता है।

सत् के न कहने के उदाहरण हैं—चंदन के फूलों और अशोक के फलों का वर्णन न करना। वास्तव में चंदन में फूल और अशोक में भी फल होते हैं, किन्तु चन्दन में फूल न मानकर कवियों को ब्रह्मा की अकल पर टीका-टिप्पणी करने का अवसर मिल जाता है। चन्दन के सम्बन्ध में यह सुना जाता है कि उसके तने पर साँप लिपटे रहते हैं[1] और उसकी खुशबू से

---

१. चंदन विष-व्यापै नहीं, लिपटे रहत भुजंग।

नीम कटुज आदि वृक्ष भी चन्दन हो जाते हैं। चन्दन के सम्बन्ध में एक विचित्र बात है कि उसके सूखने पर ही उसमें खुशबू निकलती है। इसी प्रकार यद्यपि शुक्ल पक्ष के उत्तरार्ध में अंधकार होता है और कृष्ण पक्ष के उत्तरार्ध में उजाला होता है, तथापि कवि लोग न शुक्ल पक्ष में अँधेरे का वर्णन करते हैं और न कृष्ण पक्ष में उजेले का। गोस्वामी तुलसीदासजी का इस ओर ध्यान गया था, देखिए—

"सम प्रकास सम पाख दुहुँ, नाम भेद बिधि कीन्ह।
ससि पोसक सोसक समझि जग जस अपजस दीन्ह॥"

—दोहावली, ३७२

अनियत को नियत कर देने के उदाहरण हैं—मगर का केवल 'गंगा' में और मोतियों का केवल 'ताम्रपर्णी' नदी में वर्णन करना। चन्दन वृक्ष यद्यपि बहुत-से स्थानों में होते हैं तथापि उनका वर्णन केवल 'मलयगिरि' पर ही किया जाता है। इसी प्रकार भोज-पत्र का वर्णन केवल हिमालय पर्वत पर किया जाता है और कोयल के बोलने का केवल वसंत में उल्लेख होता है। बरसात में कोयल का मौन धारण कर लेना कहा जाता है।

पशु-पक्षियों के सम्बन्ध में

पशु-पक्षियों के सम्बन्ध में भी कवि-प्रयुक्त प्रसिद्धियाँ हैं और वृक्ष तथा पौधों के विषय में भी। हंस कवियों का बड़ा प्यारा पक्षी है। वह सरस्वती जी का, जो विद्या की देवी हैं, वाहन माना गया है। इसके बारे में कवियों का विश्वास है कि वह मोती चुगता है। तभी तो यह कहावत है—

"कै हंसा मोती चुगै कै फाके मर जाय"।

यह ऐसे आदमियों के लिए कहा जाता है जो, या तो अपने आदर्श के अनुकूल अच्छी-से-अच्छी वस्तु लेंगे, या कुछ न लेंगे। हंस के सम्बन्ध में दूसरी प्रसिद्धि यह है कि वह दूध और पानी को अलग कर देता है, इसीलिए वह आलोचक का प्रतीक माना गया है। वह पानी से अलग कर दूध को पी लेता है। तुलसीदासजी ने उसकी सज्जनों से उपमा दी है, जो दुनिया में बुराई छोड़ देते हैं और भलाई को ग्रहण कर लेते हैं—

तुलसीदास जी कहते हैं—

> "जड़ चेतन गुन-दोष-मय, बिस्व कीन्ह करतार।
> संत हंस-गुन गहहिं पर, परिहरि बारि बिकार॥"

हंस के लिए यह भी कहा जाता है कि इसका निवास-स्थान हिमालय पर्वत पर 'मानसरोवर' है। वास्तव में उनका मोती चुगना और मानसरोवर में होना दोनों बातें एक साथ नहीं हो सकती हैं। मोती तो समुद्र में होता है और सीप के भीतर से निकलता है। पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी का यह विचार है कि मानसरोवर का जल मोती की तरह निर्मल होता है, इसीलिए हंस के मोती चुगने की बात चल पड़ी है। ऐसी ही बात उसके दूध पीने की है, नहीं तो मानसरोवर में उसके लिये गाय-भैंस कहाँ रक्खी हैं? इस सम्बन्ध में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जी ने बहुत-कुछ छान-बीन की है। उनका कहना है कि कमल की डंडी से निकलने वाले तंतुओं को हंस बड़े चाव से खाता है। उनके चबाने में दूध-सा रस निकलता है और उसी के आधार पर यह 'कवि-प्रसिद्धि' चल पड़ी है कि हंस दूध-दूध पी लेता है और पानी-पानी छोड़ देता है। हंस के सम्बन्ध में यह भी प्रसिद्धि है कि वह वर्षा ऋतु में साधारण तालाबों को छोड़कर मानसरोवर चला जाता है।

वर्षा में 'खंजनों' का भी अभाव हो जाता है और कमल भी विलीन हो जाते हैं, तभी तो आचार्य केशवदास जी ने श्री रामचन्द्र जी से कहलाया है कि जो वस्तुएँ श्री सीताजी की याद दिला सकती थीं वे भी वर्षा में विलीन हो गईं, अब वे किसका सहारा लेकर जियें—

> "कलहंस, कलानिधि, खंजन, कंज, कछू दिन 'केसव' देखि जिए।
> गति, आँनन, लोचँन, पाँइन के, अनुरूपक से मन माँनि लिए॥
> यहि काल कराल ते सोधि सबै, हठि कै बरषा-मिस दूरि किए।
> अब धौं बिन प्रान प्रिया रहिहैं, कहि कौंन हितू अवलंब हिए॥"[1]
>
> —रामचंद्रिका, १३।२२

चकवी-चकवे की बात हम पहले बता चुके हैं। इस विश्वास को लेकर

---

१. पहली दो पंक्तियों में 'क्रम' अलंकार की सुन्दर छटा है।

भी कविता में बड़ी सुन्दर-सुन्दर उक्तियाँ आई हैं। भरत जी के सम्बन्ध में तुलसीदास जी कहते हैं कि यदि कोई बहेलिया चकवी-चकवे को रात में एक पिंजड़े में बंद कर दे तो भी वे एक दूसरे को नहीं देखेंगे। उसी प्रकार भरत जी ने भरद्वाज मुनि द्वारा उपस्थित की हुई राज-भोग की सामग्री की ओर नहीं देखा—

"संपति चकई, भरत चक, मुनि आयुस खिलवार।
तेहि निसि आस्रम-पींजरा, राखे करि भिनुसार॥"

—दोहावली २०६

चकवी-चकवे के अलग रहने के सम्बन्ध में 'स्टूआर्ट बेकर' (Stuart Baker) तथा 'ह्विसलर' (Whistler) के आधार पर पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि चकवी-चकवे का जोड़ा दिन में एक साथ रहता दिखाई पड़ता है और रात को अक्सर ये अलग-अलग देखे जाते हैं। संभव है कि इस विश्वास का यही आधार हो। इसके सम्बन्ध में एक पौराणिक आख्यान भी है कि चकवी-चकवे ने सीता जी के वियोग में जाते हुए श्री रामचंद्र जी की हँसी उड़ाई थी, तभी तो उनको यह शाप दिया गया था कि वे रात को नहीं मिल सकेंगे। सूर्योदय होते ही चकवा चकवी से मिलन की आशा में प्रसन्न हो उठता है। सूर्योदय के वर्णन के साथ प्रायः कोकी के शोक के दूर होने का वर्णन भी आता है—

"बीत गई सिगरी रजनी, चहुँ ओर सों फैल गई नभ-लाली।
कोक-बियोग मिट्यो परिपूर, उदै भयो सूर महा छबि-साली॥"

कविवर बिहारीलाल जी ने वर्षा-ऋतु के सम्बन्ध में कहा है कि उस ऋतु में दिन और रात का भेद केवल चकवी-चकवा के संयोग-वियोग से ही जाना जाता है—

"पावस निसि अँधियार में, रह्यौ भेद नहिं जाँन।
रात द्यौस जांन्यों परै, लखि चकई-चकवाँन॥"

पक्षियों में 'चकोर' के सम्बन्ध में यह भी 'कवि-प्रसिद्धि' है कि चकोर चंद्रमा की ओर देखता है और आग को चुगता है। इस विश्वास को

आधुनिक कवि प्रसादजी ने भी 'सौन्दर्य की महिमा' बतलाने के काम में लिया है—

"सौंदर्य सुधा बलिहारी, चुगता चकोर अंगारे।"

सौन्दर्य की उपासना में जो कठिनाइयों के अंगार से चुनने पड़ते हैं उसी के आधारभूत रूपक की बात को सत्य मान लेने से यह प्रसिद्धि चल पड़ी होगी। इस सम्बन्ध में हिन्दी के एक पुराने कवि ने ऊँची उड़ान ली है। वह कहता है कि चकोर इसलिए अंगार चुगता है कि उसका शरीर जलकर भस्म हो जाय और शायद भस्म के रूप में उसको शिवजी अपने माथे से मल लें और इस प्रकार उसकी पहुँच चंद्रमा तक हो जाय—

"चिनगी चुगत चकोर यों, भसँम होइ यह अंग।
ताहि रमावें सिव तहाँ, मिलै पाँउ ससि-संग॥"

अपनी कविता में तुलसीदास जी ने भी 'चंद्र' और 'चकोर' के परंपरागत प्रेम का खूब लाभ उठाया है। विनय में वे कहते हैं—'**रामचंद चंद तू, चकोर मोहिं कीजिए।**' पुष्प-वाटिका के प्रसंग में उन्होंने सीताजी के मुख को चंद्रमा और रामचंद्रजी के नेत्रों को चकोर बना दिया है—

"अस कहि फिर चितए तिहिं ओरा। सिय मुख-ससि भे नयन-चकोरा।"[1]

चंद और चकोर के प्रेम का आधार लेकर सूर ने व्यक्तित्व के महत्त्व पर बल दिया है, देखिए—

"दुइ लोचन जो बिरद किये, स्रुति गावत एक समान।
भेद चकोर कियौ ताहू में, विधु पीतम रितु भान॥"

—भ्रमरगीत-सार

सेनापति जी ने तो शिशिर-ऋतु के वर्णन में सूर्य को इतना शीतल कर दिया है कि उसमें चंद्रमा का आभास होने लगता है और चकोरी उसकी ओर देखने लगती है। चंद्रोदय के भय से चकवा भी शंकित हो

---

१. 'तेरो मुख चंद, चकोरी मेरे नैनां।'

—भगवत-रसिक

उठता है और उसका धैर्य छूट जाता है। नीचे के छंद में सेनापति ने कई कवि-प्रसिद्धियों से काम लिया है। इसमें चंद्रोदय पर कुमोदिनी के प्रसन्न होने की और कमलिनी के संकुचित हो जाने की बात का भी उल्लेख हुआ है, यथा—

"सिसिर में ससि कौ सरूप पावै सबिताहू,
घाँमहू में चाँदनी की दुति दँमकति है।
'सेनापति' सीतलता होति है सहस गुनीं,
रजनी की झाँई दिनहूँ में झँमकति है॥
चाहत चकोर सूर-ओर दृग जोर करि,
चकवा की छाती तजि धीर धसकति है।
चंद के भरँम होत मोद है कमोदनि कों,
ससि संक पंकजिनी फूलि ना सकति है॥"

कोयल के सम्बन्ध में भी एक कवि-प्रसिद्धि यह है कि वह अपने अंडे स्वयं नहीं सेती है, वरन् वह कौवों के घोंसलों में रख आती है। कौवों के बच्चों के साथ कोयल के बच्चे भी बड़े होने लगते हैं। वसंत ऋतु आने पर जब कोयल के बच्चे दूसरी बोली बोलते हैं तब या तो वे खुद ही जाति-भेद समझकर भाग जाते हैं या कौवे मार-मार कर भगा देते हैं। इसीलिए कोयल को 'काक-पाली' भी कहते हैं। यह बात वैज्ञानिक सत्य है।

इस कोयल विषयक कवि-समय का सूर की गोपियों ने कृष्ण के प्रति उपालम्भ देने में बड़ा अच्छा उपयोग किया है। कृष्ण को भी तो वसुदेव जी नन्द-यशोदा के घर रख आये थे और बाद में वे भी कोयल-बच्चों की भाँति अपने कुल के लोगों के साथ जा मिले थे। देखिए गोपियाँ क्या कहती हैं—

"ज्यों कोइल-सुत काग जियावत, भाव-भगति-भोजनहिं खवाइ।
कुहकुहाइ आएँ बसंत ऋतु, अन्त मिलें कुल अपने जाइ॥"

कौए के सम्बन्ध में यह प्रसिद्धि है कि उसके एक ही पुतली होती है और बारी-बारी से एक-एक गोलक में जाती है। इसी आधार पर जब एक

वस्तु दो जगह काम करती हो तब उसके सम्बन्ध में कागगोलक न्याय कहा जाता है । तुलसीदासजी ने भी इसी आधार पर जयन्त को कौए का रूप देकर उसे रामचन्द्रजी के बाण से एक नयन करा दिया है 'एक नयन कर तजा भवानी' कौए के सम्बन्ध में यह भी विश्वास है कि यदि कोई महमान आने वाला हो तो कौआ उड़ जाता है । इसीलिए विरहिणी नायिकाएँ काक उड़ाती हुई दिखाई जाती हैं । एक प्रोषित पतिका नायिका कौए से कहती है—

"पैंजिनी गढ़ाइ चोंच सोने में मढ़ाइ दैहों ।
कर पर लाइ पर रुचि सो सुधारि हों ॥"

× × ×

"ऐरे कारे काग तेरे सगुन संजोग आज,
मेरे पति आवें तो वचन ते न टरिहौं ॥"

पपीहे के सम्बन्ध में कवियों का विश्वास है कि वह बारहों मास 'पिउ-पिउ' पुकारा करता है, किन्तु उसकी यह आन है कि वह स्वाँति के नक्षत्र में जो वर्षा की दो-चार बूँदें मिल जाती हैं उसी से अपनी प्यास बुझाता है । स्वाँति की बूँद के आगे वह गंगाजल के पानी को भी तुच्छ समझता है । गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी "चातक-चौंतीसी" लिखकर उसको भक्ति की अनन्यता का आदर्श बनाया है—

"रटत-रटत रसना लटी, तृषा सूखि गे अंग ।
'तुलसी' चातक-प्रेम कौ, नित नूतन रुचि रंग ॥
चढ़त न चातक-चित कबहुँ प्रिय पयोद के दोष ।
'तुलसी' प्रेम-पयोधि की, तातें नाँप न जोख ॥
उपल बरषि गरजत तरजि, डारत कुलिस कठोर ।
चितव की चातक मेघ-तजि, कबहुं दूसरी ओर ?"

—दोहावली, २८०, २८१, २८३

सूर जी की गोपियों ने भी 'चातक-रट का सहारा लिया है—

"बरखा बरखत निसि-दिन ऊधौ, पुहुमि पूरि अघात ।
स्वाँति-बूँद के काज पपीहा, छिन-छिन रहत रटात ॥"

स्वाँति बूँद के विषय में यह भी प्रसिद्धि है कि जब स्वाँति नक्षत्र का वर्षा हुआ जल केले पर पड़ता है तो उससे कपूर उत्पन्न होता है। इसी प्रकार बाँस से बंसलोचन, सीप से मोती और साँप में मणि या विष (स्वाँति बूँद से) उत्पन्न होते हैं। संगति के प्रभाव के सम्बन्ध में 'रहीम' ने स्वाँति-बूँद का उदाहरण दिया है—

"कदली, सीप, भुजंग-मुख, स्वाँति एक, गुँन तीन।
जैसी संगति बैठिए, वैसोई गुन दीन॥"

चिड़ियों की भाँति पौधों के सम्बन्ध में भी 'कवि-समय' है। **पीली चम्पा**

पेड़-पौधों के सम्बन्ध में

से सुन्दरियों के वर्ण की उपमा दी जाती है। इस सम्बन्ध में एक दोहा प्रचलित है—

"चंपा तो में तीन गुँन, रूप, रंग अरु बास।
औगुँन तो में एक है, भँवर न आवत पास॥"

महाकवि भूषण ने इसी प्रसिद्धि के आधार पर और राजाओं को दूसरे-दूसरे फूल बताया है, जिनसे औरंगजेब रूपी भौंरा मधु-संचय करता है और शिवाजी महाराज को चम्पा बनाया, जिसके पास भौंरा नहीं फटकता है। कवि ने एक अवगुण को गुण बना दिया है, देखिए—

"कूरम कँमल, मधुज हैं कदँम फूल,
गौरहे गुलाब, रानाँ केतकी बिराज है।
पाँडरि पँवार, जूही सोहत है चंद्रावत,
सरस बुँदेला सो चमेली साज-बाज है॥
'भूषण' भँनत मुचकुँद बड़गूजर हैं,
बघलें बसंत सब कुसुम समाज है।
लेइ रस एतेन को, बैठि न सकत अहै,
अलि नवरंगजेब चंपा सिवराज है॥"

—शिवा-बावनी, १६

इस छन्द में राना (उदयपुर : महाराणा) को केतकी कहा गया है, क्योंकि केतकी का फूल काँटेदार होता है। राना ने बादशाह को काफी कष्ट

दिये थे।

साकेत की उर्मिला ने भी इस 'कवि-प्रसिद्धि' से लाभ उठाया है, देखिए—

"भ्रमर इधर मत भटकना, यह खट्टे अँगूर।
लेना चंपक गंध तुम, रहो दूर ही दूर॥"

भ्रमर, रूप के लोभी प्रेमी का प्रतीक माना जाता है।

वृक्षों के फूलों का सम्बन्ध स्त्रियों से बताया जाता है। यह शायद नारी-सौन्दर्य को महत्ता देने के लिए ही है। प्रियंगु स्त्रियों को छूने से, बकुल (मौलश्री) स्त्रियों के मुख से दिये हुए मधु के छींटों से, अशोक उनके पैरों के आघात से, तिलक उनके देखने से, कुर्बक उनके आलिङ्गन से, मन्दार उनके मधुर वचन से, चम्पक उनकी कोमल हँसी से, आप उनके मुख की वायु से, उनके गीत से नमेरु, और कर्णिकार उनके नाचने से फूलता है। इस सम्बन्ध में नीचे का श्लोक प्रसिद्ध है—

"स्त्रीणां स्पर्शात् प्रियगुर्विकसति बकुलः सीधुगंडूषसेकात्,
पादाघातादशोकस्तिलककुरवकौ वीक्षणालिङ्गनाभ्याम्।
मंदारो नर्मवाक्यात्पटुमधुहसनाच्चंपको वक्त्रवातात्,
चूतो गीतान्नमेरुर्विकसति हि पुरोनर्तनात् कर्णिकारः॥"

—कवि-रहस्य, पृ० ८५

साकेत में अशोक के स्त्रियों के पदाघात द्वारा फूलने का उल्लेख उर्मिला के विरह-वर्णन में भी हुआ है—

आई हूँ सशोक मैं अशोक, तेरे तले,
आती है तुझे क्या हाय! सुध उस बात की।
प्रिये ने कहा था प्रिये, पहले ही फूला यह,
भीति जो थी इसको तुम्हारे पदाघात की॥"

कर्णिकार को कोई कनेर कहते हैं, किन्तु पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उसको अमलतास की जाति का एक वृक्ष माना है। इसके फूलों में खुशबू नहं मानी जती है। इसी विश्वास के आधार पर साकेत की उर्मिला

कहतो है कि गन्ध पृथ्वी का सहज गुण है, जैसे—आकाश का शब्द, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि माता (पृथ्वी) के विपरीत गुण होने का दृष्टान्त देने के लिए ही शायद कर्णिकार ने गन्ध के गुण को जो उसे माता की सम्पत्ति होने के कारण सहज प्राप्त था, त्याग दिया है। दूसरा कुछ इशारा भरत जी की ओर भी है। जैसे—

"सहज मातृ-गुण गंध था, कर्णिकार का भाग।
विगुण रूप दृष्टांत के, अर्थ न हो यह त्याग॥"

भारतीय साहित्य में 'कमल' और 'आम' को विशेष महत्ता दी गई है। प्रायः सभी अंगों की कमल से उपमा दी जाती है। गोस्वामी जी ने श्रीरामचन्द्र के नेत्र, हाथ और चरणों की कमल से उपमा दी है, देखिए—

"नव कंज लोचन, कंज-मुख, कर-कंज पद-कंजारुणम्॥"

इसीलिए गुप्त जी ने कहा है—

"एकमात्र उपमान तू, हैं अनेक उपमेय।
रूप, रँग, गुण, गंध में, तू ही गुरुतम गेय॥"

कमल सूर्योदय के साथ विकसित होता है और सूर्यास्त के साथ मुँद जाता है। यदि भौंरा उस पर बैठा हो तो वह भी उसमें कैद हो जाता है। कमल का पत्ता जल में रहता है उससे भीगता नहीं है, इसीलिए 'कमल-पत्रमिवांभसि'—रूप वेदांती लोग संसार में रहकर भी उससे लिप्त नहीं होते। आम के लिए कहा जाता है कि कोयल उस पर बैठती है। माधवी लता उसके ही सहारे बढ़ती है। शकुन्तला में नव मल्लिका (एक प्रकार की चमेली) के आम को वरण करने की बात आई है। शकुन्तला ने उसका नाम वन-ज्योत्स्ना रखा था। साहित्य में आम के वृक्ष ही नहीं आम की लता भी मानी गई है और वास्तव में कहीं-कहीं होती भी है।

कुंद की कलियों से कवि लोग दाँतों की उपमा दिया करते हैं—"कुंद-कली दाड़िम दसन"—इसलिए वे उनको हमेशा सफेद ही मानते हैं यद्यपि वास्तव में उसमें कुछ लालिमा भी होती है।

गुड़हल (जवाकुसुम) इसके सम्बन्ध में यह कवि-प्रसिद्धि है कि जहाँ पर

यह होता है वहाँ पर लड़ाई होती है । इसी से एक नवयुवक महमान के सम्बन्ध में नायिका के पति द्वारा कहलाया है ।

"भले पधारे पाहुने ह्वै गुडहल के फूल ।"

अकौआ और जवासे के सम्बन्ध में यह प्रसिद्धि है कि वर्षा होने पर और वृक्ष तो फूलते-फलते हैं, पर इनके पत्ते भी झड़ जाते हैं ।

"आक-जवास पात बिनु भयऊ ।"

—तुलसी

रंगों के सम्बन्ध में भी कवियों का कुछ समझौता-सा बना हुआ है । 'यश' का वर्णन करते हुए वे उसे 'चाँदनी' की तरह 'सफेद' ही कहेंगे । अंग्रेजी में भी ऐसी रूढ़ियाँ हैं । शेक्सपियर ने ईर्ष्या को 'हरी आँख' वाला भयङ्कर जन्तु (green eyed monster) बतलाया है । पाप को उनके यहाँ भी काला ही माना गया है । हमारे यहाँ एक रंग की चीजों की एक लम्बी फेहरिस्त गिनाई गई है । उदाहरणतः क्षत्रियों के धर्म, रौद्र रस, कोकिल और कबूतर के नेत्र, तेज, मंगल, तक्षक-जीभ, जुगनू, बिजली आदि वस्तुओं का रंग लाल माना गया है । इसी प्रकार श्रीकृष्ण, चन्द्र-चिन्ह, व्यास, राम, अर्जुन, अगरु, पाप, मद और मोर का कंठ नीला माना गया है । ये बातें बिल्कुल निराधार नहीं । कविता में श्याम, नील, कृष्ण एक-दूसरे के पर्याय मान लिये जाते हैं । केशवदास जी ने 'नीले वर्ण' की चीजों की सूची दी है । वह इस प्रकार है—

"दूब, बाँस, कुबलय, नलिन, अनिल, व्योम, तृन, बाल ।
मरकत मनि, हय सूर के, नील बरन सैबाल ॥"

सूरदास जी ने तो भगवान कृष्ण के मस्तक पर के लटकन में जड़े हुए रत्नों के रंग के आधार पर शनि, शुक्र, बृहस्पति और मंगल आदि नक्षत्रों के रंग का भी वर्णन कर दिया है । उसमें क्रमालंकार की छटा भी आ जाती है—

"नील सेत पर पीत लाल मनि, लटकन भाल लुनाई ।
सनि गुरु असुर, देव-गुरु मिलि मनों, भौम-सहित समुदाई ॥"

शनि का रंग नीला, असुर गुरु (शुक्र) का, रंग सफेद, और देवगुरु (बृहस्पति) का रंग पीला माना गया है और भौम (मंगल) का लाल। इन ग्रहों की शान्ति के लिए इन्हीं रंगों के वस्त्र-रत्न आदि दान में दिये जाते हैं।

इस प्रकार पुरानी कविता में बँधी-बँधाई रूढ़ियों से अधिक काम लिया जाता था। इसके द्वारा यद्यपि कविता में नवीनता और निजी निरीक्षण के लिए कम गुंजाइश छोड़ी जाती है, तथापि साथ में इस बात का भी आनन्द रहता है कि बहुत से लोग एक-सी शब्दावली का प्रयोग करते हैं और वह शब्दावली परम्परा से मँजकर साफ हो गई है।

नोट—कवि-समयों के सम्बन्ध में वस्तुगत सत्य का होना आवश्यक न था किन्तु कहीं-कहीं वे प्राकृतिक सत्य पर आधारित थे। शुक्र अपने उज्ज्वल प्रकाश के लिए ही सफेद माना गया है। युद्ध का द्योतक होने के कारण मंगल का रंग लाल माना गया है। बृहस्पति और मंगल की वास्तविक झलक भी इन्हीं रंगों की-सी होती है।

—कन्हैयालाल पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ से

८

'काव्येषु नाटकं रम्यम्'

मनुष्य के हृदयगत रसस्वरूप आनन्द की अभिव्यक्ति को काव्य कहते हैं। ब्रह्मानन्द और काव्यानन्द में केवल यही अन्तर होता है कि वह संसार-निरपेक्ष और पूर्णतया आत्मगत होता है। काव्य

काव्य

का आनन्द संसार-निरपेक्ष तो नहीं होता किन्तु लौकिक से इस बात में भिन्न होता है कि उसमें व्यक्तित्व रहते हुए भी वह क्षुद्र स्वार्थों से ऊँचा उठा हुआ होता है। कवि का हृदय जन-साधारण के हृदय के साथ स्पन्दित हो मुखरित होता है। विज्ञान की अपेक्षा कवि का दृष्टिकोण अधिक मानवीय होता है। वैज्ञानिक मनुष्य को भी पत्थर, मेंढक और बन्दर की तुलना में रख उसे प्रकृति के धरातल पर ले आता है और कवि प्रकृति का भी मानवीकरण कर उसे भाव-समन्वित बना देता है। काव्य में विज्ञान का-सा सामान्यीकरण रहते हुए भी वैयक्तिकता और आनन्द की मात्रा अधिक रहती है। विज्ञान के सामान्यीकरण में मानसिक तत्त्व रहता हुआ भी वह बाह्य सापेक्ष अधिक होता है।

वैयक्तिकता के प्राधान्य के आधार पर पाश्चात्य देशों में काव्य के विषय-गत या अनुकृत (Epic) और आत्मगत या प्रगीत (Lyric) रूप से दो विभाग किये गये हैं। अनुकृत में जगबीती अधिक रहती

विभाग

है और प्रगीत में आपबीती। भारतीय साहित्यशास्त्र में काव्य के दृश्य और श्रव्य दो रूप बताये हैं। यह आधार काव्य की ग्राहकता के ऐन्द्रिक माध्यम पर निर्भर है। इस ग्राहकता के साथ ग्रहण करने वाले के बौद्धिक स्तर के साथ काव्य के प्रभाव क्षेत्र का भी प्रश्न रहता है। दृश्य-काव्य में नेत्र और श्रवण दोनों के ही द्वारा काव्य का आस्वादन किया जाता है। ब्रह्माजी से ऐसे ही खेल की याचना की गई

थी जो दृश्य और श्रव्य दोनों हों 'क्रीड़नीयकमिच्छाम दृश्यं श्रव्यं च यद्-भवेत् (ना० शा० १-११) और श्रव्य-काव्य में श्रवण इन्द्रिय का ही काम रहता है। जहाँ दृश्य-काव्य में दो माध्यम होने के कारण दर्शक की कल्पना पर कम बल पड़ता है और प्रभाव अधिक सजीव रहता है वहाँ श्रव्य-काव्य और विशेषकर पाठ्य काव्य का प्रभाव-क्षेत्र सीमित रहता है। बालकों और अशिक्षितों को सूक्ष्म की अपेक्षा मूर्त और प्रत्यक्ष अधिक प्रभावोत्पादक होता है। शाब्दिक वर्णन चाहे जितना सजीव हो किन्तु चित्र के सामने उसे हार माननी पड़ती है। जब चित्र चलते-फिरते हाड़-माँस-चाम के भाषा-भङ्गिमा सहित हों तब नकल और असल में विशेष अन्तर नहीं रहता है।

दृश्य-काव्य में रूपक, नाटक आदि आते हैं। जैसा कि ऊपर कहा गया है कि दृश्य-काव्य की ग्राहकता के दो ऐन्द्रिक माध्यम हैं—नेत्र और श्रवण।

नाटक

जो नाटक में दिखाया जाता है वह वास्तव में दृश्य-श्रव्य ही होता है किन्तु वह नितान्त बाह्य जगत् से सम्बन्ध नहीं रखता है। उसका मूल स्रोत होता है—भाव-जगत्, जो कि काव्य की आत्मा, रस का आधार है। नाट्यशास्त्र में आचार्य भरतमुनि ने ब्रह्माजी के मुख से, जिनके पास देवतागण पीड़ा और क्लेश से ग्रस्त संसार के लिए आनन्द-प्राप्ति के सुलभ साधन की याचना करने गये थे, कहलाया है। 'त्रैलोकस्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्' (नाट्य-शास्त्र १/१०४) नाटक तीनों लोकों के भावों का अनुकरण है। प्रगीत काव्य में भी भाव रहते हैं किन्तु वे वैयक्तिक कुछ अधिक होते हैं। इसमें व्यापक मानवता के भाव रहते हैं। इसमें विषयगतता के साथ भाव-प्रधानता भी रहती है। नाटक का भावानुकीर्तन लोक वृत्तानुकरण पर आश्रित होता है।

"नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम्॥"

—नाट्यशास्त्र १-१०८/१०९

दशरूपककार ने नाटक को अवस्थाओं की (जो मानसिक अधिक होती

है) अनुकृति कहा है। साहित्य दर्पणकार ने अभिनय तत्त्व को प्रधानता देते हुए रूप के आरोप के कारण रूपक कहा है—'रूपारोपात्तु रूपकम्'। रूपक अलङ्कार में उपमेय पर उपमान का (मुख पर चन्द्र का) आरोप रहता है। रूपक में नट पर अनुकार्य दुष्यन्त आदि का आरोप रहता है। नट से सम्बन्ध रखने के कारण नाटक नाटक कहलाता है। नाटक यद्यपि रूपक का एक भेद है (नाटक दशरूपकों में एक है) किन्तु यह अब व्यापक बन गया है।

अरस्तु की परिभाषा अरस्तू ने गम्भीर नाटक (Tragedy) को उत्तम नाटक का प्रतिनिधि मानकर उसकी परिभाषा इस प्रकार की है—

"A tragedy, then is the imitation of an action that is serious and also as having magnitude complete in itself, in language, with pleasurable accessories, each kind, brought in separately in the parts of the work, in a dramatic not in a narrative form, with incidents arousing pity and fear wherewith to accomplish its catharsis of such emotions."

अर्थात् 'ट्रेजेडी उस कार्य विशेष का अनुकरण है जिसमें गम्भीरता के साथ आकार की स्वतः पूर्णता हो और जो सब प्रकार के प्रसन्नतोत्पादक उपकरणों से अलंकृत भाषा में व्यक्त हो और जिसकी रचना नाटकीय ढङ्ग से की गई हो, न कि प्रकथन या विवरण के रूप में की गई हो (यही गुण उसको महाकाव्य से पृथक् कर देता है)। इसमें ऐसी घटनाएँ रहती हैं जो करुणा और भय को जाग्रत कर उन भावों का रेचन या निकास कर देती हैं। भावों के रेचन (निकास) द्वारा उनका परिष्कार हो जाना नाटक का मुख्य उद्देश्य है। इस परिभाषा में ट्रेजेडी के निम्नलिखित तत्त्व मिलते हैं—

विश्लेषण — (१) गाम्भीर्य, (२) स्वतःपूर्णता, (३) अलङ्करणपूर्ण भाषा, (४) विवरण के स्थान में अभिनयात्मकता, (५) करुणा और भय जाग्रत करने वाली घटनाएँ, एवं (६) उद्देश्य रूप से भावों का परिष्कार।

महत्त्व — हमारे यहाँ भावों को प्राधान्य तो दिया गया है किन्तु उनकी परिधि सीमित नहीं बनाई गई है। उसकी कलात्मकता पर काफी बल दिया गया है और उसके साथ उसके ज्ञानात्मक तत्त्व की भी उपेक्षा नहीं की गई है। साथ ही इसके उद्देश्यों में नैतिकता को प्रधानता दी गई है।

"लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद्भविष्यति।
न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला॥
न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्नदृश्यते।"

—प्रथम अध्याय

नाटक के आनन्द और विश्रामदायी तत्त्व को भी भरतमुनि ने पर्याप्त महत्त्व दिया है।

"दुखार्त्तानांश्रमार्त्तानां शोकार्त्तानां तपस्विनां।
विश्रामजननं लोके नाट्यमेतद्भविष्यति॥"

—नाट्यशास्त्र १-१११/११२

उसको धर्म, अर्थ और काम का भी साधक और दुर्विनीत लोगों की बुद्धि को ठिकाने लगाने वाला, नपुन्सक, भीरु और कायरों को बल प्रदान करने वाला तथा शूरों का उत्साहवर्द्धक बताया है। साथ ही अज्ञानियों को ज्ञान देने वाला और पण्डितों को पाण्डित्य देने वाला, विलासियों के लिए विलास का देने वाला, दुखार्त लोगों के चित्त को स्थिरता और शान्ति का देने वाला कहा है।

"धर्मो धर्म प्रवृत्तानां कामः कामोपसेविनाम्।
निग्रहो दुर्विनीतानां मत्तानां दमन क्रिया॥

क्लीबानां धार्ष्ट्यं करणमुत्साहः शूरमानिनाम् ।
अबोधानां विबोधश्च वैदुष्यं विदुषामपि ।।
ईश्वराणां विलासश्च स्थैर्यं दुःखार्दितस्य च ।
अर्थोपजीविनामर्थो धृतिरुद्विग्न चेतसाम् ।।"

—नाट्यशास्त्र १–१०५/१०८

यह महत्त्व भक्तों का-सा श्रुतिपाठ नहीं वरन् वास्तविक है, क्योंकि इसकी ग्राहकता और इसका प्रभाव व्यापक है । इसलिए इसको पञ्चम वेद कहा है और इसका अधिकार शूद्र या कम ज्ञान वाले लोगों को भी बतलाया है—'तस्मात् सृजापरं वेदं पञ्चमं सार्ववर्णिकम्' । नाटक, महाकाव्य और उपन्यास तीनों ही काव्य रस के साथ जनता में उपदेश की कटु औषधि को ग्राह्य बनाने के साधन रहे हैं, किन्तु तीनों में भेद है ।

महाकाव्य, उपन्यास और नाटक

जगर्घ्टना का वर्णन गद्य और पद्य दोनों में हो सकता है । पद्य में जो वर्णन होता है, वह प्रायः महाकाव्य के रूप में होता है । रामायण हमारे यहाँ का आदि महाकाव्य है । महाकाव्य में पद्य के आकार के अतिरिक्त जातीय अथवा युग की भावना का प्राधान्य रहता है । तुलसी के समय की हिन्दू जनता की भावनाओं का जैसा जीता-जागता चित्र रामचरितमानस में मिलता है वैसा अन्यत्र नहीं मिलता । उसका नायक जाति का नायक और प्रतिनिधि होता है । महाकाव्य एक प्रकार में संस्कृति-प्रधान होता है । वाल्मीकि रामायण के आरम्भ में जैसे पुरुषोत्तम की महर्षि वाल्मीकि को चाह थी, वे सभी गुण भारतीय संस्कृति के मान्य गुण थे । रघुवंश में भी 'शैशवेऽभ्यस्त विद्यानां यौवने विषयैषिणां' आदि श्लोकों में भारतीय संस्कृति की रूप-रेखा प्रस्तुत की गई है । साकेत में भी 'मैं आर्यों का आदर्श बताने आया' सांस्कृतिक पक्ष का ही उद्धार किया गया है ।

गद्य के अनुकरणात्मक रूपों में उपन्यास की मुख्यता रहती है । नाटक गद्य और पद्य के बीच की चीज है और अब उनमें गद्य की प्राधान्यतया

होती जाती है। नाटक शुद्ध गद्य तो नहीं होता तो भी उसकी गणना प्रायः गद्य में ही की जाती है (गीत-नाट्यों की दूसरी बात है)। उसमें कथोपकथन की प्रधानता रहने के कारण वह गद्य के ('गद्' धातु बोलने के अर्थ में आता है) शब्दार्थ का अधिक अनुकरण करता है। महाकाव्य की अपेक्षा इन दोनों में व्यक्ति के चरित्र-चित्रण की प्रधानता रहती है। रामायण और उत्तररामचरित के राम में थोड़ा अन्तर है। रामायण के राम जातीय नेता, उद्धारक, जाति-रक्षक और आदर्श पुरुष हैं। उनमें आर्य सभ्यता मूर्तिमान होकर आती है। उत्तररामचरित के राम व्यक्ति के रूप में आते हैं। वे राजा हैं किन्तु राजा के साथ वे अपना निजी सुख-दुःख रखते हैं। सब चीजों में उनका निजी सम्बन्ध दिखाई पड़ता है। उत्तररामचरित में हमको उनके हृदय का अधिक परिचय मिलता है। जब वे कहते हैं कि दुःख के लिए ही राम का जीवन है, तब उनका व्यक्तित्व निखर आता है।

उपन्यास और नाटक में व्यक्ति का प्राधान्य रहता है, किन्तु इनके दृष्टिकोण में अन्तर है। उपन्यास चाहे जिस रूप में हो, भूत से ही सम्बन्ध रखता है। वह आख्यान का ही रूप है। आजकल अंग्रेजी में भविष्य से सम्बन्ध रखने वाले भी उपन्यास लिखे गये हैं, किन्तु उनमें भी लेखक भविष्य को कल्पना में देखकर यानी उसे भूत बनाकर उसका पीछे से वर्णन करता है। नाटक का भी विषय भूत का ही होता है, किन्तु नाटककार उसे प्रत्यक्ष घटना के रूप में दिखाना चाहता है। वह भूत को आँखों के सामने घटाने का प्रयत्न करता है। उपन्यास घटी हुई घटना को कहता है। नाटककार कहता नहीं है, वरन् वह घटना की प्रत्यक्ष में आवृत्ति कर द्रष्टाओं को उनकी ही आँख से दिखाना चाहता है। वह सिनेमा के आपरेटर की भाँति अपना व्यक्तित्व छिपाये रखता है। यदि उसका व्यक्तित्व कहीं दिखाई पड़ता है तो वह किसी पात्र के रूप में पाठकों के सामने आता है। उसको अगर पाठक लोग आवरण के भीतर से पहिचान लें तो दूसरी बात है लेकिन वह स्वयं आवरण उतारता नहीं है। इसी आधार पर काव्य के दृश्य और श्रव्य दो भेद किये गये।

महाकाव्य में विषय का विस्तार तो उपन्यास का-सा रहता है किन्तु महाकाव्य आदर्शोन्मुख अधिक होता है । उपन्यास और नाटक में यथार्थ की मात्रा अधिक रहती है । उपन्यास जीवन का पूरा चित्र देने का प्रयास करता है । यद्यपि उपन्यास में भी चुनाव रहता है, तथापि नाटक में चुनाव की कला अधिक परिलक्षित होती है । वह ऐसे दृश्य चुनता है जिनसे कथा का तारतम्य टूटे बिना संक्षेप में पात्रों का चरित व्यञ्जित हो जाय और रस की अभिव्यक्ति भी हो जाय । इसलिए नाटक में तीन मुख्य तत्त्व माने गये हैं—वस्तु, नायक और रस । इन्हीं के आधार पर रूपकों का विभाजन होता है । उपन्यास की अपेक्षा नाटक में रस की अभिव्यक्ति कुछ अधिक होती है । कम-से-कम भारतीय नाटकों में; पाश्चात्य नाटकों में उद्देश्य को अधिक महत्त्व दिया जाता है । यह प्रभाव आधुनिक भारतीय नाटकों में भी दिखाई देता है । नाटक में महाकाव्य और उपन्यास जैसी वाह्यार्थता रहती है किन्तु पात्रों की प्रगीत काव्य जैसी भाव-परायणता भी रहती है । नेत्रों के अनुरञ्जन के साथ शिक्षा और उपदेश 'कान्ता सम्मिततयोपदेशयुजे' की उक्ति को सार्थक करता है । नाटक में उपन्यास की-सी वास्तविकता के साथ महाकाव्य के-से आदर्श की व्यञ्जना रहती है । नाटक एक साथ मनोरञ्जन और शिक्षा का कारण बन जाता है ।

'साहित्य-सन्देश', जुलाई-अगस्त, १९५५

९

सञ्चारी भावों की सङ्गति

रस सामग्री में सञ्चारी भाव यद्यपि स्थायी भाव की-सी प्रमुखता नहीं रखते हैं तथापि किसी प्रकार उपेक्षणीय क्या गौण भी नहीं कहे जा सकते।

व्याख्या

स्थायी भाव समुद्र की भाँति स्थिर और व्यापक रहता है। वह रस या आस्वाद का अंकुर वा मूल है। उसमें विरुद्ध और अविरुद्ध भाव उठते और गिरते हैं, किन्तु उसको नष्ट नहीं करते वरन् उसको पुष्ट ही करते हैं। सञ्चारी भाव बुद्बुद् या तरङ्ग की भाँति ऊपर आते हैं और विलीन हो जाते हैं। वे विशेष रूप से संचरणशील होते हैं किन्तु वे राजा के उस परिकर की भाँति होते हैं जिनके कारण राजा पहचाना जाता है। परिकर के लोग अपना-अपना काम करके चले जाते हैं। राजा आदि से अन्त तक बैठा रहता है। शास्त्रकारों ने स्थायी भाव को समुद्र कहा है और सञ्चारी भावों को बुद्बुद् या तरङ्ग कहा है, किन्तु बुद्बुद् और तरङ्ग भी समुद्र के अङ्ग होते हैं और उसकी अभिव्यक्ति में सहायक होते हैं। स्थायी और सञ्चारी भाव के लक्षण दश-रूपक से नीचे दिये जाते हैं—

"विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः।
आत्मभावं नयत्यन्यान्स स्थायी लवणाकरः॥"४।३४॥

अर्थात् विरुद्ध वा अनुकूल भावों से जिसका तारतम्य नहीं टूटता है और जो दूसरों को अपने में मिला लेता है वह स्थायी समुद्र की भाँति है। सञ्चारी या व्यभिचारी की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

"विशेषादभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः।
स्थायिन्युन्मग्न निर्मग्नाः कल्लोला इव वारिधौ॥"४।७॥

अर्थात् सञ्चारी भाव विशेष रूप से और अभिमुखता (अर्थात् अनुकूलता) के साथ, पुष्टि करने के भाव से स्थायी में समुद्र की तरङ्गों की भाँति आविर्भूत और तिरोभूत होते हैं। व्यभिचारी भावों में शास्त्र की दृष्टि से व्यभिचार दोष नहीं है। व्यभिचार में 'वि' उपसर्ग का अर्थ होता है विविध और यहाँ अर्थ है विशेष रूप से। विविध अर्थ में 'वि' का अर्थ भावों के सम्बन्ध में भी हो सकता है। एक रस के साथ कई व्यभिचारी भाव रहते हैं और एक व्यभिचारी भाव कई रसों में सञ्चरण करता है।

व्यभिचारी भावों की संख्या तेंतीस मानी गई है—

संख्या

(१) निर्वेद (वह तत्त्व ज्ञान, प्रपत्ति और ईर्ष्या से उत्पन्न होता है। जब तत्त्व ज्ञान से उत्पन्न होता है तब स्थायी होता है शेष अवस्थाओं में सञ्चारी), (२) आवेग (सम्भ्रम या घबराहट से उत्पन्न शीघ्रता का भाव, हड़बड़ाहट), (३) दैन्य (दीनता-चित्त का ओज जाते रहने के साथ एक विनम्रता भी रहती है), (४) श्रम (रति अथवा रास्ता चलने से जो थकावट का खेद या मानसिक गिरावट होती है। 'पुर ते निकसी रघुबीर-बधू' रास्ते के थकावटजन्य खेद का अच्छा उदाहरण है), (५) मद (इसमें सम्मोहन और आनन्द रहते हैं। इसमें नशे का-सा आनन्द रहता है), (६) जड़ता (कर्तव्य-विमूढ़ता), (७) उग्रता (प्रचंडता), (८) मोह (चक्कर आने की मानसिक दशा), (९) विबोध (जागरण की मानसिक दशा), (१०) स्वप्न (निद्रा और जागरण के बीच की-सी मानसिक स्थिति), (११) अपस्मार (मूर्छा या मृगी की-सी मानसिक अवस्था। इसमें अवचेतन या अचेतन दशा का अधिक प्रभाव रहता है। मनोवैज्ञानिक इसको मस्तिष्क की भौतिक खराबी का कारण मानते हैं किन्तु उसके फलस्वरूप भी मानसिक दौर्बल्य आ जाता है), (१२) गर्व (यह प्रभाव, धन, आदि के कारण होता है और इसमें थोड़ा अविनय भी आ जाता है), (१३) मरण (वास्तविक मरण नहीं, उसमें तो रस-विच्छेद होता है मरण की-सी मानसिक शैथिल्य की दशा), (१४) आलस्य (एक प्रकार का शैथिल्य। यह शारीरिक अधिक होता है किन्तु इसकी भी मानसिक दशा होती है),

(१५) अमर्ष (अपमानादि से जो चिढ़ होती है), (१६) निद्रा (चित्त का सम्मीलन मन की शून्यता की अवस्था), (१७) अवहित्था (हर्ष को विशेषकर प्रेम-जाल को छिपाने का भाव) महर्षि कण्व के लौटने पर शकुन्तला ने दुष्यन्त के साथ समागम के हर्ष को छिपाने की कोशिश की थी । (१८) औत्सुक्य (इष्ट के न मिलने पर मिलन की उत्कण्ठा, (१९) उन्माद (मन की अस्थिरता, इसमें अकारण रोना और हँसना रहता है), (२०) शङ्का (भावी अनिष्ट की सम्भावना), (२१) स्मृति (पूर्वानुभवों के स्मरण से जो विकलता उत्पन्न होती है), (२२) मति (नीति आदि के आधार पर जो आत्म-निश्चय होता है जैसा रामचन्द्र जी को हुआ था कि रघुवंशी लोगों का मन कुमार्ग में नहीं जाता । सीता जी की ओर मन गया तो निश्चय ही वे मिलेंगी), (२३) व्याधि (ज्वरादि से उत्पन्न मन की गिरी हुई अवस्था), (२४) त्रास (बिजली आदि भौतिक कारणों से उत्पन्न मन का क्षोभ), (२५) व्रीड़ा (लज्जा जिसमें मनुष्य आँखें सामने करने से झिझकता है, धृष्टता या बात नहीं कर सकता), (२६) हर्ष (इष्ट की प्राप्ति पर मन का प्रसाद, जैसा रामचरितमानस में रामजन्म पर दिखाया गया है), (२७) असूया (पत्नियों अथवा प्रतिद्वन्द्वियों के औद्धत्य या ऐश्वर्य से उत्पन्न ईर्ष्या वा असहिष्णुता), (२८) विषाद (उपायों की विफलता पर मन की अप्रसन्नता), (२९) धृति (धैर्य), (३०) चपलता, (३१) ग्लानि (रत्यादि के तथा मन के सन्ताप द्वारा प्राप्त हुई निष्प्राणता की अवस्था), (३२) चिन्ता (हित की अप्राप्ति पर उसकी ओर जो ध्यान रहता है) और (३३) वितर्क (सन्देह से उत्पन्न विचार का ऊहापोह) ।

यह तैंतीस की जो संख्या दी गई है वह न्यूनतम संख्या है । इनसे ज्यादा भी हो सकती है । देव ने छल सञ्चारी माना है । शुक्ल जी ने चकपकाहट नाम के सञ्चारी का उल्लेख किया है । पश्चात्ताप, उदासीनता, दंभ आदि और भी सञ्चारी हो सकते हैं । एक प्रश्न यह है कि स्थायी भावों और सञ्चारी भावों में किस बात

स्थायी और सञ्चारी में अन्तर

का अन्तर है। दोनों ही भाव हैं, दोनों हमारे मानसिक जीवन में उल्लेखनीय स्थान रखते हैं। हमारे साहित्यशास्त्रियों ने जो अन्तर किया है वह निराधार नहीं है। स्थायी भावों का हमारे जीवन और आत्मरक्षा से सीधा और घनिष्ट सम्बन्ध है। रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, घृणा, मद, विस्मय और निर्वेद, ये व्यापक मनोविकार हैं। इनमें सञ्चारियों को अपने साथ में लेने को क्षमता हैं। ऊपर बताये हुए सञ्चारी भाव स्थायी भावों के द्वारा ही हमारी आत्मरक्षा से सम्बन्धित होते हैं। उनका स्वतन्त्र की अपेक्षा सहकारी महत्त्व अधिक है। उनका और स्थायी भावों का समुद्र और तरङ्ग का-सा सम्बन्ध है, समुद्र तरङ्गों से अधिक व्यापक होता है। स्थायी भाव व्यापकता और गहराई में भी सञ्चारी भावों से बढ़े-चढ़े होते हैं। रति, क्रोध, भय, पुत्र-स्नेह, शोक आदि भाव जानवरों में भी होते हैं, ऐसा उनके अनुभावों से अनुमान होता है। हास, वीर, विस्मय, घृणा और शम जानवरों में होते हैं या नहीं यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता किन्तु असूया, मति, वितर्क, अवहित्था, गर्व, निर्वेद आदि सञ्चारी भाव जानवरों में नहीं मिलेंगे। शायद स्वप्न, निद्रा, विबोध व्याधि के भौतिक पक्ष मिल जायँ, पर उनका मानसिक पक्ष जानवरों में मुश्किल से मिलेगा। जो बात जानवरों के सम्बन्ध में कही गई है वह शिशुओं के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। औग्र (उग्रता), औत्सुक्य, दैन्य, आलस्य त्रास, ये भाव जानवरों में मिल जायँ किन्तु इन भावों का भी भौतिक पक्ष ही उनमें प्रबल होगा। यह बात व्यावर्तक गुण के रूप में तो नहीं कही जा सकती है कि स्थायी भाव से सम्बन्धित मनोदशाओं का जानवरों तक में प्रसार है और सञ्चारी भावों का नहीं किन्तु यह अवश्य है कि स्थायी भाव की मनोदशाओं का, सञ्चारी भावों की मनोदशाओं की अपेक्षा जानवरों में अधिक प्रसार है और स्थायी भाव एक व्यापक भाव (Master Sentiment) की भाँति छोटे-छोटे भावों को अपने साथ लेकर उनसे पुष्ट होता रहता है। आजकल के मनोविज्ञान के हिसाब से शृङ्गार, रौद्र, भयानक और करुण ही मौलिक मनोविकार कहे जा सकते हैं। मनोविज्ञान और

साहित्यशास्त्र को चारों खूँट मिलाना कठिन है।

सञ्चारी भाव स्थायी भाव को किस प्रकार पुष्ट करते हैं और निखार में लाते हैं, इसका उत्तर हमको दो-चार स्थायी भावों के सञ्चारी भावों के अध्ययन से मिल जायगा। रौद्र और वीर का उदाहरण लीजिए—वीर में हर्ष, गर्व, धृति, मति, अमर्ष तक रहते हैं—**'गर्वधृति हर्षामर्षस्मृतिवितर्क-प्रभृतिभिर्भावित उत्साहः स्थायी स्वदते'** (दशरूपक ४।७२ पर धनिक की टीका; सच्चा उत्साही वीर प्रसन्न रहता है और वह अधीर नहीं होता है। धैर्य वीर का गुण है, उसे गर्व भी होता है। इन सञ्चारियों के साथ जब वीर का वर्णन आता है तब वह आस्वाद का कारण बनता है। इसके विपरीत रौद्र में चञ्चलता रहती है। क्रोधी की बुद्धि स्थिर नहीं रहती, उसमें ईर्ष्या और आवेग भी रहता है। अमर्ष, स्मृति आदि दोनों में होती हैं किन्तु सञ्चारियों का जो योग वीर में है वह रौद्र में नहीं। वीर का योग अधिक प्रसादपूर्ण है। रौद्र के सञ्चारी इस प्रकार गिनाये गये हैं—**'अमर्षमदौ स्मृतिश्चपलतासूयौ ग्रयावेगादयः'**। भयानक में मनुष्य को अपनी हीनता स्वीकार करनी पड़ती है, इसी से उसमें दैन्य का भाव रहता है। अद्भुत में मति चकरा अवश्य जाती है किन्तु उसमें प्रसन्नता का भाव रहता है, इसीलिए इसमें हर्ष सञ्चारी है।

पण्डित रामदहिन मिश्र ने इन सञ्चारी भावों के सम्बन्ध में 'मराठी रस विमर्श' का उद्धरण दिया है, जिसमें इन सञ्चारी भावों के सम्बन्ध में इस प्रकार शङ्का उठाई गई है। "तेतीसों सञ्चारियों की जाँच-पड़ताल से ज्ञात होता है कि वे सदोष हैं। उनमें सभी भाव भावना-स्वरूप नहीं हैं, उनमें (१) कुछ शारीरिक अवस्थायें हैं, (२) कुछ भावनाओं के भीतर तीव्रता प्रदर्शन के प्रकार हैं, (३) कुछ प्राथमिक भावनायें हैं, (४) कुछ सभिन्न (यह शब्द शायद अभिन्न हो, अभिप्राय यह है कि कुछ सञ्चारी एक-दूसरे के पर्याय हैं) भावनायें हैं, और कुछ (५) ज्ञानात्मक अवस्थाएँ हैं।

रस विमर्श का मत

इस विश्लेषण के अनुकूल मिश्रजी ने 'मराठी रस-बोध' से नीचे का

उद्धरण दिया है—

(१) शारीरिक अवस्था के निदर्शक तेरह व्यभिचारी भाव हैं—ग्लानि, मद, श्रम, आलस्य, जड़ता, मोह, अपस्मार, निद्रा, स्वप्न, प्रबोध (विबोध) उन्माद, व्याधि और मरण ।

(२) यथार्थ भावना प्रधान सात सञ्चारी हैं—औत्सुक्य, दैन्य, विषाद, हर्ष, धृति, चिन्ता और निर्वेद ।

(३) शङ्का, त्रास, अमर्ष और गर्व, ये चार स्थायी भाव के मूल स्वरूप हैं ।

(४) ज्ञानमूलक मनोऽवस्था के चार व्यभिचारी हैं—मति, स्मृति, वितर्क और अवहित्था ।

(५) मिश्रित भावना के दो सञ्चारी हैं—व्रीड़ा और असूया ।

(६) भावनाओं को तीव्र करने वाले तीन व्यभिचारी हैं 'चपलता, आवेग और उग्रता' (रामदहिन मिश्र : 'काव्य-दर्पण', पृष्ठ ११०) ।

यह विश्लेषण अच्छा है किन्तु इससे जो व्यभिचारी भावों के सदोष मक्की आलोचना ठहराने की व्यञ्जना है वह ठीक नहीं है । आइये इस पर विचार करें—

(१) ग्लानि, मद, श्रम, आलस्य आदि जो तेरह व्यभिचारी भाव शरीर सम्बन्धी बतलाये हैं, उनका शरीर से सम्बन्ध तो है किन्तु कुछ का मन से अधिक है और मानसिक भाव की अभिव्यञ्जना शरीर में हुई है और कुछ का सम्बन्ध शरीर से अधिक है किन्तु उनका मानसिक प्रतिरूप अवश्य होता है । उनमें भावात्मक रङ्ग (Feeling tone) अवश्य रहता है ।

ग्लानि, जड़ता, मोह अधिक मानसिक हैं । साधारण भाषा में तो ग्लानि मानसिक भाव है किन्तु साहित्यशास्त्रियों ने जो लक्षण दिया है उसमें भौतिकता अधिक है । उन्होंने इन तथाकथित भौतिक के भी जो अनुभाव दिये हैं, वे इस बात के प्रमाण हैं कि उनका मानसिक पक्ष अवश्य है । ग्लानि के कारण कुछ भौतिक भी हैं, कुछ मानसिक । मानसिक कारणों में मन-स्ताप है । साहित्यदर्पण में जो उदाहरण है वह सीताजी की मानसिक सन्ताप-

जन्य ग्लानि का ही है—'हृदय-कमल शोषी दारुणो दीर्घशोक:' से वह दशा प्राप्त हुई। हृदय कमल सूखे और वह दशा मानसिक न हो? दशरूपक में जो मात्र का उदाहरण है वह रति-जन्य ग्लानि का है किन्तु उसमें भी एक मानसिक दशा रहती है। ग्लानि का लक्षण 'निष्प्राणता' दिया गया है, निष्प्राणता भी एक मानसिक दशा होती है। जड़ता निश्चय रूप से मानसिक है। उसमें अप्रतिपत्ति अर्थात् किंकर्तव्यविमूढ़ता आती है। दशरूपक में जो कुमारसम्भव का उद्धरण दिया है उसका अर्थ इस प्रकार है—

पार्वतीजी की सखियों ने शिवजी के साथ एकान्त व्यवहार की शिक्षा उन्हें दी, उसे वे शिवजी के मुख के सामने आते ही (प्रेमाधिक्य के कारण) भूल जाती हैं। यह तो मानसिक दशा ही है। (कुमारसम्भव ८।५)

मोह भी इसी प्रकार से मानसिक अधिक है। मोह को विचित्तता अर्थात् चित्तशून्यता कहा है। 'मोहो विचित्तताभीतिदुखावेगानुचिन्तनै:' इसके कारण भी तीव्र दुखात्मक और मानसिक हैं। चित्तशून्यता दुखावेग में ही आती है। यदि चित्तता मानसिक है तो चित्तशून्यता भी मानसिक है।

श्रम का भाव कुछ भौतिक है किन्तु इसका मानसिक प्रतिरूप अवश्य होता है, इसका प्रत्येक सहृदय को आत्मानुभव होगा। साहित्य-दर्पण में जो लक्षण दिया है उसमें खेद शब्द आया है 'खेदो रत्यध्वगत्यादे: श्वास-निद्रादिकृच्छ्रम:'।

साहित्य-दर्पण में जो उदाहरण दिया है वह तुलसीदास जी की कविता-वली के 'पुर ते निकसी रघुबीर बधू' वाले छन्द का मूल रूप है। यहाँ पर हम पाठकों की जानकारी के लिए दोनों ही छन्द दिये देते हैं।

साहित्य-दर्पण और तुलसी

साहित्य-दर्पण में श्रम का उदाहरण—

"सद्य: पुरीपरिसरे च शिरीषमृद्वी
गत्वा जवात्त्रिचतुराणि पदानि सीता।
गन्तव्यमस्ति कियदित्यसकृद्ब्रुवाणा
रामाश्रुण: कृतवती प्रथमावतारम्॥"

उस शिरीष कुसुम (सिरसा के फूल) सी मृदङ्गी सीता ने पुरी से बढ़कर जल्दी से तीन-चार पग रखे। 'कहाँ तुम्हारा गन्तव्य स्थान है' ऐसा कई बार पूछा। इससे श्रीरामचन्द्र के अश्रुओं के प्रथम अवतरण का कारण बनी।

गोस्वामीजी का छन्द इस प्रकार है—

"पुर ते निकसी रघुवीर बधू,
धरि धीर दये मग में डग द्वै।
झलकीं भरि भाल कनी जल की,
पुट सूखि गये मधुराधर वै॥
फिर बूझति है 'चलनो अब केतिक,
पर्णकुटी करिहौ कित ह्वै'।
तिय की लखि आतुरता पिय की,
अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै॥"

तुलसी के इस अनुवाद में भाषा का अनुप्रासमय और माधुर्यप्रधान चमत्कार तो है ही किन्तु उसमें भाव का भी चमत्कार है। 'धरि धीर दए मग में डग द्वै' के 'धीर धीर' में यह व्यञ्जना है कि उनको दो डग रखने में भी धीरज धरना और साहस बटोरना पड़ा। फिर इसमें उनके अनुभावों का भी उल्लेख हो गया 'पुट सूख गए मधुराधर वै'। (संस्कृत के श्लोक में अनुभाव नहीं है) 'चलनो केतिक' और 'पर्णकुटी करिहौ कित' में ये एक ही बात के दो बार भिन्न शब्दों में दुहराई जाने के कारण उनकी आतुरता का द्योतक हो जाता है। पर्णकुटी में विश्राम की इच्छा का संकेत मिल जाता है। गोस्वामी जी अपने इष्टदेव की आँखों की ओर संकेत करना नहीं भूले हैं। तुलसीदासजी ने आकुलता शब्द लिखकर श्रम की मानसिकता को स्पष्ट कर दिया है।

स्वप्न, विबोध, मरण आदि सञ्चारी भावों में शारीरिक पक्ष की प्रधानता प्रकट है किन्तु उनका मानसिक पक्ष भी है। निद्रा का लक्षण भी 'मनः सम्मीलन' दिया है; उसमें निद्रा से पूर्व की सी

मानसिक अवस्था लक्षित है जिसमें चेतना विषयों से हटती दिखाई देती है । उन्माद भौतिक है किन्तु उसमें चित्त की अव्यवस्था द्योतित होती है । उन्माद के लक्षण में चित्त का सम्मोहन दिया गया है 'चेतस्सम्मोह उन्मादः' कहने का तात्पर्य यह है कि ये अवस्थाएँ भौतिक होते हुए भी मानसिक हैं । इससे इनको सञ्चारियों में स्थान मिलता है ।

स्वप्नादि की मानसिक पक्ष

(२) भावनाप्रधान सात के बारे में तो कुछ कहना ही नहीं है ।

(३) शङ्का, त्रास, अमर्ष और गर्व, स्थायीभाव के मूल स्वरूप चाहे हों किन्तु वे स्थायी भाव से भिन्न हैं । शङ्का भय नहीं है । भय के कारण उपस्थित होने की सम्भावना से उत्पन्न दुख है । त्रास और भय में अवश्य कम अन्तर है किन्तु त्रास में भौतिक कारण अधिक है । भय से यह हलकी दशा है । अमर्ष में हानि की अपेक्षा अपमानजन्य दुख अधिक होता है । क्रोध में सक्रियता भी अधिक रहती है । अमर्ष में मानसिक चिढ़ अधिक होती है । गर्व शायद वीर का स्वरूप माना गया हो किन्तु गर्व और उत्साह में स्पष्ट भेद है । गर्व वीर का सञ्चारी है, स्थायी नहीं । उत्साह में अभीष्ट सिद्धि के लिए प्रसन्नता-पूर्ण निश्चय रहता है । जो सञ्चारी भाव स्थायी भावों के मूल स्वरूप माने गये हैं वे अपने मूल स्वरूप में दूसरे रस के साथ अधिक मेल खा सकते हैं । विषाद भी शोक का पूर्व रूप है किन्तु विषाद सफलता के कारणों के अभाव की चिन्ता से होता है । शोक दुखद घटना के घटने पर होता है ।

शङ्कादि

(४) जिन सञ्चारी भावों को (मति, स्मृति, वितर्क और अवहित्था) ज्ञानमूलक कहा है उनमें ज्ञान की प्रधानता अवश्य है किन्तु उनमें भी भावना का रंग रहता है । मति में एक निश्चय सन्तोष और प्रसन्नता की भावना रहती है । स्मृतियों में पूर्वानुभव की कुछ व्याकुलता और खेद रहता है जो करुणा और वीर आदि को तीव्रता दे देती हैं । वितर्क अद्भुत का सञ्चारी है । विस्मय में तर्क स्वाभाविक है और वह तर्क कारण की

ज्ञानमूलकता के साथ भावुकता

व्याख्या न हो सकने की असमर्थता का द्योतक है। अवहित्था में लज्जा का भाव लगा रहता है। ऐसे सञ्चारियों में ज्ञान दशा के साथ भाव दशा भी मिश्रित रहती है। सञ्चारी रूप में इसी भाव दशा की ओर संकेत रहता है।

(५) मिश्रित भाव के दो सञ्चारी हैं व्रीड़ा और असूया। मिश्रित होने से उनके भाव प्रधान होने में बाधा नहीं पड़ती है।

मिश्रित भाव

(६) भावनाओं को तीव्र करने वाले तीन सञ्चारी माने हैं—चपलता आवेग और उग्रता। किन्तु ये भावनाओं को ही तीव्र नहीं करते वरन् स्वयं भी भावना रूप हैं। चपलता चित्त की अस्थिरता की द्योतक है। वह इधर से उधर दौड़ती है। आवेग में भौतिक उत्पातों के कारण जो सम्भ्रमजन्य त्वरा आ जाती है उसका द्योतन होता है। इसको हड़बड़ी कह सकते हैं। जल्दी के कारण आपत्ति से बचने के लिए ठीक कदम नहीं उठाये जाते। उस अवस्था में जो चित्त की विकलता होती है उसे आवेग कहते हैं। वर्षा, हाथी, अग्नि आदि इसके कारण होते हैं। महावीर हनुमान द्वारा लङ्का-दहन का जो दृश्य दिखाया है उसमें आवेग स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

चपलतादि

'लागि-लागि आगि, भागि-भागि चले जहाँ तहाँ,
धीय को न माय, बाप पूत न सँभारहीं।
छूटे बार, बसन उघारे, धूम-धुंध-अंध;
कहैं बारे बूढ़े 'बारि-बारि' वार-बारही॥
हय हिहिनात भागे जात, घहरात गज,
भारी भीर ठेलि पेलि रौंदि खौंदि डारहीं॥

—कवितावली 'सुन्दरकाण्ड', छन्द १५

उग्रता में शक्ति-प्रदर्शन अधिक रहता है। उसके लक्षण में प्रचण्डता शब्द आया है। आवेग में मनुष्य अपने को एक हीन दशा में पाता है। भयानक के सञ्चारियों में आवेग है, उग्रता नहीं। आवेग के साथ दीनता भी है। उग्रता में क्रोध के आलम्बन पर लक्ष्य अधिक रहता है। उग्रता सक्रिय अधिक है, रौद्र में आवेग और उग्रता दोनों ही हैं। गुस्से में जो

बेबसी और हानि की चेतना होती है वह आवेग है, और दूसरे को नुकसान पहुँचाने और बदला लेने की जो तेजी है वह उग्रता है । वीर में आवेग नहीं होता, उग्रता चाहे आ जावे। इस प्रकार हम यह तो नहीं कह सकते कि जो आपत्तियाँ उठाई गई हैं, वे नितान्त निमू ल हैं, किन्तु विचार करने पर सञ्चारी भावों की मानसिकता में बाधा नहीं पड़ती ।

सञ्चारी भावों का विस्तृत और वैज्ञानिक प्राध्ययन अपेक्षित है।

१०

कहानी का मनोवैज्ञानिक सत्य

मुंशी प्रेमचन्दजी ने अच्छी कहानी की कसौटी बतलाते हुए लिखा है—

'सबसे उतम कहानी वह होती है जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो और उन्होंने अपने कथन के स्पष्टीकरण में बतलाया है 'साधु-

आदर्श

पिता का अपने कुव्यसनी पुत्र की दशा से दुखी होना मनोवैज्ञानिक सत्य है । इस आवेग में पिता के मनोवेगों को चित्रित करना और तदनुकूल उसके व्यवहारों को प्रदर्शित करना, कहानी को आकर्षक बना सकता है । इस सम्बन्ध में पिता के व्यवहार के कई रूप हो सकते हैं, वह पुत्र को डाटे-फटकारे, उसको धन की सहायता से वञ्चित कर दे अथवा स्वयं घर से चला जाय, या घर में रहकर अपने को कष्ट दे, मौन रहे, स्वयं खाना-पीना छोड़ दे या कम कर दे इत्यादि । इन बातों के अतिरिक्त लड़के की प्रतिक्रिया का भी चित्रण हो सकता है ।'

दूसरा उदाहरण और देखिए—बुरा आदमी भी बिल्कुल बुरा नहीं होता है, उसमें कहीं-न-कहीं देवता अवश्य छिपा रहता है । यह मनोवैज्ञानिक सत्य है । उस देवता को खोजकर दिखा देना समर्थ आख्यायिका का काम है ।' मुंशी प्रेमचन्द नीच-से-नीच के हृदय-तल में छिपी हुई सज्जनता की चिनगारी को प्रकाश में लाने में बड़े कुशलहस्त हैं ।

फिर आगे वे लिखते हैं—'विपत्ति पड़ने पर मनुष्य दिलेर हो जाता है । यहाँ तक कि बड़े-से-बड़े सङ्कट का सामना करने के लिए ताल ठोक कर तैयार हो जाता है । उसकी सारी दुर्वासना भाग जाती है । उसके हृदय में छिपे जौहर निकल आते हैं और हमें चकित कर देते हैं ।'

एक चौथा उदाहरण और लीजिए—'किसी समस्या का समावेश कहानी को आकर्षक बनाने का सबसे उत्तम साधन है । जीवन में ऐसी समस्याएँ नित्य ही उपस्थित होती रहती हैं और उनसे पैदा होने वाले द्वन्द्व आख्यायिका को चमका देता है । सत्यवादी पिता को मालूम होता है कि पुत्र ने हत्या की है । वह उसका न्याय-वेदी पर बलिदान करदे या अपने जीवन-सिद्धान्तों की हत्या कर डाले, कितना भीषण द्वन्द्व है ! पश्चाताप ऐसे द्वन्द्वों का अखण्ड स्रोत है' (प्रसादजी ऐसे द्वन्द्वों को प्रकाशित करने में बड़े कुशलहस्त थे) 'आकाशदीप', 'पुरस्कार' आदि कहानियों में बड़े अन्तर्द्वन्द्व हैं। 'न्याय' में भी एक ऐसी ही कहानी है ।

यद्यपि सभी कहानियों में ऐसे मनोवैज्ञानिक या नैतिक सत्य का होना अनिवार्य नहीं है क्योंकि बहुत सी कहानियों के अस्तित्व की सार्थकता उनके कहानी-कौशल में, जैसे मुंशी प्रेमचन्दजी के शतरञ्ज के खिलाड़ी में, या भाषा की अलङ्कारिकता में, जैसे चण्डी-प्रसादजी की कहानियों में ही प्रमाणित होती है (ऐसी कहानियों में तन्मयता आदि के मनोवैज्ञानिक सत्य रहते हैं) तथापि ऐसे सत्य कहानी में जान डाल देते हैं । आजकल के कहानीकार सब स्थानों में नीति का समावेश नहीं करते हैं । नैराश्य की मनोदशा भाव के वर्णन मात्र से, जैसे अश्क की 'डाली' नाम की कहानी में, अथवा सियारामशरण गुप्त की 'काकी' नाम की कहानी में बालक के भोलेपन का चित्रण, उनकी जान है । किन्हीं-किन्हीं कहानियों में किसी ऐतिहासिक घटना का वर्णन होता है या सभ्यता के विकास का काल्पनिक चित्रण किया जाता है । कहानी की रोचकता उसके कौतूहल के अतिरिक्त मानव-समाज के प्रति सहानुभूति में है । हम मनुष्य हैं और मनुष्य के विचारों, आशाओं और अभिलाषाओं, उसकी सफलता और विफलताओं के प्रति एक सहानुभूतिपूर्ण रुचि रखते हैं । यह सहानुभूति जो सारे साहित्य का मूल है कहानी का भी आधार है । मनो-वैज्ञानिक सत्य इस सहानुभूति के लिए सामग्री उपस्थित कर उसका पोषण करता है । प्रेमचन्दजी जैसे कलाकार के लिए जो कला को कला के लिए

अन्य उद्देश्य

नहीं वरन् जीवन के लिए मानते थे ऐसे सत्य का और भी विशेष मूल्य था, तभी तो इन्होंने इसको विशेष महत्त्व दिया और यह महत्त्व देने योग्य बात भी है। आजकल भी मनोवैज्ञानिक सत्यों को महत्त्व दिया जाता है किन्तु आजकल का मनोविज्ञान भीतरी सतहों तक जाने की कोशिश करता है, उसका सम्बन्ध मनुष्य के अवचेतन से रहता है। प्रेमचन्दजी में ऐसे विश्लेषणात्मक मनोवैज्ञानिक सत्य के भी उदाहरण मिलते हैं।

अमूर्त सत्य का अमूर्त रूप

वैसे तो मनोवैज्ञानिकता कहानी में आदि से अन्त तक रहती है और कहानी या उपन्यास मनोविज्ञान के अध्ययन का साधन भी है, क्योंकि कहानीकार जो जीवन की झाँकी देता है उसके पीछे पात्रों की मानसिक स्थिति ही तो मूल प्रेरणा शक्ति के रूप में रहती है, और कुशल कलाकार उस मानसिक स्थिति का बाह्य और आन्तरिक परिस्थितियों के अनुकूल मनोविज्ञान के नियमों के आधार पर ही करता है। फिर भी मुंशी प्रेमचन्दजी ने जिस मनोवैज्ञानिक सत्य का उल्लेख किया है वह कहानी का उद्देश्य ही है। यह उद्देश्य शुद्ध मनोवैज्ञानिक सत्य का भी उद्घाटन हो सकता है अथवा किसी नैतिक सत्य का। कहानी अमूर्त सत्य को एक सहजग्राह्य मूर्तरूप दे देती है। यह सत्य शरीर में आत्मा की भाँति स्थित रहता है। आत्मा का परिचय शरीर द्वारा ही मिलता है।

पो का मत

इस उद्देश्य या मनोवैज्ञानिक सत्य के सम्बन्ध में अमरीका में कहानी के जन्मदाता एडगर एलन पो (Edgar Allan poe) सन् १८०९-१८४९ (पश्चिम में भी यह विद्या बहुत पुरानी नहीं है) ने इसको महत्त्व देते हुए लिखा है कि आख्यायिका-लेखक यदि चतुर और कला-कुशल है तो वह अपनी आख्यायिका में पहले कोई घटना-चक्र बनाकर पीछे उसमें विचारों की शृङ्खला जोड़ देने की गलती कभी न करेगा। वह सावधान होकर पहले एक लक्ष्य या प्रभाव की कल्पना करेगा—तदन्तर वह ऐसी घटनाओं की सृष्टि करेगा—वस्तु को इस रूप में नियोजित करेगा कि वह उक्त लक्ष्य

या प्रभाव को अधिक-से-अधिक सफलतापूर्वक व्यञ्जित कर सके। यदि प्रथम वाक्य से ही वह उस प्रभाव के द्योतन करने में समर्थ नहीं होता तो 'प्रथम ग्रासे मक्षिकापातः' की उक्ति चरितार्थ होती है। (यह अनुवाद डाक्टर श्यामसुन्दरदास के साहित्यालोचन से दिया गया है) अन्तिम वाक्य का मूल इस प्रकार है—If his very initial sentence tend not to the bringing of this effect he has failed in his first step। यह इस उद्देश्य या मूल प्रभाव को बल देने को ही लिखा गया है। जहाँ तक कहानीकार के मत का सम्बन्ध है (मैंने कोई कहानी लिखी नहीं है, अन्दाज से कहता हूँ) प्रायः ऐसा होता है कि कोई घटना किसी मनोवैज्ञानिक सत्य का सुझाव उत्पन्न कर देती है और फिर कलाकार उस घटना या उन घटनावलियों को कुछ वास्तविकता और कुछ कल्पना के आधार पर साज-सम्हाल कर ऐसा रूप दे देता है कि वह मनोवैज्ञानिक सत्य अपने आप व्यक्त हो जाये या झलकने लगे। कुछ लोगों के मन में उस सत्य का ही पहले आविर्भाव हो जाता हो और घटनाओं को कल्पना के आकार पर रचते हों। जो कुछ भी होता हो घटना और सत्य का शरीर और आत्मा का-सा सम्बन्ध हो जाना चाहिए। वह सत्य ऊपर से थोपा हुआ न दिखाई देना चाहिए। यद्यपि किसी कहानी में उस सत्य को स्पष्ट शब्दों में लिख दिया जाता है, जैसे अज्ञेय की एक कहानी (शत्रु) में अन्तिम वाक्य यह है—"और उसने जान लिया कि जीवन की सबसे बड़ी कठिनाई यही है कि हम निरन्तर आसानी की ओर आकृष्ट होते हैं।" इसी प्रकार सुदर्शन की 'सन्यासी' नाम की कहानी में उसका सत्य स्पष्ट रूप से अन्त में लिख दिया गया है—'मन की शान्ति कर्त्तव्य के पालन से मिलती है'। यह सत्य मनोवैज्ञानिक भी है और नैतिक भी। किन्तु उसका व्यक्तीकरण पाठक के मन में होना अधिक श्रेयष्कर होता है। कहानी-लेखक उपदेशक का रूप धारण करने के आक्षेप से बच जाता है। मनोवैज्ञानिक सत्य को सत्यनारायणजी की प्रेम-कली की भाँति (याही सों अधखिली रही यह प्रेम कली है) अधखिला ही रहना अच्छा रहता है। उसका वर्णन-कौशल ऐसा

होना चाहिए कि वह सत्य उभार में आ जाय। इस सम्बन्ध में श्री गिरधारी-लाल शर्मा 'गर्ग' ने अपनी 'कहानी—एक कला' के पृष्ठ १२३ पर एक लेखक के अंग्रेजी उद्धरण का हिन्दी अनुवाद दिया है। वह द्रष्टव्य है—

'मनुष्य को मनुष्य रूप में अङ्कित करो, शिक्षा आप निकल आयेगी। सूर्यास्त का स्वाभाविक वर्णन करो, यह तुम्हारे अन्दर किस भावना का उद्रेक करता है, यह बताना उचित नहीं। पाठक के मन में चाहे जिस भाव का उदय हो, होने दो। जहाँ सच्ची कला है वहाँ कुछ सीखने का है ही पर प्रकृति पर अपना कानून न लगाओ।' इसके अन्तिम वाक्य का मूल इस प्रकार है—"Every work of art has a profound moral significance, but you must not to impose your own laws on nature." । वास्तव में वह किस अंश में उद्देश्य को व्यक्त रखे और किस में अव्यक्त। कलाकार को अपने पाठकों को उस राह तक तो ले जाना ही पड़ता है जिस राह पर चलकर उनको मनोवैज्ञानिक सत्य या नैतिक सत्य के दर्शन हो सकें। अब हम कुछ प्रमुख कहानियों के मनोवैज्ञानिक सत्यों को व्यक्त करके इस लेख को समाप्त करेंगे।

मनोवैज्ञानिक सत्य के उदाहरण

उसने कहा था—गुलेरीजी की इस कहानी ने बड़ी प्रसिद्धि पाई है। इसके कई कारण हैं। उनमें से एक उसका मनोवैज्ञानिक सत्य भी है—बात का निबाहना और ऐसे व्यक्ति की बात का जिसने मन पर बाल्यकाल में ही प्रभाव डाला हो। लहनासिंह अपने अन्तिम क्षणों में बार-बार भजन की टेक की भाँति यही दुहराता है 'वजीरासिंह पानी पिला—उसने कहा था' यही टेक कहानी का शीर्षक और उसकी जान है। अन्तिम क्षणों में स्मृति भी कुछ तीव्र हो जाती है। लहनासिंह पिछली सारी घटनाओं को दुहरा देता है और उसके बलिदान का रहस्य खुल जाता है।

प्रसादजी की इस कहानी में यह मनोवैज्ञानिक सत्य उभार में आता है

कि मनुष्य चाहे जितना बिगड़ा हुआ हो, जब किसी चिन्ता का भार उस पर पड़ता है तब उस उत्तरदायित्व क ो पूरा करने के लिए उसका सुधार आरम्भ हो जाता है। शराबी के जीवन में मधुआ के आ जाने से उसके खिलाने-पिलाने की उसे चिन्ता हो गई और शराब न पी सका। उसने शान रखने के लिए छोड़े हुए काम को फिर से सम्हाल लिया और उसका जीवन-क्रम व्यवस्थित हो गया।

मधुआ

प्रेमचन्दजी की बहुत सी कहानियों में मनोवैज्ञानिक सत्य है और नैतिक सत्य भी है। दो-एक का यहाँ उल्लेख किया जाता है।

बड़े भाई साहब

यह एक मनोवैज्ञानिक कहानी है। इसमें वर्णित बड़े भाई साहब जो पढ़ने में कुछ मन्द-बुद्धि हैं बार-बार फेल होते हैं और उनका छोटा भाई जो पढ़ने में अपेक्षाकृत कम ध्यान देता है, लगातार अच्छी तरह से पास होता हुआ अपने और उनके बीच के अन्तर को कम करते-करते उनसे केवल एक दर्जा नीचा रह जाता है। बड़े भाई साहब अपनी झेंप मिटाने के लिए अपनी कक्षा के पाठ्य-क्रम की कठिनाइयों का बखान करते हैं और बड़े होने के अधिकार से डाँट-फटकार बतलाते रहते हैं। वे अपनी बुद्धि की कमी की क्षति-पूर्ति अपनी आयु की बढ़ोतरी से पूरा करना चाहते हैं। वे यह नहीं भूलते हैं कि कि वे बड़े हैं।

'मैं तुम से पाँच साल बड़ा हूँ और चाहे आज तुम मेरी ही जमाअत में आजाओ, लेकिन मुझ में और तुम में पाँच साल का अन्तर है, उसे तुम क्या खुदा भी नहीं मिटा सकता। मैं तुम से पाँच साल बड़ा हूँ। मुझे जो दुनिया और जिन्दग ी का तजुर्बा है तुम उसकी बराबरी नहीं कर सकते, चाहे तुम एम० ए० और डी० लिट० और डी० फिल क्यों न हो जाओ। समझ कताबें पढ़ने से नहीं, दुनिया देखने से आती है।' इसमें यही मनोवैज्ञानिक सत्य है कि बड़ा भाई अपने बड़ेपन के अधिकार में रहकर अध्ययन की परवाह और प्रयत्न करके भी पिछड़ जाता है और छोटा भाई अपने को

जीवन की दौड़ में पिछड़ा पाकर अपनी क्षति-पूर्ति के लिए एक अव्यक्त मानसिक उन्नति कर लेता है। (प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक एडलर ने बतलाया है कि घर का दूसरा लड़का प्रायः पहले की अपेक्षा अधिक मेधावी पाया जाता है।) यह सब मन की अज्ञात क्रियाओं द्वारा होता रहता है। अन्त में एक आकस्मिक और अप्रत्याशित मोड़ मुंशी प्रेमचन्दजी ने इस कहानी को दिया है। कनकउए उड़ाने के विरुद्ध उपदेश देते-देते कनकउए की डोर भाई साहब के ऊपर से गुजरती है। तब उनके हाथ बरबस उठ जाते हैं और वह उसे लूटकर भागते हैं। यह घटना इसी मनोवैज्ञानिक सत्य को प्रमाणित करती है कि मनुष्य उपदेश चाहे जितने दे किन्तु मानवी कमजोरियाँ और पूर्व के पड़े हुए संस्कार उन उपदेशों से कहीं प्रबलतर होते हैं।

इस कहानी में एक नैतिक सत्य है और एक मनोवैज्ञानिक। दाम्पत्य-जीवन में यदि दोनों ओर से स्वाभिमान प्रबल हो और एक का चरित्र

शान्ति

बिगड़ा हो तो बिगड़े हुए पक्ष के सुधार की आशा नहीं रहती। अभिमान का बदला उपेक्षा से मिलता है। सुधार के लिए समझौते की वृत्ति आवश्यक है। अत्याचारी के अत्याचार के दमन की कुछ आशा हो सकती है तो प्रेम और सहानुभूति में। इसमें यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि दुख की पराकाष्ठा शान्ति का रूप धारण कर लेती है। प्रेमचन्दजी ने जिस पात्र के मुँह से कहानी कहलाई है वह कहता है 'किन्तु रह-रह कर यह सन्देह हो जाता था कि गोपा की यह शान्ति उसकी अपार व्यथा का ही तो रूप नहीं है।' यह सन्देह वास्तविक था और उद्धृत वाक्य द्वारा कहानी के मनोवैज्ञानिक सत्य का ही उद्घाटन नहीं हुआ वरन् उसका शीर्षक भी सार्थक हो गया।

पूस की रात में नैराश्यपूर्ण परिस्थिति में भी मनुष्य अपनी खीझ छिपा लेने के लिए क्षति में भी लाभ का स्वर्ण-कण खोज निकालता है। हलकू के

पूस की रात

निद्रा-मोह के कारण उसके खेत के जल जाने पर हलकू और मुन्नी का वार्तालाप इसी सत्य का परिचायक है। मुन्नी ने चिन्तित होकर कहा—'अब मजूरी करके मालगुजारी भरनी पड़ेगी।'

हलकू ने प्रसन्न मुख से कहा—'रात की ठंडी में यहाँ सोना तो न पड़ेगा।' इसमें किसानों को कठिनाइयों की भी एक करुण व्यञ्जना है। इसमें आँख फूटी पीर गई की लोकोक्ति भी चरितार्थ होती है।

मुक्ति-मार्ग

इसमें एक नैतिक और कुछ-कुछ मनोवैज्ञानिक सत्य है कि मनुष्य में जब तक धन का मद रहता है तब तक वह अनर्थ करने और एक दूसरे को नीचा दिखाने को उतारू रहता है। धन ही सब आपत्तियों और पापों का मूल है। किन्तु जब धन का मद जाता रहता है तब मनुष्य की अकल टिकाने आ जाती है। उसके हृदय से ईर्ष्या-द्वेष मिट जाता है और हृदय की सफाई हो जाती है। वह अपराध स्वीकार करने को तैयार हो जाता है। झींगुर और बुद्धू गरीब होकर मजदूरी करने लगते हैं तब उनके हृदय की कालिमा मिट जाती है और वे एक दूसरे से अपना-अपना अपराध स्वीकार कर लेते हैं।

बुद्धू ने कहा—'तुम्हारी ऊख में आग मैंने लगाई थी।'

झींगुर ने विनोद के भाव से कहा—'जानता हूँ।' थोड़ी देर के बाद, झींगुर बोला—'बधिया मैंने ही बाँधी थी और हरिहर ने उसे कुछ खिला दिया था।'

गरीबी और अपराध-स्वीकृति ही मुक्ति का मार्ग है।

बड़े घर की बेटी

मुंशी प्रेमचन्द की यह प्रसिद्ध कहानियों में से है। आनन्दी में पितृ-गृह के प्रति गर्व की भावना थी और उसके कारण वह अपने देवर के प्रति कटु व्यङ्ग्य भी कर सकी, किन्तु जैसा प्रेमचन्दजी ने कहा है—बुरे से बुरे आदमी के अन्दर भी कहीं-न-कहीं देवता अवश्य छिपा रहता है। प्रेमचन्द ने आनन्दी में उसी देवता की ज्योति दिखाई है। वह अपने पीछे भाई को भाई से अलग कर पारिवारिक संगठन को विच्छिन्न नहीं करना चाहती थी। इसी विच्छेद को बचाने के लिए उसने घर छोड़कर जाते हुए लालबिहारी को रोक लिया। फिर उसके सम्बन्ध में यही बरबस कहना पड़ा 'बड़े घर की बेटियाँ बिगड़ी को बनाने वाली होती

हैं।' आनन्दी ने 'बड़े घर की बेटी' नाम को बुरे अर्थ में भी और अच्छे अर्थ में भी सार्थक कर दिया।

यह श्री सुदर्शन जी की अच्छी कहानियों में से एक है। इसमें जिस नैतिक सत्य का प्रकाश हुआ है वह यह है कि सच्ची मानवता उपकृत में हीनता-भाव नहीं उत्पन्न होने देती। पं० शादीराम को

अलबम

आर्थिक सहायता देने के लिए लाला सदानन्द ने पण्डितजी की अलबम यह कहकर खरीद ली थी कि वे उसको अपने एक सेठ मित्र के लिए खरीद रहे हैं। लाला सदानन्द के मरने पर ही पण्डित जी पर यह भेद खुला।

इसी प्रकार अन्य कहानियों के भी मनोवैज्ञानिक और नैतिक सत्य बताये जा सकते हैं। कहानी का अध्ययन मनोरञ्जन के लिए ही नहीं वरन् सामाजिक और मनोवैज्ञानिक तथ्यों को ग्रहण करने और उनसे व्यावहारिक कुशलता प्राप्त करने के लिए भी होना चाहिए।

—साहित्य-संदेश, कहानी अङ्क, जनवरी-फरवरी—१९५३

११

कहानी की प्रणालियाँ और शैलियाँ

वैविध्य विकास और उन्नति का प्रमुख चिन्ह है। कहानी-साहित्य में जैसा-जैसा विकास होता गया वैसे ही विविध प्रणालियों का जन्म होता गया।

विविध पद्धतियाँ

कहानी की ऐतिहासिक और आत्मकथात्मक प्रणालियाँ प्राचीन काल में भी थीं। आजकल भी दोनों प्रकार की कहानियाँ लिखी जाती हैं और दोनों की विशेषताएँ हैं। इन दोनों पद्धतियों के अतिरिक्त पत्रात्मक और कथोपकथन पद्धतियाँ भी प्रचलित हैं। वैसे तो कुछ कहानियाँ डायरी के रूप में भी लिखी गई हैं।

ऐतिहासिक पद्धति

यह सबसे अधिक प्रचलित पद्धति है। इसमें लेखक बीती हुई बात को कहता चलता है। वह तटस्थ सर्वज्ञता के साथ सब पात्रों का समान रूप से वर्णन करता हुआ उनके चरित्रों पर भी प्रकाश डाल सकता है। ऐसी कहानियों के अनेकों उदाहरण हैं। जैसे प्रेमचन्दजी की 'पञ्च परमेश्वर' नाम की कहानी। 'जुम्मन शेख और अलगू चौधरी में गाढ़ी मित्रता थी। साझे में खेती होती थी। कुछ लेन-देन का साझा था, एक दूसरे पर अटल विश्वास भी था······।' विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक की 'काकी' शीर्षक कहानी भी इसी प्रकार की है।

आत्म-कथात्मक पद्धति

इसमें कहानी एक पात्र के मुख से कहलाई जाती है। इसमें कहने वाले पात्र को अपने सम्बन्ध में निकटतम जानकारी होती है और अपने सम्बन्ध की हृदयस्थ बातों को भी साधिकार कह सकता है। किन्तु उसे दूसरे पात्रों का भी ध्यान रखना पड़ता है। उनके चरित्र [illegible] भी विकसित होने का अवसर देना पड़ता है। दूसरे के चरित्र का उद्घाटन उन पात्रों के

कार्यों या वचनों द्वारा ही करा ही सकता है। दूसरों के बाहरी व्यापारों को तो वह अपनी जानकारी से कह सकता है किन्तु उनके मानसिक व्यापारों के सम्बन्ध में वह अनुमान से ही कह सकता है। वह उस सर्वज्ञता के साथ नहीं कहता जिससे कि ऐतिहासिक ढङ्ग का कहानीकार कहता है। इस प्रकार की कहानियों के भी बहुत उदाहरण मिल सकते हैं पर इतने नहीं जितने कि ऐतिहासिक पद्धति के प्रेमचन्द जी की 'बड़े भाई साहब'। नाम की कहानी इसका अच्छा उदाहरण है। "मेरे भाई साहब मुझ से पाँच साल बड़े थे, लेकिन केवल तीन दरजे आगे। उन्होंने भी उसी उम्र में पढ़ना शुरू किया था जब मैंने शुरू किया था'''...।" जैनेन्द्र जी की 'कः पन्थाः' शीर्षक कहानी, तथा उग्रजी की 'मा' शीर्षक कहानियाँ इसी प्रकार की हैं। मुंशी प्रेमचन्द की कहानी में 'मैं' (छोटे भाई) को दूसरे पात्र के बराबर ही महत्त्व मिला है। अन्य दो कहानियों में 'मैं' वक्ता मात्र है।

पत्र-प्रणाली

इस प्रणाली में पत्रों द्वारा ही सारी कथा विकसित होती है। इस घटना-क्रम का बड़े कौशल से उल्लेख करना पड़ता है। चरित्र-चित्रण के लिए भी इसमें कम गुन्जाइश रहती है। इसमें तारतम्य टूटा-सा रहता है, किन्तु घटनाओं का उतना उल्लेख हो जाता है जिससे कि थोड़ी कल्पना के सहारे टूटे तार जुड़ जायँ। चन्द्रगुप्त विद्यालङ्कार की 'एक सप्ताह' शीर्षक कहानी इसका अच्छा उदाहरण है।

कथोपकथन-पद्धति

इस पद्धति में कथोपकथन की प्रधानता रहती है। घटना-क्रम का भी उल्लेख कथोपकथन द्वारा होता है। इसमें कथा के तन्तुओं को जोड़ने और उसको आगे बढ़ाने का श्रेय कथोपकथन में भाग लेने वाले सभी पात्रों को रहता है। कहानीकार उसको इकट्ठा मात्र कर देता है और वार्तालाप की परिस्थिति से परिचित कराता चलता है। कौशिकजी की 'सनक' नाम की कहानी इसका एक उदाहरण है। जैनेन्द्रजी ने भी कुछ संवादात्मक कहानियाँ लिखी हैं।

कहानियों के तत्त्वों में किसी एक तत्त्व की प्रधानता के आधार पर कहानियों का विभाजन किया जा सकता है और उनकी शैलियों में भी थोड़ा अन्तर हो जाता है। जैसे घटनात्मक कहानियों में विवरण (Narration) की प्रधानता रहती है और वातावरण-प्रधान कहानियों में वर्णन (Description) की प्रधानता रहती है। विवरणप्रधान कहानियों में गति कुछ अधिक होती है। एक घटना के बाद दूसरी आती है। उसमें औत्सुक्य को जाग्रत रखकर आगे बढ़ते रहने की कला रहती है और वर्णन में एक परिस्थिति या दृश्य को कुछ देर के लिए स्थायी बनाकर उसका ब्यौरेवार चित्रण किया जाता है। वर्णन में कल्पना का खेल अधिक रहता है। जासूसी-तिलस्मी कहानियों में बुद्धि-तत्त्व की कुछ प्रधानता रहती है। प्रेमचन्दजी की कहानियों में भी चरित्र के साथ वर्णन रहता है। ऐतिहासिक कहानियों में जैसे 'रानी सारन्धा' विवरण की मात्रा कुछ अधिक रहती है।

तत्त्वों के आधार पर

वातावरण की प्रधानता उन कहानियों में विशेष महत्त्व प्राप्त कर लेती है जिनमें वातावरण चरित्र पर प्रभाव डालता है। ऐतिहासिक कहानियों में भी जैसे वृन्दावनलाल वर्मा की कहानियों में वातावरण और स्थानीय रङ्ग (Local colour) का कहीं-कहीं प्राधान्य हो जाता है। प्रसादजी भी वातावरण के उपस्थित करने में बड़े सिद्धहस्त थे। उनकी 'पुरस्कार' कहानी से निम्न उद्धरण दिया जाता है—

वातावरणप्रधान

"आर्द्रा नक्षत्र, आकाश में काले-काले बादलों की घुमड़, जिसमें देव दुन्दुभी का गम्भीर घोष। प्राची के एक निरभ्र कोने से स्वर्ण-पुरुष झाँकने लगा—देखने लगा महाराज की सवारी। शैल-माला के अञ्चल में समतल उर्वरा भूमि से सौंधी बास उठ रही थी। नगर-तोरण से जयघोष हुआ, भीड़ में गजराज का चामरधारी शुण्ड उन्नत दिखाई पड़ा, वह हर्ष और उत्साह का समुद्र हिलोरें लेने लगा।"

मन पर प्रभाव डालने वाले वातावरण का उदाहरण हमको श्री चन्द्रगुप्त विद्यालङ्कार की 'डाकू' शीर्षक कहानी में उस स्थल पर मिलता है, जहाँ कि डाकू दरबार साहब में जाता है और वहाँ के धार्मिक वातावरण से प्रभावित हो उसके मन में पश्चात्ताप आ जमता है।

"मन्दिर के भीतर सुगन्ध की लपटें-सी उठ रही थीं। ग्रन्थी महोदय बहुत ही श्रद्धा-भाव से गुरु-ग्रन्थ पर चँवर डुला रहे थे। एक ओर रागियों की टोली बैठी थी और सितार, तबला तथा हारमोनियम के साथ वह आलाप ले रही थी—

'हम निरगुन तुम तत्ता ग्यानी।'

"भक्त लोग चुपचाप सुन रहे थे। पन्द्रह-बीस मिनट बीत गये और यह आलाप समाप्त नहीं हुआ—

'हम निरगुन तुम तत्ता ग्यानी।'

"मालूम नहीं यह आलाप कब से शुरू हुआ था और कब तक जारी रहेगा। गाने वाले गाये जा रहे हैं और सुनने वाले सुने जा रहे हैं—**हम निरगुन तुम तत्ता ग्यानी।**

"इन सरल से शब्दों में कुछ ऐसी गहराई थी, इस स्वर में कुछ ऐसा माधुर्य था, चारों ओर के वातावरण में कुछ ऐसा जादू था कि जन्म भर के डकैत और हत्यारे सिकन्दरसिंह के अन्तःकरण में भी क्षण भर के लिए मानों आत्मप्रकाश का उजियाला-सा छा गया।"

चरित्र-चित्रण प्रधान

चरित्र-प्रधान कहानियों में जहाँ बाहरी व्यक्तित्व का वर्णन होता है वहाँ वर्णन का ही प्राधान्य रहता है, जैसे प्रसादजी की 'गुण्डा' नाम की कहानी में "वह पचास वर्ष से ऊपर था। तब भी युवकों से अधिक बलिष्ठ और दृढ़ था। चमड़े पर झुरियाँ नहीं पड़ी थीं। वर्षा की झड़ी में, पूस की रातों की छाया में, कड़कती हुई जेठ की धूप में, नंगे शरीर घूमने में वह सुख पाता था। उसकी चढ़ी मूँछें बिच्छू के डङ्क की तरह देखने वालों की आँखों में चुभती थीं। उसका साँवला रङ्ग साँप की तरह चिकना

और चमकीला था। उसकी नागपुरी धोती का लाल रेशमी किनारा दूर से ही ध्यान आकर्षित करता। कमर में बनारसी सेल्हे का फेंटा, जिसमें सीप की मूँठ का बिछुआ खुँसा रहता था। उसके घुँघराले बालों पर सुनहले पल्ले के साफे का छोर उसकी चौड़ी पीठ पर फैला रहता। ऊँचे कन्धे पर टिका हुआ चौड़ी धार का गंडासा। यह थी उसकी धज। पञ्जों के बल जब वह चलता उसकी नसें चराचर बोलती थीं। वह गुण्डा था।"

चरित्र जहाँ पर मानसिक गुणों और आन्तरिक व्यक्तित्व की दृढ़ता में दिखाया जाता है वहाँ वर्णन तो नहीं रहता किन्तु शब्दों में कुछ अधिक बल दिखाया जाता है—इसका उदाहरण प्रसादजी के 'व्रतभङ्ग' से नीचे दिया जाता है। देखिये—

"तुम बहुत कटु हो इस समय। अच्छा फिर कभी..."

"न अभी, न फिर कभी। मैं दरिद्रता को भी दिखलाऊँगा कि मैं क्या हूँ। इस पाखण्ड-संसार में भूखा रहूँगा, परन्तु किसी के सामने सिर न झुकाऊँगा। हो सकेगा तो संसार को बाध्य करूँगा। झुकने के लिए।"

चरित्र-चित्रण की भी कई शैलियाँ हैं—प्रत्यक्ष या विश्लेषणात्मक जिसमें लेखक स्वयं पात्र का विश्लेषण कर देता है और परोक्ष या नाटकीय जिसमें पात्रों के कार्य, कथोपकथन अथवा किसी एक पात्र द्वारा दूसरे पात्र का चित्रण, जैसे प्रेमचन्द की 'गिला' नाम की कहानी में पत्नी ने अपने पति का चित्रण किया है। 'गिला' चरित्रप्रधान कहानी का अच्छा उदाहरण है। उसमें सभी प्रकार के चित्रण हैं। कहानी के एक-एक तत्त्व के समावेश की कई शैलियाँ होती हैं, जैसे प्लॉट या कथानक का प्रारम्भ कहीं कथोपकथन से तो कहीं वातावरण के चित्रण से, जैसे 'पुरस्कार' कहानी में जिसका उद्धरण हम ऊपर दे चुके हैं। कुछ कहानियों का प्रारम्भ घटनाओं से होता है। अन्त करने के कई ढंग हैं। किन्तु ये ब्युरे की बातें हैं।

घटना-प्रधान कहानियों का उल्लेख ऊपर हो चुका है। कुछ कहानियाँ

भाव-प्रधान भी होती हैं। प्रसादजी की कहानियों में प्रायः भाव की प्रधानता रहती है। 'बिसाती' उनकी भावप्रधान कहानियों का अच्छा उदाहरण है—उसमें थोड़ी प्रतीकात्मकता भी है। गुल और बुलबुल प्रेमिका और प्रेमी के प्रतीक हैं। कहानी के अन्त में शीरी कहती है—

भावप्रधान कहानियाँ

"एक मेरा पालतू बुलबुल शीत में हिन्दुस्तान की ओर चला गया था, वह लौटकर आज सवेरे दिखलाई पड़ा पर जब वह पास आ गया और मैंने उसे पकड़ना चाहा तो वह उधर कोहकाफ की ओर भाग गया।"

शीरी के स्वर में कम्पन था फिर भी वे शब्द बहुत सँभलकर निकले थे। सरदार ने हँसकर कहा—'फूल को बुलबुल की खोज? आश्चर्य है!'

प्रसादजी ने कहानी की सारी भावुकता इस वाक्य में उँड़ेल दी है—"बिसाती अपना सामान छोड़ गया, फिर लौटकर नहीं आया। शीरी ने बोझ तो उतार लिया पर दाम नहीं दिया।"

भगवतीप्रसाद वाजपेयी की 'सूखी लकड़ी' नाम की कहानी में भी प्रतीकात्मकता है। सूखी लकड़ी वास्तव में सूखा ईंधन तो था ही किन्तु बेचने वाली की भी दीन-हीन दशा की प्रतीक भी।

भाषा की दृष्टि से भी कई कोटियाँ हो सकती हैं। किन्हीं कहानियों की भाषा (जैसे मुंशी प्रेमचन्द की कहानियों की) चलती हुई मुहावरेदार होती है जिससे हिन्दी-उर्दू के शब्द निर्विरोध रूप से आते हैं। इसका एक उदाहरण प्रेमचन्दजी की 'बड़े भाई साहब' शीर्षक कहानी से दिया जाता है—'मेरे फेल होने पर मत जाओ, मेरे दर्जे में आओगे तो दाँतों पसीना आजायेगा, जब अलजबरा और जामेट्री के लोहे के चने चबाने पड़ेंगे और इंग्लिस्तान का इतिहास पढ़ना पड़ेगा। ......मेरे दर्जे में आओगे लाला, तो ये सारे पापड़ बेलने पड़ेंगे और तब आटे-दाल का भाव मालूम होगा।'

भाषा-शैली के आधार पर

कुछ कहानियाँ संस्कृत-गर्भित शैली की होती हैं जैसी प्रसादजी की हैं। इनमें संस्कृत तत्सम शब्दों का प्राधान्य रहता है और कहीं-कहीं उपमा-

रूपकों की झड़ी लग जाती है। इसका एक उदाहरण हम वातावरण के चित्रण में 'पुरस्कार' कहानी से दे चुके हैं। चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' की कहानियों में काव्यमयता और भावावेश और भी बढ़ा हुआ दिखाई देता है।

रमानाथ ने आवेश में कहा—'पूज्यवर' देखना चाहता हूँ, माता की उस मधुर मुस्कान को, जिसे देखकर विश्वेश्वर भी विमोहित हो गये थे। देखना चाहता हूँ, हिमाचल के तुषार-मण्डित सुवर्ण-शृङ्ग पर माता की फहराती हुई विजय-वैजयन्ती को। सुनना चाहता हूँ सौरम्य का वह श्रुति-मधुर कल-कल-नाद और भेंट में देना चाहता हूँ यह 'पंजर-बद्ध' हृदय।

आवेशपूर्ण शैली में छोटे-छोटे वाक्य होते हैं और मर्मोक्त होते हैं, क्योंकि भावावेश में एक ही बात मन में घूमती रहती है।

१०

भक्ति-काल की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

भक्ति-काल हिन्दी साहित्य का स्वर्ण-युग माना जाता है। इसी ने राम-रहीम की एकता स्थापित करने वाले कबीर और प्रेम की पीर के प्रचारक जायसी तथा साहित्य-क्षेत्र को रामकृष्ण-भक्ति की पावनी गंगा-जमुनी धाराओं से आप्लावित करने वाले तुलसी-सूर दिये जो हिन्दी काव्य-गगन के प्रकाश-पुंजमय ज्योतिपिण्डों में गिने गये। इन साहित्यिक शशि और सूर्य ने भावी साहित्य को ही नहीं वरन् ह्रासोन्मुख हिन्दू जाति को एक नया जीवन-रस प्रदान किया।

स्वर्ण-युग

साहित्य की ये देदीप्यमान विभूतियाँ साहित्य-क्षेत्र की कोई आकस्मिक घटनाएँ नहीं हैं। ये तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों की प्रतिफल थीं और उस समय की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वरदान-स्वरूप आयी थीं।

राजनीतिक परिस्थितियाँ

ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में राजनीतिक क्षेत्र में केन्द्रीय शक्ति का अभाव-सा रहा। राजाओं की पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विताएँ उनके बल को क्षीण कर रही थीं। उनमें राष्ट्रीयता के एक सूत्र में बँधकर शत्रु से संगठित मोर्चा लेने की शक्ति न रह गई थी। फलतः गोरी-गजनी के आक्रमणों का आतंक फैला। वे आये और विजय-गर्व और धन-सम्पत्ति से सम्पन्न हो चले गये। किन्तु अपने पीछे गुलाम, खिलजी तथा तुगलक वंशों को अपने उत्तराधिकारियों के रूप में छोड़ गये। ये लोग यहाँ के होकर अवश्य रहे किन्तु शासन में कोई स्थायी सुव्यवस्था न ला सके और न शक्तिशाली केन्द्रीय शासन स्थापन कर सके। फिर भी उन्होंने स्थापत्य के कुछ अच्छे

नमूने दिये। इस सम्बन्ध में कुतुबुद्दीन ऐबक की बनवाई हुई कुतुब मीनार और कुतुब मस्जिद और अलाउद्दीन खिलजी की बनवाई हुई कई इमारतें 'हजार सितून महल' आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। हिन्दुओं ने इस शासन को विधि के विधान के रूप में स्वीकार तो किया था किन्तु उससे सन्तुष्ट न थे। मुगलों का शासन आया। वह एक शक्तिशाली केन्द्रीय सत्ता स्थापित करने में कुछ सफलता प्राप्त कर सका। मुग़ल शासन में कला-कौशल की भी उन्नति हुई। हिन्दू-मुस्लिम कलाओं का सम्मिश्रण, जो फतहपुर सीकरी में देखने को मिलता है, हुआ।

पहले तुर्क अफ़गानों का अधिकार रहा और पीछे मुगलों का शासन आया किन्तु धार्मिक क्षेत्र में हिन्दुओं को हीनता का भाव अनुभव करते रहना पड़ा। उनकी सामाजिक स्थिति अच्छी न थी। मुग़ल काल में सुधरी अवश्य थी। विदेशी विजेतागण उच्च पदों का काम तो सँभाल ले जाते थे किन्तु छोटे पदों का काम स्थानीय लोगों से ही लेना पड़ता था। मुगल-राज्य में हिन्दुओं को उच्च पद भी मिला और हिन्दू-मुसलमानों का वैचारिक आदान-प्रदान भी बढ़ने लगा।

इन राजनीतिक जय-पराजयों के साथ और भी शक्तियाँ काम कर रही थीं। मुसलमान विजेता केवल साम्राज्य बनाने ही नहीं आये थे, वे धर्म-प्रचारक भी थे। विजित और विजेताओं की सामाजिक स्थिति में तो फ़र्क रहता ही था। हिन्दू लोग धर्म-परिवर्तन मात्र से विजेताओं के अधिकार और सुविधाएँ सहज में प्राप्त कर लेते थे। हिन्दुओं में वर्ण-विषमता के कारण साधारण हिन्दुओं और विशेषकर शूद्रों की दशा स्पृहणीय न थी। हिन्दुओं में वे इसलिए अनादृत होते थे कि वे शूद्र थे और मुसलमानों में इसलिए आदर न पाते थे कि वे हिन्दू थे। वे घर के रहे न घाट के। उनके लिए विजेताओं का धर्म स्वीकार कर लेना ही अधिक श्रेयस्कर था। ऐसी घटनाओं ने हिन्दुओं का नेत्रोन्मीलन किया। इस्लाम धर्म सप्राण धर्म था। उसमें जाति की अपेक्षा धर्म पर अधिक बल था। हिन्दुओं को भी अपना हृदय-मन्थन करना

सामाजिक स्थिति

पड़ा। सूफ़ी लोग कुछ मुलायम तबियत के मुसलमान थे। उनके संगीत, प्रेम और एकात्मवाद की ओर झुकाव ने मुसलमानों के प्रति विद्वेष-भाव को कम करने में सहायता की। राजनीतिक कारणों से तथा कला के क्षेत्र में पारस्परिक सहयोग की आवश्यकता प्रतीत हुई। खिंचाव और तनातनी का वातावरण कुछ घटने लगा। हिन्दू लोग भी मुसलमानी समता-भाव से कुछ प्रभावित हुए।

वज्रयान और नाथपन्थ

इधर हिन्दुओं और बौद्धों में भी स्वतन्त्रता के आन्दोलन चल रहे थे। बौद्धों में वज्रयान शाखा में स्वतन्त्रता ने स्वेच्छाचार का रूप धारण कर लिया था। बौद्ध धर्म की चारित्रिक शुद्धता का दूसरा अन्त दृष्टिगोचर होने लगा। वज्रयान के चौरासी सिद्ध हुए। उनमें से मत्स्येन्द्रनाथ भी एक थे। वज्रयानी सिद्धों की भाषा में हिन्दी का पूर्व रूप दिखाई देता है। हिन्दुओं में भी वज्रयान का प्रतिरूप वाम मार्ग के रूप में आया। उसमें पंच मकारों—मदिरा, मांस, मैथुन आदि को मुख्यता मिली। यद्यपि वे इनका आध्यात्मिक अर्थ भी लगाते हैं तथापि भौतिक का ही व्यवहार में प्राधान्य रहा। शैव सम्प्रदाय के हठयोग को अपनाकर वज्रयान का शुद्ध रूप नाथपन्थ में दिखाई दिया। गुरु गोरखनाथ नाथपन्थ के प्रवर्तक हुए। वे मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य थे। चेले ने अपने गुरुदेव को वज्रयान की स्वतन्त्रता के अतिवाद से बचाया। नाथपन्थ में चारित्रिक शुद्धता के साथ जाति-पाँति-सम्बन्धी स्वतन्त्रता आई और उसमें हठयोग का भी समावेश हुआ। इस सम्प्रदाय का सन्त कबीर पर बहुत प्रभाव पड़ा।

धार्मिक उत्थान के दो प्रकार के प्रयास चल रहे थे। एक लोक-भाषा द्वारा सन्तों के और दूसरे संस्कृत भाषा द्वारा आचार्यों के। ईश्वर-प्राप्ति के

भक्ति-मार्ग

तीन मुख्य साधन हैं—ज्ञान, कर्म और भक्ति। ज्ञान और कर्म जनसाधारण की पहुँच के बाहर की वस्तुएँ थीं। यद्यपि यह कहा गया है कि **'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'** अर्थात् ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं तथापि उसके लिए शास्त्रीय ज्ञान और

आध्यात्मिक साधना नितान्त आवश्यक हो जाती है। उसके लिए जन-साधारण के पास न मस्तिष्क था और न साधना के लिए अवकाश। फिर भी ज्ञानधारा किसी न किसी रूप में प्रवाहित होती रही। कर्म से यहाँ अभिप्राय है कर्मकाण्ड का। बौद्ध और जैन धर्म ने हिंसात्मक कर्मकाण्ड के विरुद्ध जोरदार आवाज उठाई थी और उनके प्रभाव से उसका ह्रास हो रहा था। कुमारिल भट्ट, गुरु प्रभाकर और मण्डन मिश्र के नेतृत्व में कर्मकाण्ड के पुनरुत्थान के प्रयत्न हो रहे थे। शंकराचार्य ज्ञानमार्ग के अनुयायी थे। शंकराचार्य ने भी कर्मकाण्ड के विरुद्ध आवाज उठाई। उनको दो शक्तियों से लोहा लेना पड़ा। एक ओर बौद्धों से दूसरी ओर मीमांसक कर्मकाण्डियों से। कर्मकाण्डियों में कुमारिल भट्ट अग्रगण्य थे किन्तु जब शंकराचार्य पहुँचे वे भुसी की अग्नि में जलकर इस बात का प्रायश्चित्त कर रहे थे कि उन्होंने बौद्ध गुरुओं से अपने को बौद्ध बतलाकर विद्या सीखी और फिर उन्हीं की पुस्तकों का खण्डन किया। उन्होंने स्वामी शंकराचार्य को मण्डन मिश्र के पास भेज दिया। कर्मकाण्ड का मार्ग लोक-प्रिय न हो सका। हत्या से लोगों को स्वाभाविक घृणा थी और वह व्यय-साध्य भी थी। जनता के लिए भक्ति ही एक सुलभ उपाय था। उन दिनों सुलभ उपायों की ही आवश्यकता थी, क्योंकि मुसलमान हो जाने मात्र से ऐहिक और पारलौकिक सुख मिल जाने की आशा हो जाती थी। ऐहिक समुत्थान तो प्रत्यक्ष ही था।

लोक-भाषा के कवियों और संस्कृत के आचार्यों दोनों ही प्रकार के चिन्तकों ने ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को अधिक प्रधानता दी। दक्षिण में आलवार सन्तों ने विष्णु की भक्ति का प्रचार किया। इन सन्तों के भगवद्-भक्ति सम्बन्धी गीतों के संग्रह 'प्रबन्धम्' के नाम से प्रख्यात हैं। इन भक्तों में अन्दाल नाम की एक भक्तिन का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। उसका जन्म सम्वत् ७७३ में हुआ था। उत्तर भारत की मीरा से कई सौ वर्ष पूर्व उसने भी मीरा की भाँति दाम्पत्य-भाव से भक्ति की थी और उसी से सम्बन्धित गीत गाये थे। उसके भजनों का संग्रह 'तिरुप्पावई' नाम

की पुस्तक में मिलता है।

महाराष्ट्र में नामदेव (कोई इनको तेरहवीं शताब्दी का और कोई चौदहवीं शताब्दी का मानते हैं) और ज्ञानदेव ने भक्ति का प्रचार किया। नामदेव का झुकाव सगुण की ओर अधिक था और ज्ञानदेव नाथपन्थ से प्रभावित थे। पीछे से नामदेव पर भी नाथपन्थ का प्रभाव पड़ा। नाथपन्थ की हठयोगी साधना में कहीं बाहर जाने की जरूरत नहीं पड़ती थी। सारा ब्रह्माण्ड सूर्य और चन्द्र, गंगा और जमुना, चक्रों और इडा-पिंगला आदि नाड़ियों में मिल जाता था। न मन्दिर की जरूरत थी और न मस्जिद की। इसलिए मुसलमान सूफी भी नाथपन्थ से कुछ-कुछ प्रभावित हुए। नामदेव ने मराठी में अभंग तो लिखे ही, हिन्दी में भी उनके कुछ पद मिलते हैं। उन्होंने कबीर से पहले ही हिन्दू और मुसलमान दोनों को फटकारा था।

हिन्दू अन्धा, तुरकों काना। दुवो ते ज्ञानी समाना।
हिन्दू पूजे देहरा मुसलमान मसीद। नामा सोई सेविया जहं देहरा न मसीद।

बंगाल और बिहार में भी भक्ति का प्रचार था। चैतन्य महाप्रभु (जन्म संवत् १५४७) के प्रभाव से गीतकाव्य की परम्परा, जिसका आरम्भ जयदेव की संस्कृत की कोमल-कान्त पदावली से हुआ था और जिसका रूप विद्यापति और चण्डीदास की कविता से निखरा था, ब्रज में भी पहुँची। वहाँ भी गायकों की स्थानीय गीत-परम्पराएँ थीं। वह समय प्रचार का था। भक्ति-तन्मयता भी गीत में प्रकट होती है। गीत जनता के हृदय के अधिक निकट थे। सूफ़ी प्रभाव से मुसलमानों में भी संगीत की प्रतिष्ठा हो गई थी। मुग़ल सम्राटों के यहाँ भी इसका आदर था। इसलिए भक्ति-काल में गीत की शैली को अधिक मुख्यता मिली।

लोक-भाषा के सन्तों और भक्तों के कार्य को आचार्यों के कार्य से पुष्टि मिली। शंकराचार्य का हम उल्लेख कर चुके। उन्होंने अद्वैतवाद का प्रचार किया। उनका सिद्धान्त था कि 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः' अर्थात् ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या

आचार्यों के मत

(माया) है और जीव ही ब्रह्म है। उनका प्रभाव ज्ञानमार्गी सन्तों पर पड़ा। किन्तु ज्ञान-मार्ग जनता को हृदय से तुष्ट न कर सका। भय-ग्रस्त व्यक्ति को ऐसा महान् व्यक्ति चाहिए था जो उनके सुख-दुख की सुनता और उनकी रागात्मिका वृत्ति को तोष देता। ज्ञान में नेत्र है किन्तु उसे संचालन-शक्ति रागात्मिका वृत्ति से ही मिलती है। शंकराचार्य के अद्वैत सिद्धान्त की प्रतिक्रिया हुई। शंकराचार्य का वेदान्त दर्शन (ब्रह्म सूत्रों) का भाष्य शारीरिक भाष्य कहलाता है। रामानुजाचार्य (जन्म संवत् १०७३) ने उन्हीं ब्रह्म सूत्रों पर श्रीभाष्य लिखकर विशिष्टाद्वैत का प्रतिपादन किया। उन्होंने ब्रह्म (हरि या विष्णु) को अद्वैत अवश्य माना किन्तु उसको जीव और जगत से विशिष्ट माना अर्थात् वे ब्रह्म के विशेषण हैं और वे दोनों सत्य हैं; इसीलिए उनका मत विशिष्टाद्वैत कहलाया। निम्बार्काचार्य (जन्म संवत् १२१९) ने अपना द्वैताद्वैत सिद्धान्त चलाया। उन्होंने जीव और ब्रह्म में कुछ व्यापक गुणों को बतलाते हुए भी उनकी अनेकता भी मानी। माध्वाचार्य (जन्म संवत् १५३५) ने शुद्ध अनेकता का (जीव-जड़ का भेद, जीव-ब्रह्म का भेद, जीव-जीव का भेद) प्रतिपादन किया। वल्लभाचार्य ने (जन्म संवत् १५३५) अणु भाष्य लिखकर शुद्धाद्वैत का प्रचार किया। उपासना पक्ष में यह मार्ग पुष्टि मार्ग कहलाता है। पुष्टि का अर्थ भगवदनुग्रह है। भगवान् की कृपा से ही सद्गति मिलती है। शुद्धाद्वैत में ब्रह्म को पूर्ण सच्चिदानन्द स्वरूप माना है। जीव में आनन्द का तिरोभाव रहता है। सत् और चित् का आविर्भाव रहता है। जड़ में चित् का भी तिरोभाव होता है केवल सत् रहता है। ये सब संसार को सत्य मानते थे। इन आचार्यों का सम्बन्ध दक्षिण से है किन्तु इन्होंने उत्तर भारत में रहकर वहाँ की विचार-धारा को प्रभावित किया है।

इन सभी सम्प्रदायों ने भक्ति को प्रधानता दी है। रामानुजाचार्य ने वैष्णव सम्प्रदाय हरि या विष्णु की उपासना बतलाई। उनके प्रायः त और हिन्दी कवि सौ वर्ष पीछे रामानन्द जी ने रामोपासना पर बल दिया और जाति-पाँति से सम्बन्धित दीक्षा के नियमों को भी कुछ ढीला किया।

कबीरदास जी इन्हीं के शिष्य थे । रैदास और सेन नाई भी इनके शिष्य माने जाते हैं। तुलसीदास भी रामानन्द सम्प्रदाय में दीक्षित थे। वे दिन दैवी चमत्कारों के थे। नाथपन्थी अपने योग के चमत्कारों द्वारा जनता को मोहित कर कर्तव्य मार्ग से विचलित कर रहे थे। सूफी फकीर भी अपनी झाड़-फूँक और चमत्कार से वह काम कर रहे थे जो तलवार नहीं कर सकी थी। *वैष्णव सम्प्रदायों में हठयोगी साधुओं के योगमार्ग का डटकर विरोध हुआ।*

शेष वैष्णव सम्प्रदायों का सम्बन्ध कृष्ण-भक्ति से रहा है। विद्यापति निम्बार्क सम्प्रदाय में दीक्षित रहे हैं। अष्टछाप के कवि सब वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्गी सम्प्रदाय के थे। रसखान भी इसी सम्प्रदाय के थे। मध्व सम्प्रदाय से प्रभावित चैतन्य महाप्रभु के सम्प्रदाय का भी बड़ा प्रभाव रहा है। गदाधर भट्ट चैतन्य सम्प्रदाय के ही थे।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है विजित और विजेताओं में धर्म-भेद के रहते हुए भी वे एक दूसरे के निकट आने की कोशिश करते थे। सूफी विचारक और गायक वेदान्त के सर्वेश्वरवाद और नाथ-पन्थियों के हठयोग से प्रभावित थे। हिन्दू जनता सूफी फकीरों के दैवी चमत्कार और झाड़-फूँक से अधिक प्रभावित थी। मुगल काल में बादशाह लोग भी धर्म की ओर कुछ झुके। रामायण, महाभारत, गीता आदि का फारसी में अनुवाद हुआ। हिन्दू संस्कृति के प्रति तत्कालीन शासन वर्ग की आस्था बढ़ी। मन्दिर-मस्जिद दोनों से दूर रहने वाले सन्तों के साधारण धर्म के प्रचार ने भी दोनों वर्गों की जनता को प्रभावित किया था। हिन्दू लोग भी मुसलमानी धर्म की सुख-सुविधाओं की प्रतिद्वन्द्विता में जाति के बन्धनों को शिथिल करते जाते थे। वैष्णव आचार्य भी कुछ मुलायम हो गये। यज्ञोपवीत का महत्त्व कण्ठी ने ले लिया था। अन्त्यज तो नहीं किन्तु शूद्र भी कण्ठी पहनकर मन्दिरों में अधिकारी पद प्राप्त कर लेते थे।

ऐक्य के प्रयत्न

इस प्रकार भक्ति-काल में नाथपन्थ की समता-भावना कुछ मर्यादा के

दो मनोवैज्ञानिक वृत्तियाँ

साथ धार्मिक सिद्धान्तों में अवतरित हुई ? हिन्दू लोग अपनी भौतिक शक्ति से तो अपनी प्रतिष्ठा नहीं स्थापित कर सकते थे किन्तु उन्होंने सांस्कृतिक पक्ष में अपना सिक्का जमाने का प्रयत्न किया। हार की मनोवृत्ति में दो ही बातें सम्भव होती हैं। या तो विजित जाति अपनी सांस्कृतिक श्रेष्ठता दिखाकर अपने हीनता भाव को दूर करे या फिर विजेताओं की मुसाहिबी करते हुए उनके हास-विलास में शामिल होकर अपने दुख को भूल जाय। पहला कार्य भक्ति-काल में हुआ और दूसरा कार्य रीति काल में। भक्ति-काल में राजशक्ति से स्वतन्त्र रहकर अपनी आध्यात्मिक शक्ति पर भरोसा करने की प्रवृत्ति आई।

चार शाखाएँ

भक्ति-काल में मेल के दोनों ओर से प्रयत्न हुए। हिन्दुओं की ओर से जो प्रयत्न हुए उसका नेतृत्व कबीर, धर्मदास, दादू आदि सन्त कवियों ने किया। मुसलमानों की ओर से जो समझौते का प्रयत्न हुआ उसका सूत्रपात्र जायसी, कुतबन, मंझन आदि सूफ़ी कवियों से हुआ। सन्तों पर ज्ञान मार्ग का अधिक प्रभाव रहा तो सूफ़ियों पर प्रेम मार्ग का। कुछ भक्त लोग ऐसे भी थे जो समझौते में न पड़कर (क्योंकि समझौते में कुछ खोना ही पड़ता है) निर्वैर-भाव से (सियाराममय सब जग जानी) अपनी स्वतन्त्र सत्ता बनाये रखना चाहते थे। ये थे भक्त कवि। इनकी दो शाखाएँ थीं। एक रामोपासक कवियों की जिनका प्रतिनिधित्व गोस्वामी तुलसीदासजी ने किया और दूसरी शाखा कृष्ण-भक्त कवियों [illegible] ने किया। इन रामोपासक कवियों का भगवान के [illegible] ओर अधिक झुकाव रहा और कृष्णोपासक कवियों का मन भगवान के माधुर्य पक्ष में अधिक रमा। रामोपासक कवियों ने, विशेषकर तुलसी ने मर्यादा का पक्ष लिया और कृष्णोपासकों ने प्रेम का पन्थ अपनाया। इनमें पहली दो निराकार की उपासक थीं और दूसरी सगुण और साकार की।

यद्यपि ये चार शाखाएँ थीं तथापि इनमें कुछ बातों में भाव की

अन्विति थी जिसके कारण ये सब भक्ति के एक सूत्र में बाँधी जा सकी। चारों शाखाओं में ईश्वर के प्रति आत्म-समर्पण की भावना के साथ नाम-स्मरण को प्राधान्य मिला। चारों में हृदय की एक विशेष कोमलता दिखायी देती है। चारों ने गुरु को पूरी-पूरी महत्ता दी है। चारों ही राज्याश्रय से स्वतन्त्र रहे और चारों ने जनता के लिए लिखा। भक्ति-काल का साहित्य जनता का साहित्य रहा और उसने जनता के साथ शासकों का भी उपकार किया।

अन्विति और एकता

कबीर की हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की नीति सम्राट् अकबर के समय और आजकल महात्मा गान्धी के नेतृत्व में सफल हुई। कबीर ने जनता को धर्म के वृथाडम्बर से बहुत अंशों में मुक्त कर साधारण धर्म की ओर प्रवृत्त किया। जायसी आदि सूफ़ी कवियों ने अवधी को अपनाकर तथा हिन्दू कथाओं को लिखकर हिन्दुओं के हृदयों में स्थान पाया। तुलसी ने एक अनुपम जीवन आदर्श देकर जाति का नैतिक उत्थान किया और सूर ने जीवन के माधुर्य पक्ष का उद्घाटन कर जीवन के प्रति आस्था उत्पन्न की। सूर ने जिस जीवन के प्रति आस्था उत्पन्न की, तुलसी ने उसका नैतिक स्तर ऊँचा किया। तुलसी का साहित्य लोक-धर्म की प्रतिष्ठा कर आज भी हमारा पथ-प्रदर्शक बना हुआ है।

> "जयन्ति ते सुकृतिनः रससिद्धाः कवीश्वराः
> येषां यशः शरीरे नास्ति जरामरणजं भयम्।"

११

भक्ति-काल की भाव-समन्विति

भक्ति-काल हिन्दी-साहित्य का स्वर्ण-युग माना गया है। इसी में साहित्य-गगन के सूर, शशि और उगन उदय हुए और इसी ने कबीर और जायसी जैसे उदार-हृदय तत्त्व-दर्शी मर्मी कवि दिये। यद्यपि यह काल एक ही नाम से पुकारा जाता है तथापि इनमें निर्गुण और सगुण भक्ति के आश्रित चार धाराएँ थीं जिनकी विचारधारा एक-दूसरे से बहुत कुछ भिन्न थी।

स्वर्ण-युग

हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की भावना से प्रेरित निर्गुण की दो शाखाएँ थीं—एक कबीर द्वारा प्रवर्तित ज्ञानाश्रयी शाखा, दूसरी जायसी प्रभृति सूफी कवियों की प्रेममार्गी शाखा। शुद्ध हिन्दुत्व की सांस्कृतिक चेतना और अविरोध भावना से अनुप्राणित सगुण भक्ति के अन्तर्गत दो शाखाएँ थीं—एक सूर प्रभृति कृष्णोपासक कवियों की कृष्णभक्ति-शाखा और दूसरी तुलसी प्रभृति कवियों की रामभक्ति शाखा। निर्गुण भक्त सन्त कहलाए और सगुण भक्त साहित्य में भक्त कवियों के नाम से अभिहित होते हैं।

इन चारों सम्प्रदायों के उपास्य के बोध और उपासना की भावना में अन्तर था। कबीर और जायसी दोनों ही भारतीय ब्रह्मवाद से प्रभावित थे किन्तु जहाँ कबीर में मुसलमानी प्रभाव से उसकी अतीतता और परात्परता (Transcendence) पर बल है वहाँ जायसी ने उसकी विश्व-व्यापकता (Emanance) का पक्ष उभार में लाया गया है। कबीर ने अपने ब्रह्म के हृदय में दर्शन किये हैं—'मोको कहाँ ढूँढ़ो बन्दे मैं तो तेरे पास में', 'दिल ही को खोज दीदार पावै' तो जायसी ने उसे प्रकृति में व्याप्त देखा है—

भावनाओं में अन्तर

"नयन जो देखा कमल भा, निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन जोति नग हीर॥"
"जेहि दिन दशन जोति निर्मई।
बहुतै जोति जोति ओहि भई॥"

कबीर ने निर्गुण के प्रेम को लौकिक प्रेम के धरातल पर लाने का प्रयत्न किया है तो जायसी ने लौकिक प्रेम को ऊँचा उठाकर उसे आध्यात्मिकता प्रदान की है। कबीर ने आकाश को जमीन पर घसीटा है तो जायसी ने जमीन को आकाश तक ऊँचा उठाया है। कबीर ने हिन्दू-परम्परा के अनुसार स्वयं राम की बहुरिया बनकर परमात्मा पुरुष के प्रति अपना विरह निवेदन किया है तो जायसी ने मुसलमानी परम्परा के अनुसार पद्मावत को ईश्वर का स्थान देकर रत्नसेन को साधक बनाया।

सगुण भक्ति की दोनों शाखाओं की विचारधारा में भी पारस्परिक भेद थे। सूर और तुलसी दोनों ही अपने उपास्य को ब्रह्म मानते थे। तुलसी में यह ब्रह्म-भावना कुछ अधिक थी। भक्त-कवि सगुण को ही निर्गुण का निजी रूप मानते थे और वे उसकी सगुणता के साथ उसकी साकारता से और उसके पार्थिव लीला अवतारों में भी विश्वास रखते थे। वास्तव में वे निर्गुण और सगुण दोनों को मानते थे किन्तु सगुण को अधिक महत्ता देते थे। सगुण को ही वे निर्गुण की व्यापकता का केन्द्र मानते थे।

सगुण के भेद

जहाँ सूर में इस सगुण ब्रह्म के माधुर्य पक्ष की प्रधानता थी वहाँ तुलसी में ऐश्वर्य पक्ष की। सूर के उपास्य गोपीवल्लभ गोपाल थे और तुलसी के उपास्य धनुषधारी दनुज-दलनकर्त्ता राजा राम थे। सूर में यद्यपि कृष्ण के शील, शक्ति और सौन्दर्य तीनों ही दैवी गुणों की अभिव्यक्ति हैं तथापि उसमें सौन्दर्य-पक्ष प्रबल है। तुलसी में शील और शक्ति की अपेक्षा सौन्दर्य का पक्ष कुछ गौण है (उसकी अवहेलना नहीं है)। तुलसी में जहाँ शास्त्रीय मर्यादा का प्राधान्य है वहाँ सूर में प्रेम की मुख्यता है। तुलसी के नियम सब कुछ हैं, सूर के लिए प्रेम के आगे नेम का कोई अस्तित्व नहीं।

इन अवांतर भेदों के होते हुए भी इन चारों सम्प्रदायों में एक विशेष रूप से भावों की समन्विति है जिसके कारण ये चारों सम्प्रदाय भक्ति के एक सूत्र में बँध सके हैं। इन सब सम्प्रदायों में नाम के

भक्ति-भावना

अनुकूल भक्ति की तो मुख्यता थी ही। यह तो सबसे व्यापक गुण था। कबीर ने ज्ञानोपासक होते हुए भी भक्ति को पर्याप्त महत्त्व दिया है। 'और कर्म हैं भक्ति-कर्म निष्कर्म' तथा 'भुक्ति मुक्ति माँगूँ नहीं, भक्ति ज्ञान दे मोहि' आदि वाक्य इसके प्रमाण हैं। कबीर पर वैष्णव धर्म का पर्याप्त प्रभाव था। उसी के कारण उन्होंने अहिंसावाद और भक्ति-भावना का प्रचार किया।

सूफियों का प्रेम तो भक्ति का एक व्यापक रूप ही था और भक्त कवि तो भक्ति को ही सर्वत्र मानते थे। इसके अतिरिक्त गुरु-

गुरु को महत्त्व

भक्ति का सूत्र चारों सम्प्रदायों में व्यापक था। कबीर ने गुरु को गोविन्द से भी बड़ा कहा है—'कबिरा हरि के रूठते गुरु के सरने जाय। कहि कबीर गुरु रूठते हरि नहीं होत सहाय॥' गुरु की महिमा को उन्होंने वर्णनातीत कहा है। देखिए—

"सब धरती कागद करूँ, लेखनि सब बनराय।
सात समुद की मसि करूँ, गुरु-गुन लिखा न जाय॥"

जायसी ने भी अपने पदमावत के आरम्भ में गुरु की वन्दना की है।

"सैयद असरफ पीर प्यारा।
जेहि मोहि पन्थ दीन्ह उजियारा॥"

जायसी ने पद्मावत-आख्यान में तोते को गुरु का स्थान देकर पन्थ दिखाने वाला कहा है—

"गुरु सुआ जेहि पन्थ दिखावा।"

तुलसी ने रामचरित्र के आरम्भ में गुरु को नर रूप हरि कहा है। (उसमें चाहे नरहरिदास की ओर भी संकेत हो) और "बंदउँ गुरु पद-पदम परागा; सुरुचि सुबास सरस अनुरागा॥" लिखकर उन्होंने गुरु के प्रति अचल भक्ति का परिचय दिया है।

सूरदासजी ने तो सारी कृष्ण-लीला के गान को गुरु के यशोगान के रूप में ही दिया है—(मैं तो सबरौ जस श्री आचार्य जी को ही वर्णन कियौ है; जो मैं कछू न्यारो देखतो तो नयारो करतो।" फिर भी उन्होंने अन्त समय गुरु-भक्ति का एक विशिष्ट पद गाया—

"भरोसौ दृढ़ इन चरनन केरौ
श्री बल्लभ नखचन्द्र छटा बिन सब जग माँझ अँधेरौ।"

तीसरी बात जो इन सम्प्रदायों में व्यापक रूप से वर्तमान थी वह नाम-महिमा थी। नाम को सभी ने महत्ता दी है क्योंकि वह स्मरण रूपी साधन का प्रधान अंग है। कबीरदास जी कहते हैं "जैसी माया मन रम्यौ तैसो नाम रमाय, तारामण्डल बेधि कै तब अमरापुर जाय।" सूफियों में भी नाम की महिमा स्वीकार की गई है। जायसी ने रत्नसेन द्वारा पद्मावती का नाम-स्मरण कराकर नाम-स्मरण की महत्ता प्रकाशित की है। देखिए—

नाम-महिमा

"औ संवरों पदमावति रामा।
यह जिउ नेवछावर जेहि नामा॥
× ×
आसन लेइ रहा होई तपा।
पदमावति पदमावति जपा॥"

तुलसीदास ने नाम निर्गुण और सगुण का मेल कराने वाला कहा है। वास्तव में सगुण और निर्गुण का समन्वय नाम में ही है। नाम शाब्दिक मूर्ति है, इसीलिए तुलसीदास जी ने उसको सबसे बड़ा कहा है। देखिए—

"अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा।
अकथ अगाधि अनादि सरूपा॥
मेरे मत बड़ नाम दुऊते।
किए जेहि जुग निज बल निज बूते॥"

तुलसी ने राम-नाम को राम से बढ़कर ही माना है। जैसे—

"राम एक तापस तिय तारी।
नाम कोटि खल कुमति सुधारी॥"

इस प्रकार हम देखते हैं कि तुलसी जैसे राम के अनन्य भक्त में भी नाम के द्वारा सगुण-निर्गुण की समन्वय-प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। सूर ने भी नाम-स्मरण का सहारा लिया है।

'जौ पै राम नाम धरतौं', 'कृस्न नाम बिनु जनम बाद ही वृथा जिवन कहा कीजै', 'है हरि नाम को अधार ।।' आदि वाक्य सूर की नाम-स्मरण में आस्था के द्योतक हैं।

आडम्बर का तिरस्कार

भक्ति-काल में चौथी प्रवृत्ति आडम्बर का तिरस्कार, साम्य-भाव तथा दलित और पीड़ित की ओर दया-भाव की है। कबीर का साम्य-भाव तो प्रसिद्ध ही है। देखिए—

"गुप्त प्रगटे है एकै मुद्रा; काकों कहिए ब्राह्मन शूद्रा
एक ब्रह्म ते सृष्टि रची है को ब्राह्मन को शूद्रा ?"

किन्तु वैष्णव कवियों में भी शूद्र के प्रति अपेक्षाकृत कोमलता का भाव है। मर्यादावादी गोस्वामी तुलसीदासजी ने वर्णभेद का तो आग्रह किया है किन्तु फिर भी उन्होंने राम-भक्ति के नाते निषाद और शबरी को अपनाया है। सूर इस मामले में कुछ अधिक उदार है, देखिए—

"कौन जाति, को पाँति बिदुर की जिनके प्रभु ब्यौहारत।
भोजन करत तुष्टि घर उनके राज मान मद टारत ।।
ओछे जनम, करम के ओछे ओछे ही अनुसारत ।।

× × ×

"स्वपच गरिष्ट होत (पद) रज सेवत
बिनु गोपाल-द्विज जनम नसावत।"

वर्ण-व्यवस्था में यद्यपि तुलसीदासजी ने विषमता को आश्रय दिया है तथापि उन्होंने पर-हित को सबसे बड़ा धर्म माना है

"पर-हित सरसि धर्म नहिं भाई।
पर पीड़न सम नहिं अधमाई।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि भक्ति-काल के सभी कवियों में हृदय की ईमानदारी, पाखण्ड और आडम्बर का विरोध, समझौते और समन्वय की प्रवृत्ति

तथा दीन और पापी के प्रति सहानुभूति का भाव था। जीवन से सम्पर्क भी उस काल की विशेषता थी। कबीर आदि सन्त कवियों ने जीवन की विषमताओं को दूर करके सदाचार पर जोर दिया है। जायसी ने लौकिक कथाओं द्वारा अध्यात्म की अभिव्यञ्जना की। सूर ने जीवन के माधुर्य-पक्ष का उद्घाटन कर उसके प्रति आस्था उत्पन्न की और तुलसी ने उस जीवन के लिए उच्च आदर्श दिये। उन आदर्शों को राम के जीवन में चरितार्थ कर मनुष्य के लिए शक्य और सम्भव बनाया। इसलिए उस काल का विशेष मान और महत्त्व है।

१२

ब्रजभाषा साहित्य का प्रवृत्तिगत विकास

खड़ी बोली के साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश करने से पूर्व ब्रजभाषा का सबसे अधिक साहित्यिक मान रहा है। वह हिन्दी साहित्य-जगत की राष्ट्रभाषा के स्पृहणीय पद पर आसीन थी। वह अपनी वास्तविक एवं प्रभावगत व्यापकता के कारण अपने इस पद को सवा सोलह आने सार्थक कर रही थी। जहाँ-जहाँ कृष्णोपासना का प्रभाव रहा है, वहाँ-वहाँ ब्रजभाषा का साम्राज्य रहा है—कुछ-कुछ वैसा ही जैसा कि भूषण ने शिवराज के अधिकार के सम्बन्ध में कहा है—'पूरब पछाँह देस दच्छिन से उत्तर लौं, जहाँ पातसाही तहाँ दावा सिवराज कौ'। ब्रजभाषा का क्षेत्र शौरसेन प्रदेश में ही सीमित नहीं रहा, वरन् मीरा और नरसी महता के कारण राजस्थान और गुजरात तक फैला हुआ था। वैष्णवों का कृष्ण-भक्ति सम्बन्धी साहित्य चाहे वह बंग भाषा में ही क्यों न हो, ब्रजबोली के नाम से प्रख्यात है। सुदूर दक्षिण में भूषण ने छत्रपति शिवाजी का यश-गान कर ब्रजभाषा की विजय वैजयन्ती स्थापित की थी।

ब्रजभाषा की महत्ता

भारत में सदा से मध्यदेश की भाषा का बोलबाला रहा है। शौरसेनी प्राकृत सब प्राकृतों में मुख्य गिनी जाती रही है। कुछ आचार्य तो उसका महाराष्ट्री से तादात्म्य करते हैं और शेष प्राकृतों का उसके माप-दण्ड से मापा जाना बतलाते हैं। शौरसेनी प्राकृत और अपभ्रंश दोनों से ही उनकी उत्तराधिकारिणी ब्रजभाषा का अधिक मान रहा है।

ब्रजभाषा का मान बे-मुल्क के नवाबों का-सा केवल शाही अभिजात्य पर ही निर्भर न था। वह अपने अपूर्व नाद-सौन्दर्य में पूर्ववर्तिनी भाषाओं से भी चार कदम आगे बढ़ी हुई थी और अर्थ-गाम्भीर्य में भी किसी से पीछे

न थी। उसके व्याकरण की विशेषताएँ बतलाना या तो डॉ० धीरेन्द्र वर्मा या किशोरीदास वाजपेयी का काम है। मेरे लिए अष्टाध्यायी तो व्याकरण के मूल-स्रोत माहेश्वर सूत्रों में अभिव्यक्त होने वाले डमरूनाद से अधिक सार्थक नहीं हो पाया है। 'प्राप्ते सन्निहिते मरणे' की बात को तो मैं छोड़ दूँगा, क्योंकि मृत्यु का नाम ही बुरा है, फिर बच्चनजी के शब्दों में 'उस पार न जाने क्या होगा' किन्तु उसके आगे की बात अवश्य कहूँगा 'नहि नहि रक्षित डुकृञ करणे' कहकर अपने व्याकरण सम्बन्धी अज्ञान पर सुन्दर दार्शनिक आवरण डाल लेना चाहता हूँ। फिर भी यह कहा जा सकता है कि मुख-सुख और श्रुति-मधुरता के जितने भाषा-शास्त्र सम्बन्धी साधन हैं वे सब ब्रजभाषा की उच्चारणगत विशेषताओं में उदारतापूर्वक अपनाये गये हैं। ब्रजभाषा न पश्चिम की खड़ीबोली की भाँति खड़ी और न पूरब की भाँति पड़ी है। उसके सर्वनाम, विशेषण और भूतकालिक कृदन्त न खड़ीबोली के हमारा छोटा, बड़ा, गया आदि की भाँति आकारान्त हैं जिनमें पूरा मुँह खोलकर दीनता से मुँह बा देने का प्रयोग सार्थक होता है और जिनमें सारी संचित प्राण-शक्ति का दिवाला निकल जाता है और न अवधी की-सी हमार, छोट, बड आदि लघ्वन्त शब्द सम्बन्धी उच्चारण की कृपणता है जिनमें कंजूसों की मुट्ठी की तरह ओष्ठपुट बन्द हो जाते हैं। उसके शब्द ओकारान्त होते हैं, जिनके उच्चारण में न ओष्ठ बिल्कुल चौपट खुल जाते हैं और न बन्द ही रहते हैं। ब्रजभाषा में सन्धियों से भी पूरा-पूरा लाभ उठाकर मुख-सुख की पूर्ण साधना की गई है। अवधी इकार बहुला है और ब्रजभाषा यकार बहुला। अवधी का उ ब्रजभाषा में व हो जाता है। अवधी में उ के पश्चात् आ का उच्चारण भी ब्रजभाषा के अनुकूल नहीं है। उसके दुआ और कुआर ब्रजभाषा में द्वार, क्वार हो जाते हैं। ब्रजभाषा में श का स, ण का न, व का ब हो जाना उसकी कोमल प्रकृति का द्योतक है। खैर, हमारा विषय ब्रजभाषा का व्याकरण नहीं है, उसका साहित्य है। मैं इस प्रसंगान्तर में इसलिए पड़ गया कि

ब्रजभाषा की कुछ विशेषताएँ

बता सकूँ कि ब्रजभाषा साहित्य की व्यापकता के क्या कारण हैं। मेरी समझ में संक्षेप में इसके तीन कारण हैं—

१ कृष्णोपासना का आश्रय।

२. श्रुति माधुर्य।

३. मानवी भावों के कोमल और सरस पक्ष से सम्बन्ध।

ब्रजभाषा काव्य के बाल्य-काल का सीधा परिचय हम लोगों को बहुत कम है। हिन्दी साहित्य-गगन के सूर्य सूर में हमको प्रथम दर्शन उसके पूर्व यौवन-काल में होते हैं। बाल्य-काल उसका अनुमेय मात्र है। यत्र-तत्र उसकी झाँकी हमको अवश्य मिली है। किन्तु उस बाल्यकाल और यौवन-काल में किसी विकास-सूत्र का पाना बहुत कठिन है। गुरु गोरखनाथ में हमें उसके गद्य की झलक मिलती है। उस समय यदि गद्य लिखा जा सका तो पद्य शायद उससे भी पूर्व अस्तित्व में आ चुका होगा। आचार्य शुक्ल जी ने संवत् १४०० के करीब के गद्य का जो नमूना दिया है, वह इस प्रकार है—

ब्रजभाषा-साहित्य का प्रारम्भिक काल

"श्री गुरु परमानन्द तिनको दण्डवत है। हैं कैसे परमानन्द, आनन्द-स्वरूप हैं शरीर जिन्हि को, जिन्हि के नित्य गाए तें शरीर चेतन्नि और आन्दमय होतु है।"

शुल्क जी ने ब्रजभाषा के दो प्राचीन पदों की ओर भी ध्यान आकर्षित किया है। एक के सम्बन्ध में तो यह कहा है कि वह समान रूप से कबीर और सूर में मिलता है। वह इस प्रकार है—

"है हरि भजन को परवान।
नीच पावै ऊँच पदवी, बाजते निसान॥
भजन को परताप ऐसो तिरे जल पाषान।
अधम भील, अजाति गनिका चढ़े जाति विमान॥"

दूसरा पद उन्होंने बैजू बावरे का, जो तानसेन के गुरु थे, बतलाया है।

वह इस प्रकार है—

"मुरली बजाय रिझाय लइ मुख मोहन तें
गोपी रीझ रहीं रस तानन सो
सुध बुध सब बिसराई"

बैजू बनवारी बंसी अधर धरी, बृंदावन चंद बस किए सुनत ही कानन—

सेन कवि के एक कवित्त को प्रकाश में लाने के लिए हम पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय के ऋणी हैं। श्रद्धेय मिश्रबन्धुओं ने शिवसिंह-सरोज के आधार पर सेन कवि का काल १५०३ बतलाया है। सेन का कवित्त इस प्रकार है—

**"जब ते गोपाल मधुबन को सिधारे आली
मधुबन भयो मधुदानव विषम सों।
सेन कहें सारिका सिखंडी खंजरीट सुक
मिल कै कलेस कीनों कालिंदी कदम सों॥"**

यों तो पृथ्वीराज रासो की भाषा को डॉ० श्यामसुन्दरदास जी ने पिंगल कहा है—पिंगल-डिंगल के विरोध में ब्रजभाषा का परिचायक है। वह पिंगल केवल सुव्यवस्थित छंदबद्धता और भाषा की प्रांजलता के कारण ही नहीं है, वरन् उसमें ब्रजभाषा का प्रभाव भी है। उसमें ओकारांत क्रियाओं का बाहुल्य है। यह बात राजस्थानी के व्यापक गुण के रूप में भी ली जा सकती है। कबीर के कहे जाने वाले पद में भी सन्देह हो सकता है। सेन के काल में भी अन्तर होने की सम्भावना है, किन्तु बैजू के पद से यह अवश्य संकेत मिलता है कि सूर से पहले कम से कम ब्रजभाषा गीत-काव्य की एक मौलिक परम्परा अवश्य थी और उसके कृष्ण के रूप-माधुर्य का—यदि दार्शनिक भाषा के प्रयोग के लिए अप्रतीत्व दोष से मेरी भाषा लांछित न की जाय तो मैं कहूँगा कि समवाय सम्बन्ध स्थापित हो चुका था। ब्रज-वनिताओं का-सा ब्रजभाषा का कृष्ण-प्रेम आज तक उसकी नस-नस में प्रवेश किये हुए है। **'लरिकाई को प्रेम अलि कहौ कैसे छूटै।'**

कृष्ण-काव्य की लोकप्रियता हिन्दी, बंगला आदि प्रान्तीय साहित्यों तक ही सीमित नहीं है, वरन् उसके मूलतन्तु संस्कृत और प्राकृत साहित्य में दूर तक दृष्टिगोचर होते हैं। कृष्ण की महत्ता और लोकप्रियता कृष्णोपासना की व्यापकता और प्राचीनता पर निर्भर है। विष्णु की महत्ता वैदिक काल में ही स्थापित हो चुकी थी। विष्णु शब्द 'विश्' धातु से बना है। वैदिक काल में उनका सूर्य से तादात्म्य रहा है। गीता में भी यह बात स्वीकृत हुई है, 'आदित्यानामहं विष्णुः'। वामनावतार की कथा का जो संकेत हमको बीज रूप से ऋग्वेद में मिलता है—

कृष्ण-काव्य की परम्परा

"विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा च निदधे पदं समूढ़मस्य पांशुरे" (ऋ० १, २, ७२) वह उनकी व्यापकता का द्योतक है। विष्णु के अवतारों में जितनी प्रसिद्धि और पूजा राम और कृष्ण को मिली, उतनी और किसी को नहीं। राम (सब में रमने वाले) और कृष्ण अपने वासुदेव नाम से व्यापकता के द्योतक होने के कारण विष्णु के ही पर्याय हैं।

"बसनात् सर्वभूतानां बसुत्वाद् देवयोनितः;
वासुदेवस्ततो वेद्यो बृहत्वाद् विष्णुरुच्यते।"

अर्थात्, सब भूतों में बसने के कारण अपनी दीप्ति के कारण देवताओं की उत्पत्ति के स्थान होने के कारण वे वासुदेव कहलाते हैं, और विराट रूप होने के कारण विष्णु कहलाते हैं।

ऋग्वेद में भी विष्णु का गौओं से सम्बन्ध रहा है। इस सम्बन्ध में डॉ० नलिनी मोहन सान्याल ने लिखा है कि ऋग्वेद में (१, २२, १८) विष्णु गोपा नाम से अभिहित हुए हैं। ऋग्वेद (१, १५४, ६) में विष्णु-लोक में बहुशृंग-विशिष्ट गायों का उल्लेख है। मैंने स्वयं वेदों के दर्शन तो शायद आर्य-समाज की कृपा से कर लिये हों, किन्तु उन्हें पढ़ा नहीं है। फिर भी मुझे विश्वास है कि यह उल्लेख ठीक है। इसमें अर्थ-भेद हो सकता है। किन्तु बीज रूप से गोपालकृष्ण सम्बन्धी मनमोहक कथाओं की आधार-भूमि

उपस्थित करने के लिए इतना उल्लेख पर्याप्त है। छांदोग्य उपनिषद् (३, १७, ६) में देवकी-पुत्र कृष्ण और आंगिरस के शिष्य के रूप में प्रतिष्ठित हैं। पाणिनी के समय वासुदेवक शब्द वासुदेव सम्प्रदाय की व्यापकता का साक्षी है। छांदोग्य उपनिषद् में आई हुई शिक्षाओं का गीता के मंतव्यों से साम्य होने के कारण छांदोग्य और गीता के कृष्णों का तादात्म्य किया जाता है। वे एक न भी हों, पर इससे यह अवश्य प्रमाणित हो जाता है कि कृष्ण नाम की प्रसिद्धि वैदिक काल में भी थी।

राधा रानी का नाम इतना पुराना नहीं प्रतीत होता। श्रीमद्भागवत में राधा नाम का उल्लेख नहीं है, इस बात को वैष्णव आचार्यों ने स्वीकार किया है। राधा नाम का नितान्त अभाव न था। अमरकोष में विशाखा नक्षत्र का दूसरा नाम राधा है। राधा का नाम न होते हुए भी श्रीकृष्णजी की बाल और यौवन-लीलाओं का माधुर्य पक्ष श्रीमद्भागवत् तथा पद्मपुराण में विकसित हो चुका था। श्रीमद्भगवत में एक विशेष गोपी का उल्लेख है। वह संभवतः राधा की ओर संकेत है पुराण की नहीं, कवि-कुल-गुरु कालिदास, वृन्दावन और गोकुल के माधुर्य से प्रभावित थे। वे मेघदूत में इन्द्र-धनुष से सुशोभित मेघ की उपमा मोर-मुकुट-मंडित गोपवेशधर विष्णु अर्थात् श्रीकृष्ण से देते हैं।

"येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापस्यते ते
बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः"—पू० मे० १५

इतना ही नहीं रघुवंश में भी भगवान् कृष्ण की सुन्दरता को उपमान बनाया गया और वृन्दावन और गोकुल के प्राकृतिक माधुर्य का प्रशंसात्मक शब्दों में उल्लेख हुआ है। इन्दुमती के स्वयंवर के अवसर पर उसकी सखी सुनन्दा मथुरा के राजा सुषेण की ओर इशारा करके कहती है—

"त्रस्तेन तार्क्ष्यात्किल कालियेन मणिं विसृष्टं यमुनौकसा यः।
वक्षःस्थलव्यापिरुचं दधानः सकौस्तुभं ह्रेपयतीव कृष्णम्॥
सम्भाव्य भर्तारममुं युवानं मृदुप्रवालोत्तरपुष्पशय्ये।
वृन्दावने चैत्ररथादनूने निर्विश्यतां सुन्दरि यौवनश्रीः॥

अध्यास्य चाम्भःपृषतोक्षितानि शैलेयगन्धीनि शिलातलानि ।
कलापिनां प्रवृषि पश्य नृत्यं कान्तासु गोवर्धनकन्दरासु ॥"
—रघुवंश, छठा सर्ग ४८, ४९, ५०

कालिदास से पूर्व भास ने भी बाल-चरित में कृष्ण-लीलाओं का वर्णन किया है ।

राधा का उल्लेख भी हम को प्राकृत तथा संस्कृत के साहित्य ग्रन्थों में मिलता है। हाल सप्तशती में एक श्लोक आता है, जिसका संस्कृत रूपान्तर इस प्रकार है—

"मुखमारुतेन त्वं कृष्ण गोरजो राधिकाया अपनयन ।
एतानां बल्लवींनामन्यासामपि गौरवं हरसि ॥"

ध्वन्यालोक में भी एक श्लोक उद्धृत है जिसमें राधा का उल्लेख है—

"तेषां गोपवधुविलाससहृदां राधारहःसाक्षिण ।
क्षेमः भद्रकन्दि शैलतनया तीरेलतावेश्मनाम् ॥

यह तो अवैष्णव साहित्य की बात रही । वैष्णव साहित्य तो राधा-कृष्ण की लीलाओं से ओत-प्रोत है। वैष्णवों में सबसे पहले निम्बार्काचार्य ने राधा की उपासना को महत्त्व दिया। वल्लभाचार्य, चैतन्य महाप्रभु आदि आचार्यों ने महत्त्व को और भी व्यापक बनाया। जयदेव ने अपनी कोमलकांत-पदावली द्वारा विलास-कला कौतूहल में सरस मनवालों के लिए हरि-स्मरण का साधन प्रस्तुत किया—

"यदि हरिस्मरणे सरसं मनो
यदि विलासकलासु कुतूहलम् ।
मधुरकोमलकान्तपदावलीं,
शृणु तदा जयदेव सरस्वतीम् ।"

विद्यापति ने भी इसी सूत्र को लेकर सरस काव्य की रचना की। चैतन्य महाप्रभु द्वारा ही जयदेव, विद्यापति और चण्डीदास के गीतकाव्य की भावलहरी वृन्दावन तक प्रवाहित हुई। चैतन्य महाप्रभु और उनकी शिष्य-परम्परा द्वारा भक्ति के अन्तर्गत जिस मधुर व उज्ज्वल रस की विवेचना

हुई उसमें नायिका-भेद के लिए आश्रय मिला, यद्यपि इनके नायिका-भेद का आधार आलंकारिकों के आधार से कुछ भिन्न था तथापि उसमें नायिकाओं के विभिन्न भेदों का विवेचन मिलता है। इस प्रकार कृष्ण-काव्य पर तीन मुख्य प्रभाव थे—

१. श्रीमद्भागवत आदि पुराणों में वर्णित श्रीकृष्णजी की लीलाएँ।

२. निम्बार्काचार्य, वल्लभाचार्य आदि आचार्यों की भक्ति-सम्बन्धिनी मीमांसाएँ।

३. चैतन्य महाप्रभु द्वारा लाई हुई जयदेव, विद्यापति और चण्डीदास की गीत-परम्परा तथा कीर्तन की प्रवृत्ति।

ये तीन मूल प्रभाव थे। इन प्रभावों के अतिरिक्त स्थानीय लोकगीतों का भी प्रचलन होगा। सन्त-साहित्य के गीत-समुदाय में लोक-गीत जन-प्रिय हो चुके थे। सूफियों के प्रेम-प्रधान गीतों का भी चलन था। देवमन्दिरों की गीतवाद्य-प्रधान उपासना-पद्धति ने भी कृष्ण-भक्त कवियों की गीतकाव्य रचना में प्रोत्साहन दिया होगा। इस धार्मिक और संगीत-प्रधान वातावरण में कृष्ण-काव्य की रचना हुई। कृष्ण-प्रेम की इस धारा ने भक्ति-साहित्य को ही प्रभावित नहीं किया, वरन् रीतिकालीन साहित्य को भी अनुप्राणित करती रही।

भक्तिकाल की मानसिक पृष्ठभूमि

साहित्य का विकास तत्कालीन जातीय जीवन और उसमें प्रवाहित होने वाली विचारधाराओं पर निर्भर रहता है। कवि और साहित्यकार अपनी विशेष संवेदनशीलता के कारण समाज के वायु-मण्डल में बिखरी हुई विचार-तरंगों को रेडियो के आकाशी (Ariel) की भाँति ग्रहण कर अपनी कल्पना और अभिव्यञ्जना के बल पर जनता के लिए ग्राह्य बना देते हैं। हिन्दी साहित्य भी समाज की गति के साथ प्रतिस्पंदित हुआ है। वीरगाथा-काव्य संघर्ष युग की देन है। किन्तु उसमें संघर्ष की मार-काट और एक छोटे राज्य को ही देश मानने की संकुचित पर सच्ची वीर-भावना के साथ प्रेमाश्रित स्त्री-परित्राण भावना

से उत्पन्न शृङ्गारिकता का भी पुट है। उन दिनों वसुन्धरा की भाँति रमणी भी वीरभोग्या तो नहीं, आजकल की भाषा में वीर-पूज्या रही। काव्य उन दिनों राज्याश्रित अवश्य था, किन्तु कुछ उदार भावना के साथ। कवि स्वयं भी वीरोल्लास में प्रवाहित हो जाता था। उस समय के वीरों की वीरता में दैवी भावना भी मिश्रित रहती थी और प्रचलित लोक-कथाएँ भी उनके जीवन के साथ अनुस्यूत रहती थीं। इसी कारण इस साहित्य में लोक-साहित्य के लक्षण उत्पन्न हो गये थे। फिर भी इस युग की चिन्ता-धारा राजाओं और उनसे सम्बन्धित वीरों तक ही सीमित रही। उसमें हृदय की सच्चाई, भावुकता और आलंकारिकता थी, किन्तु चिन्ता और विचार की कमी थी। क्रिया का प्राधान्य, चाहे वह कुछ विकृत रूप में ही रहा हो—अवश्य था।

हिन्दू शक्ति के ह्रास हो जाने पर वीरों को प्रोत्साहन देने की प्रवृत्ति कुछ निरर्थक-सी हो गई। 'निर्वाण दीपे किं तैलदानम्' उस समय हार की मनोवृत्ति का प्राधान्य था। देश में नैराश्य की छाया थी। ऐसी मनोवृत्ति की दो प्रतिक्रियाएँ होती हैं, या तो किसी दूसरे क्षेत्र में अपनी उच्चता प्रमाणित कर मानसिक क्षोभ को दूर करने की सचेत अथवा अवचेतनगत प्रवृत्ति या विलासिता के कृत्रिम आनन्द की मदिरा में अपनी विफलताओं को भुला देने का प्रलोभन। एक प्रवृत्ति स्वस्थ मन की है। दूसरी शैथिल्य जर्जरित अस्वस्थ मन की। पहली प्रवृत्ति भक्तिकाल में विकसित हुई और दूसरी का आभास हमको रीतिकाल में मिलता है। यह एक प्रवृत्ति-मात्र है। सारे रीतिकाल को इस मनोवैज्ञानिक तथ्य का उदाहरण समझना उसके साथ अन्याय करना है।

भारतवर्ष धर्मप्रधान देश है। साहित्य और कला में भी वह अपना अस्तित्व रखता था। जाति के उस उच्चता-भाव ने धार्मिक और मानसिक जागृति को कुछ विशेष गति प्रदान की। इसके अतिरिक्त जब धर्म और संस्कृति का संरक्षण लोहे की धार से होना असम्भव-सा प्रतीत होने लगा, तब विचारों के परकोटे को सुदृढ़ बनाने की आवश्यकता प्रबल हो उठी।

स्मृतियों की टीकाएँ बनीं, दर्शनों के भाष्य तैयार हुए, जिनके द्वारा भक्ति-भावना को दृढ़ करने के लिए शास्त्रीय आधार उपस्थित किया गया, साहित्य के क्षेत्र में आलंकारिक ग्रन्थ रचे गये। संघर्षजन्य भौतिक क्रिया की अपेक्षाकृत कमी मानसिक क्रिया से संतुलित हो उठी। उस समय आलस्यजन्य विलासिता नहीं उत्पन्न हुई थी और न जनता का मन शैतानी कारखानों (Devil's workshop) के रूप में परिणत हुआ था।

शान्ति स्थापित हो गई थी, किन्तु सामाजिक विषमताएँ अपना अस्तित्व जमाये हुए थीं। ये दो प्रकार की थीं—एक हिन्दू-मुसलमानों की, दूसरी अवर्ण-सवर्ण की। इन विषमताओं को दूर करने की आवश्यकता थी। सवर्ण और अवर्ण की विषमता को दूर करने की प्रवृत्ति बौद्ध-धर्म में विकसित हो चुकी थी। हीनयान में समता की भावना संघ के कठोर नियमों से शासित थी। उस शासन की प्रतिक्रिया महायान में हुई और वह वज्रयान और सहजयान में तन्त्रवाद के सहारे वाममार्ग की उच्छृङ्खलता तक पहुँचकर हिन्दू धर्म में लीन हो गई थी, किन्तु उसमें अपनी स्वतन्त्रता की छाप हठयोग-प्रधान गोरखपन्थ को उत्तराधिकार के रूप में प्रदान कर दी थी। परिस्थितियों ने उस विचारधारा से भी लाभ उठाया। गोरखपन्थ में समता की भावना के साथ महायान की भक्ति-भावना और शैव तन्त्रों से मिली हुई अद्वैत भावना भी थी। शांकर अद्वैतवाद विद्वानों की मण्डली में अपना मानसिक प्रभाव जमाये हुए था। उसकी प्रतिक्रिया में उठी हुई रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद, निम्बार्क के द्वैताद्वैतवाद, वल्लभ के शुद्धाद्वैतवाद और मध्वाचार्य के द्वैतवाद की विचारधाराएँ विचार-क्षेत्र को तरंगित कर रही थीं। इन्हीं धाराओं के अन्तर्गत रामानुज से प्रभावित रामानन्दी सम्प्रदाय और मध्व, विष्णु स्वामी तथा निम्बार्क से प्रभावित चैतन्य महाप्रभु के गौड़िया सम्प्रदाय ने जन्म लिया। रामानुज सम्प्रदाय के अन्तर्गत रामानन्दी सम्प्रदाय में रामोपासना का प्राधान्य रहा और शेष तीन सम्प्रदायों में कृष्णोपासना का। इन सब प्रतिक्रियात्मक विचारधाराओं में तीन व्यापक सूत्र थे—(१) विचार का भाव से समन्वय; (२) ईश्वर से

किसी रूप में रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने की भावना और अपने उद्धार तथा सुधार के लिए भगवत्-कृपा का अवलम्बन; तथा (३) भक्ति का द्वार जनता के लिए खोलकर भक्ति को व्यापकता देना।

इन सब मानसिक विचारधाराओं ने साहित्य को प्रभावित किया, और साहित्य से इनको बल मिला। साहित्य में भावना का पुट रहने के कारण उसमें विचारों में वेग और संक्रात्मकता उत्पन्न करने की क्षमता रहती है।

यहाँ पर यह बता देने की आवश्यकता है कि मुसलमानों के पैर जम जाने पर शान्ति के सदुपयोग और एक दूसरे के निकट आने की भी भावना दोनों ओर थी। मुसलमानों में सब लोग नितान्त बर्बर प्रकृति के न थे। उनके पास भी धर्म, साहित्य और कला थी। उनमें कुछ मुलायम तबीयत के लोग भी थे। हिन्दुओं में आर्थिक और आध्यात्मिक भाव की प्रधानता होते हुए भी सामाजिक पक्ष की उपेक्षा न थी। कुछ समझौते की ओर प्रवृत्त थे, कुछ अपनी संस्कृति अक्षुण्ण रखना चाहते थे।

उपर्युक्त विवेचन में हम देख चुके हैं कि इस जागृति के दो पक्ष थे। एक आध्यात्मिक और दूसरा सामाजिक। आध्यात्मिक पक्ष में शंकराचार्य के ब्रह्मवाद, गोरखपन्थियों का हठयोग-प्रधान निर्गुण-वाद, वैष्णव सम्प्रदायों के अन्तर्गत रामोपासना और कृष्णोपासना की सगुण धाराओं तथा सूफियों की प्रेम-भावना का प्राधान्य था। इनसे प्रभावित इस युग में साहित्य की चार धाराएँ चलीं—(१) शंकराचार्य के

भक्ति काल की साहित्यिक धाराएँ

ब्रह्मवाद और मायावाद, गोरखपन्थ के हठयोग और सामाजिक समतावाद, रामानन्द के भक्तिवाद तथा सूफियों की प्रेम-पीर लेकर कबीर की निर्गुण धारा चली। सामाजिक पक्ष में सुधार और समता की भावना थी और कुछ अक्खड़पन के साथ। किन्तु सारा निर्गुण साहित्य ऐसा न था। दादू, पीपा, रैदास, मलूकदास आदि में समता-भाव सौम्य-भाव के साथ था। नानक आध्यात्मिक बल का भौतिक बल के साथ योग करना चाहते थे। (२) निर्गुण से प्रभावित फारसी प्रेमवाद से समन्वित प्रेममार्गी कवियों की

साहित्यिक धारा चली। उसने किसी अंश में हठयोग को भी अपनाया था। इन्होंने सामाजिक समन्वय, हिन्दी भाषा, हिन्दू कथाओं और संस्कृति को अपनाकर आगे बढ़ना चाहा।

३, ४ गोरखपन्थ के प्रति प्रतिक्रिया को लेकर और वैष्णव विचारधारा से प्रभावित होकर राम और कृष्ण भक्ति की शाखाओं ने जन्म ग्रहण किया। उन्होंने पाण्डित्य और आभिजात्य का गर्व दूर कर भगवत्कृपा को प्राधान्य दिया। अजामिल, गणिका, निषाद, शबरी, गीध आदि के उदाहरणों से सामाजिक विषमताओं की कटुता दूर की गई। वैष्णव मत में कम से कम ईश्वर की दृष्टि से कुल-अकुल का विचार न था—

"काहू के कुल नाँहि विचारत !"

"अविगत की गति कहौ कौन सो पतित सबन को तारत ॥"

तुलसी ने वर्णाश्रम की मर्यादा के साथ अपना सन्देश दिया। सूर ने वर्णाश्रम का विरोध तो नहीं किया, किन्तु तुलसी की तरह उसको महत्ता भी नहीं दी। इन सब धाराओं में पारस्परिक भेद के साथ कुछ भाव-समन्विति भी थी, जिसके कारण वे एक सूत्र में बँध सकीं। इस भाव-समन्विति के सूत्र थे—

१. आत्म-समर्पण की भावना २. गुरु-भक्ति ३. नाम-महिमा
४. प्रेममार्गी कवियों को छोड़कर शेष तीन में प्राकृत जनों की प्रशंसा से विरक्ति (प्रेममार्गी कवियों में प्राकृतजनों का गुणगान का लक्ष्य आध्यात्मिक ही था।) ५. सत्संगति की महिमा।

जैसा ऊपर कहा गया है पण्डितों ने भक्ति की दार्शनिक व्याख्या की, कवियों ने अपनी प्रतिभा के वाष्प-यन्त्र में आचार्यों की दार्शनिक गरिष्ठता नीचे बिठालकर भक्ति के शुद्ध रागात्मक रूप का जनता में प्रचार किया। कबीर की वाणी में दार्शनिक गरिष्ठता के साथ प्रेम का अवलेह मिला हुआ था। उसके अनुपात से वह जनता के गले में उतर सका। फिर भी उसमें शर्बत मिले हुए कुनीन मिक्सचर की-सी

भक्ति काल में कृष्ण काव्य का स्थान

उभयपक्षी डाट-फटकार की कटुता थी । कबीर ने निर्गुणवाद की शुष्कता और नग्नता पर जो शृंगारिक आवरण डालना चाहा था, वह उनकी झीनी-बीनी चादर की भाँति इतना झीना था कि उसके द्वारा निर्गुणवाद की शुष्कता छिप न सकी। शून्य महल की सेज शून्य ही पड़ी रही । प्रेम-मार्गी कवियों ने लौकिक कथाओं के सहारे प्रेम-भाव की साधना, रूपक, अन्योक्तियों, शुक्ल जी के शब्दों में, समासोक्ति द्वारा की। उन्होंने लौकिक के स्थूल आधार पर खड़े होकर व्यंजना की सीढ़ी से ऊपर चढ़ने का प्रयत्न किया। उन्होंने उसे प्रकृति में भी व्याप्त देखना चाहा। उनका आलम्बन सगुण तो हुआ किन्तु साकारता न प्राप्त कर सका। उसमें हिन्दू कहानियों का आधार अवश्य था, किन्तु उनकी विदेशी गन्ध दूर न हो सकी और उनका अध्यात्म पक्ष व्यंग्य रहने के कारण विशेष प्रबल न हो सका। लोगों का ध्यान उसके भौतिक पक्ष की ओर अधिक रहा।

तुलसी और सूर ने राम-कृष्ण की भक्ति के आधार पर जो रासायनिक पाक तैयार किया, वह इतना मधुर था और किसी अंश में पौष्टिक भी कि जनता ने उसे बड़े प्रेम के साथ ग्रहण किया । और उसका बिना समालोचकों की कृपा का मुखापेक्षी बने, बिना लाउडस्पीकरों के बिना अखबारों के मुखपृष्ठ पहले से सुरक्षित कराये, बिना सिनेमा-स्लाइडों के प्रदर्शन आदि प्रचार और विज्ञापनों के सुलभ साधनों को अपनाये और राज्याश्रय का तिरस्कार करते हुए भी जनता में पूर्ण स्वागत हुआ।

कृष्ण रसायन में चाहे राम रसायन की अपेक्षा पौष्टिकता कुछ कम हो, किन्तु स्वाद अधिक था। मनुष्य की रागात्मक वृत्तियों से उसका सीधा सम्बन्ध था। वैसे इस काल का सभी काव्य लोक-साहित्य कहे जाने की क्षमता रखता था, किन्तु कृष्ण साहित्य जनता के हृदय के साथ निकटतर सम्बन्ध स्थापित कर सका। उसने भगवान कृष्ण की बाल और यौवन लीलाओं के वर्णन द्वारा जीवन के सौन्दर्य पक्ष का उद्घाटन कर जीवन के प्रति आस्था उत्पन्न कर दी। जो लोग जीवन को सत्य और सरस मानते हैं, वे ही उसकी रक्षा के लिए सचेष्ट हो सकते हैं।

आध्यात्मिक पक्ष में राम और कृष्ण-भक्त कवियों की भक्ति का आधार सगुण और साकार था और उनका भौतिक प्रत्यक्ष तो नहीं, किन्तु मानसिक प्रत्यक्ष अवश्य हो सकता था। साहित्य के लिए जैसे व्यक्तित्त्व-प्रधान आलम्बन की अपेक्षा की जा सकती थी, वह आलम्बनत्व राम और कृष्ण दोनों ही में था। किन्तु सूर और अन्य कृष्ण-भक्त कवियों के काव्य के आलम्बन लोक-जीवन से अधिक निकट थे। वे जन-जीवन से दूर राज-भवनों के रहने वाले न थे। उनमें ऐश्वर्य की अपेक्षा माधुर्य का सहज आकर्षण था। उनके माधुर्यमय चरित्र में चाहे जीवन की अनेकरूपता न हो, किन्तु उसका स्पंदन एक विशेष रूप से दिखाई देता था। यहाँ पर कबीर, जायसी, तुलसी के काव्य में आलम्बन के साथ तुलना करना, अप्रासंगिक न होगा।

कबीर का ब्रह्म मुसलमानी भावना के अनुकूल परात्पर था। उसका निवास या तो सातवें, नहीं चौदहवें लोक से भी परे था, या अपने ही शरीर के अन्दर हठयोग की त्रिपुटी में। जायसी के उपास्य में अतीत की अपेक्षा व्यापकता का भाव अधिक था। उसका प्रतिबिम्ब संसार में देखा जा सकता था। जायसी ने पद्मावती की छाया जो दर्पण में दिखलाई थी, उसका एक आध्यात्मिक पक्ष भी था। संसार में परमात्मा का प्रतिबिम्ब ही दिखाई देता है। संसार का जितना सौन्दर्य है, वह उसी की छाया है—**नैन जु देखा कमल भा**...किन्तु उसका बिम्ब मन और कल्पना के भी अगोचर था। इसीलिए घबराकर सूर ने कहा था—

"रूप-रेख गुन-जाति जुगति बिनु निरालंब कित धावै।
अगोचर सब विधि अगम बिचारहिं ताते सूर सगुन पद गावै।।"

यही बात उन्होंने गोपियों द्वारा उद्धव से कहलाई है, देखिए—

"रूप न रेख बरन बपु जाके संग न सखा सहाई।
ता निरगुन सों प्रीति निरंतर क्यों निबहै री माई।।
जल बिनु तरँग चित्र बिनु भीतिहि बिनु चित ही चतुराई।
अब ब्रज में यह नई रीति कछु ऊधो आनि चलाई।।

मालूम नहीं आचार्य शुक्लजी को रहस्यवाद और निर्गुणवाद के खण्डन की प्रेरणा कहाँ से मिली थी। शायद उनका मानसिक झुकाव ही ऐसा था, किन्तु ऐसे पदों ने उनकी भावनाओं को और भी दृढ़ बना दिया होगा। तुलसी ने भी सगुण का पक्ष लिया, किन्तु उन्होंने दोनों को एक करके एक दूसरे के सापेक्ष बना दिया। तुलसी ने सगुण को निर्गुण की अपेक्षा महत्ता भी अधिक दी है, किन्तु वे सूर की अपेक्षा निर्गुण की ओर अधिक झुके हुए हैं। वे अपने इष्टदेव को किसी पक्ष से खाली नहीं रखना चाहते थे—

"अगुन अरूप अलख जग जोई। भगत हेत सगुन सो होई॥"

सूर में भी निर्गुण का स्थान है, किन्तु कुछ कम। कोरे ज्ञानवाद का दोनों ने विरोध किया, तुलसी ने सीधे तौर से और कुछ अक्खड़पन के साथ—**अलखहिं का लखे राम नाम जपु नीचु**। सूर और नन्ददास ने कान्ता सम्मितयोपदेशयुजे की बात सार्थक करते सगुण की प्रतिष्ठा कराते हुए की है, काव्यात्मक ढङ्ग से नन्ददासजी कुछ दार्शनिकता पर भी उतर आये थे।

सूर और तुलसी दोनों सगुणवादी थे, किन्तु दोनों की उपासना में भेद था। तुलसी के उपास्य थे मर्यादापुरुषोत्तम राजाधिराज कौशलाधिपति राम। उनके साथ बराबरी की बात सोचना भी पाप था, इसीलिए उन्होंने दास्य-भाव को अपनाया। किन्तु सूर आदि अष्टछाप के कवि और उनके प्रभाव के रसखानादि अन्य कवि जनों के उपास्य थे यशोदानन्दन, गोपालों और गोपियों के प्रेमी और उनके जीवन में घुल-मिल जाने वाले कृष्ण। तुलसीदासजी ने प्राकृतजनों के गुणगान के लिए तो कह दिया—**सिर धुनि गिरा लागि पछिताना**। यह बात कृष्ण-भक्त कवियों में भी थी—**सन्तन कहा सीकरी सों काम**। किन्तु भगवत् पक्ष में वे ऐश्वर्य के उपासक थे। वे अज, निर्गुण, निरञ्जन, निर्विकार, सच्चिदानन्द ब्रह्म को पृथ्वी पर तो उतार लाये, किन्तु अपने मर्यादावाद से मजबूर होकर राजसिंहासन से नीचे न ला सके। राजसिंहासन से नीचे उतरे तो बनवासी होकर। यद्यपि तुलसी के दास्य-भाव में हृदय की कोमलता और आत्मसमर्पण की भावना

थी, तथापि उसमें न सूर-की-सी प्रेम की घनिष्ठता थी और न वात्सल्यता की चिन्ता—

"सन्देसो देवकी सों कहियो
हौं तो धाय तिहारे सुत की दया करत नित रहियो ॥"

सूर के अतिरिक्त और कहीं खोजने पर भी कठिनाई से मिलेगी। कृष्ण-भक्त कवियों ने परस्पर भगवान को मर्त्यलोक में उतारकर उन्हें पूर्ण समता-भाव से लोक-जीवन में घुला-मिला दिया।

"मैं सब पतितन को टीकों" आदि

प्रारम्भिक पदों को छोड़कर जो महाप्रभु वल्लभाचार्य से मिलने के पूर्व के कहे जा सकते हैं, सूर में पूर्ण समता-भाव के दर्शन होते हैं। ग्वाल-बाल भगवान से निर्भीकतापूर्वक कहला सकते हैं—**खेलत में को काकों गुसैयाँ** ··· **अति अधिकार** जनावत याते हैं कछु **अधिक तुम्हारे गैयाँ**? यह समता-भाव तो सूर के वात्सल्य को तुलसी की पहुँच के बाहर बना देता है। कृष्ण की प्रेमिकाएँ उनकी राजनीतिज्ञता की हँसी उड़ा सकती हैं—**हरि है राजनीति पढ़ि आये**। उनके शहरीपन के साज-शृंगार पर व्यंग्य कर सकती हैं—**"दिना चार ते पहिरन सीखे पट पीताम्बर तनियाँ, सूरदास प्रभु तजी कामरी अब हरि भये चिकनियाँ।"** व्रजभाषा के कृष्णकाव्य में जो ग्रामीण प्राकृतिक जीवन की पुकार है, वह अन्यत्र नहीं सुनाई पड़ती। मथुरा के वैभव में डूबे हुए स्वयं कृष्ण भगवान वृन्दावन के प्राकृतिक जीवन को नहीं भूल सकते—

**"ऊधौ मोहि व्रज बिसरत नाहीं।
हंससुता की सुन्दर कगरी और कुञ्जन की छाँहीं ॥
वै सुरभी वे बच्छ दोहिनी खरिक दुहावन जाहीं।
ग्वालबाल सब करत कुलाहल नाचत गहिगहि बाँहीं ॥"**

प्रेम में भय और विषमता को स्थान नहीं रहता। इसी प्रेम-भाव से प्रेरित गोपियाँ कृष्ण का मूल्य एक छल्ला से भी कम ठहराती हैं—**जाहिगो काहू तिय को आभूषण तौ लला न छला के मोल बिकैहो।** घनानन्द ने प्रेमोन्मत्त गोपियों द्वारा कृष्ण को जो रस रूप में बिकवाया है—

"एक डोलै बेचति गुपालहि दहेड़ी धरै
नैननि समायो सोई बैननि जनातु है।"

× ×

"गोकुल बधून की बिकानि पै।"

रीतिकाल

ब्रजभाषा की दूसरी मूल प्रवृत्ति रीतिकाल की है। हम देख चुके हैं कि साहित्य की गति क्रिया-प्रतिक्रियात्मक स्पन्दन के रूप में होती है, प्रतिक्रियाएँ भी कभी-कभी अनुकूल और कभी प्रतिकूल। वीरगाथा काव्य राज्याश्रित था। भक्तिकाल की कम से कम तीन धाराएँ राज्याश्रय से स्वतन्त्र थीं। कृष्ण भक्तों का "सन्तन को कहा सीकरी सौं काम। आवत जात पन्हैयाँ टूटैं, बिसरि गयो हरिनाम।" और तुलसी के 'कीन्हे प्राकृत जन गुणगाना, सिर धुनि गिरा लागि पछिताना' इस बात के प्रमाण हैं। प्रेममार्गी कवियों ने यदि बादशाही वक्त की वन्दना की तो उसका कारण था। वह यह कि एक तो मसनवी पद्धति में बादशाहे वक्त की वन्दना आवश्यक थी और वह उनके ही धर्म का था। इससे कोई हीनता-भाव नहीं उत्पन्न हो सकता था। रीतिकाल में कविता फिर राज्याश्रित हो गई।

मुसलमान लोग भारत में बस गये थे। अकबर ने राजपूतों से वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित कर लिये थे और उन्हें अपना विश्वासपात्र बनाकर दासता की बेड़ियों पर सोने का झोल फेर दिया था, या यों कहिए कि मखमल का खोल चढ़ा दिया था। हिन्दू बाज पराये पानि पर बैठकर अपने ही जाति के पच्छियों को मारने लगे थे। मुगल साम्राज्य में कला को भी प्रोत्साहन मिला—आगरे में शाहजहाँ का प्रस्तरीभूत अश्रुबिन्दु शुभ्र ज्योत्स्ना धौत धवल कीर्तिस्तम्भ के रूप में आज भी वर्तमान है। पराजय मनोवृत्ति की दूसरी प्रतिक्रिया—कामी हास-विलास के आनन्द की मदिरा में अपनी निराशा को डुबो देने की प्रवृत्ति जाग उठी थी। वीर केसरी धर्मध्वजा के फहराने वाले महाराणा प्रताप के स्वातन्त्र्य के जी-तोड़ प्रयासों की विफलता ने राजाओं

को संघर्ष के पथ से हटाकर वातावरण की अनुकूलता प्राप्त करने के पथ की ओर अग्रसर कर दिया था। जयदेव ने जो हरिस्मरण की रसायन में विलास-कला-कौतूहल का अवलेह प्रदान किया था उसकी सञ्जीवनी-शक्ति सूर और कृष्णभक्त कवियों तक सीमित रही। पीछे से रसायन की मात्रा तो कम होती गई और अवलेह का मधुर-मधुर स्वाद अधिक प्रबल हो गया। साधारण लोगों को तो नहीं, सम्पन्न वर्ग को उस अवलेह मात्र की मदिरा की-सी चाट पड़ गई। साधन साध्य बन गया। कविजनों को राधा-गोविन्द के स्मरण का बहाना चाहे थोड़ी-बहुत मात्रा में रहा हो किन्तु उनकी कविता यशसे और अर्थकृते और कुछ-कुछ व्यवहारविदे के भौतिक ध्येय की साधिका बन गई। कविजनों को भी खस के मकानों, गुलगुली गिलमों और सम्भव है सुराही और प्याले का भी चस्का लग गया। कभी-कभी बिहारी जैसे सिद्धहस्त कवि दुसह दुराज प्रजान की बात अलंकार विधान में ले आते थे किन्तु बहुत कम।

संस्कृत और प्राकृत ग्रन्थों की रस, ध्वनि और अलंकारों के विवेचन से बोझिल परम्परा हिन्दी के भक्ति-प्रधान काव्य में ऊपर तो न उठ सकी किन्तु कभी-कभी बिहारी की ससिमुखी सटपटाती हुई नायिका की भाँति भक्ति के घूँघट-पट में से रहीम के बरवै नायिका-भेद, तुलसी की बरवै रामायण, सूर के दृष्टिकूटों और नन्ददास की रसमञ्जरी आदि के रूप में अपनी मोहक रूप छटा की पावक झर की झार दिखा जाती थी। 'मोह न नारि नारि के रूपा' का सिद्धान्त घोर कलिकाल में अपनी स्वयंसिद्धता खो बैठी—भक्ति भी भाषा के चक्कर में पड़ गई। सूर आदि कृष्णभक्त कवियों में जो तुलसी के मर्यादा-वाद की प्रतिक्रिया स्वस्थ रूप में थी किन्तु रीतिकालीन कवियों में वह अस्वस्थ हो गई। कविता कामिनी ने रीति की गगरी से विवेचन का जल ढलका दिया और वह रीति की रीती गगरी अलंकार रूप से धारण कर बनाव-शृंगार के साथ चलने लगी। भक्ति का साँप (मैं उसको बुरे अर्थ में नहीं लेता हूँ, बनियों में तो नाग को मामा कहते हैं) निकल गया, लोग लकीर पीटते रह गये। भक्तिकाल की भाव-समन्विति पर प्रकाश डालते हुए मैंने कहा था कि उस काल की प्रवृत्तियों में

नामोपासना का एक व्यापक सूत्र था। वह सूत्र क्षीण हो गया था किन्तु टूटा नहीं था। शायद उसी प्रभाव से भक्तिकाव्य के प्रतिष्ठित आलम्बन राधा और कृष्ण का नाम रीति-काव्य में अनस्यूत हो गया। इस प्रवृत्ति में जयदेव, विद्यापति, चण्डीदास तथा गौड़िया सम्प्रदाय के उज्ज्वल नीलमणि आदि ग्रन्थों का भी प्रभाव पड़ा। यद्यपि गौड़िया सम्प्रदाय की रस-विवेचन-पद्धति कुछ भिन्न थी तथापि उस साहित्य में राधा-माधव नायक-नायिका के ही रूप में अधिक देखे गये थे। इन सब कारणों से जहाँ प्राचीन रीति सम्बंधी कविता लौकिक थी वहाँ हिन्दी की नायिका-भेद की कविता अलौकिक हो गई किन्तु उसकी अलौकिकता नाम को ही थी। हिन्दू जाति की धार्मिक मनोवृत्ति अपना क्षीण प्रभाव बनाए हुए थी। किन्तु राधा-कृष्ण का उसमें से व्यक्तित्व निकल गया था। रीतिकालीन कवि उनको हर प्रकार के नायक और नायिका के रूप में देख सकते थे। भक्त भी अपने इष्टदेव को हर एक रूप में देखता है।

संस्कृत में लिखने वाले आचार्य को अपने पाठक के मानसिक धरातल की परवाह नहीं रहती थी। वे चुने हुए पण्डितों के ही लिए लिखते थे। बिचारे हिन्दी वाले को यह ख्याल रहता है कि भाषा में भी लिखकर जिसकी प्रसन्नता के लिए लिखा जाय वह भी न समझे तो लिखना सार्थक नहीं। इसीलिए बिहारी जैसे कवि ने रीति का मानसिक आधार ही लिया। लक्षणों को अपने मन में रखकर उदाहरणों को ही दिया। कुछ लोग जैसे मतिराम, देव, पद्माकर, भिखारीदास आदि ने लक्षण के साथ उदाहरण रचे। केशव ने रीतिग्रन्थ भी लिखे और अपनी रामचन्द्रिका को अपनी कवि-प्रिया के उदाहरण रूप लक्ष्य-ग्रन्थ बनाया। उस समय शृंगार का आधार रहा। भूषण ने रीतिकाल के प्रभाव में लक्षण-ग्रन्थ तो लिखा किन्तु उदाहरण वीर रस का दिया।

कुछ लोग आचार्य शुक्ल जी से सहमत होकर केशव को रीतिकाल का प्रवर्त्तक न मानें किन्तु लक्षणों के लिए उदाहरण ग्रन्थ लिखने की रीतिकाल की मूल प्रवृत्ति का पूर्ण विकास हमको केशव में मिलता है। यह तो चुनाव

की बात है कि केशव ने दण्डी और रुय्यक प्रतिपादित अलंकार को सर्वस्व मानने वाली पद्धति को अपनाया और अधिकांश लोगों ने चिन्तामणि के अनुकरण में रस और ध्वनि की समन्वित पद्धति को। खैर, उसके प्रवर्तक चाहे कोई हों वह खूब पल्लवित हुआ; उसमें हम फूल और पल्लवों की शोभा देख सकते हैं, फलों के कम दर्शन होते हैं। उसमें कला लोकोपयोगिता के परे थी—वह स्वामिनः सुखाय और स्वान्तः सुखाय दोनों थी, किन्तु स्वामिनः सुखाय का पक्ष कुछ प्रबल था। उसमें वर्ण्य की अपेक्षा वर्णन का अधिक महत्त्व था। जहाँ तुलसीदासजी अपनी कविता का श्रेय 'इहि में रघुपति नाथ उदारा' को देते हैं, वहाँ भगवान का नाम रहता अवश्य था किन्तु नाम मात्र रूप से। जहाँ भक्तिकाल की कविता में कवि अपने व्यक्तित्व की परवाह न करते हुए भी अपने व्यक्तित्व को छिपा नहीं सका था वहाँ रीतिकाल का कवि व्यक्तित्व की परवाह न करते हुए भी उसे सामने नहीं ला सका है। वह बँधे हुए ढाँचों में ही अपने व्यक्तित्व को व्यक्त कर सका है। इसीलिए उसमें निजीपन का अभाव रहा है।

रीतिकाल में राधा-कृष्ण का सजीव व्यक्तित्व नहीं रहा था वरन् वे रीति के साँचों पर ढली मूर्तियाँ बन गये थे। कविता हुक्मी हो गई थी। सरस्वती देवी का हंस मोतियों के प्रलोभन से उनको शीघ्र ही कवियों की जिह्वा पर ला खड़ा कर देता था। कभी-कभी वे स्वयं भी कृपा करती थीं। किन्तु रीतिकाल में निरा घासलेट साहित्य ही नहीं उत्पन्न हुआ।

रीतिकालीन कवियों में कला का प्राधान्य होते हुए भी कृष्ण-लीला का आधार था और उस आधार पर कुछ सजीव कविताएँ भी हुईं। इस आधार को पकड़ लेने से संस्कृत कवियों की अपेक्षा हिन्दी के कवियों के उदाहरणों में कुछ अधिक सजीवता थी। रीतिकाल में कृष्णभक्त कवियों के प्रबन्धात्मक मुक्तक भी शुद्ध मुक्तक रह गये। राज-दरबारों की प्रतिद्वन्द्विताओं ने मुक्तक की चाल को और भी बढ़ा दिया था। रस-प्रेम की अपेक्षा रस-लोलुपता बढ़ गई थी। लोलुप मन अधीर हो जाता है। धैर्य स्वास्थ्य का चिह्न है। प्रबन्ध-काव्य का रस धैर्य साध्य है। राजसी अधीरता में मुक्तक का प्राधान्य

होना स्वाभाविक है। ये मुक्तक पदों के रूप में न होकर कवित्त-सवैयों के रूप में प्रचार में आये।

कृष्ण-काव्य के मुक्तकों में जीवन की अनेकरूपता किसी अंश में थी। रीतिकाल के कवियों में वह अनेकरूपता केवल शृङ्गार की अनेकरूपता रह गई थी। चैतन्य सम्प्रदाय के अन्तर्गत उज्ज्वल नीलमणि और भक्ति रसामृतसिंधु आदि ग्रन्थ लिखे गये। उनमें नायिकाओं के काफी भेद-प्रभेद थे किन्तु वे कुछ मनोवैज्ञानिक अधिक थे। भक्ति के प्राधान्य के कारण विलासिता का अंश रहा भी हो तो अवचेतनगत ही रहा, ऊपर नहीं उभरा। हिन्दी के कवियों में वह ऊपर उभर आया था। संस्कृत के श्लोकों और प्राकृत की गाथाओं में भी वह ऊपर आ गया था। हिन्दी के कवियों ने फिर भी संयम से काम लिया। हिन्दी कवियों के रीति-ग्रन्थों में राधा-गोविन्द के सुमिरन के बहानों से तो कुछ और अधिक रहा, किन्तु उसमें बौद्धिक भाव-पक्ष की अपेक्षा कलापक्ष अधिक रहा। बौद्धिक पक्ष का नितान्त अभाव न था। केशव, देव, भिखारीदास के विवेचन अपनी पद्धति की नवीनता रखते हैं। सरदार कवि की रसिकप्रिया में रसनिष्पत्ति जैसे जटिल प्रश्न की कुछ चलती-सी व्याख्या हुई है। आचार्यत्व और कवित्व-शक्ति दोनों साथ-साथ चल सकती हैं। पण्डितराज जगन्नाथ इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। 'कवि करोति काव्यानि रसंजानाति पंडितः' अथवा 'उपजँहि अनत अनत छबि लहँहि' की बात सर्वथा ठीक नहीं है। पण्डितराज ने तो इस बात को दावे से कहा कि उन्होंने सब उदाहरण अपने ही दिये हैं। कस्तूरी के सृजन की क्षमता रखने वाला मृग क्या अन्य कुसुमों के सौरभ से आकर्षित हो सकता है! ऐसी ही मनोवृत्ति देव, मतिराम आदि हिन्दी के कवियों की थी। पण्डितराज भी शाहजहाँ के समकालीन थे और वे भी उसी विलासिता के प्रवाह में बह रहे थे किन्तु उनमें कवित्व और आचार्यत्व दोनों का अच्छा समन्वय था।

हिन्दी में विवेचन की अपेक्षाकृत कमी के दो कारण मालूम पड़ते हैं—एक तो गद्य का विकसित न होना, दूसरा आश्रयदाताओं के मानसिक धरातल को स्पर्श करने की इच्छा। इसीलिए नायिका-भेद का प्राधान्य

रहा। फिर भी वे नारी-सौन्दर्य के कुछ मनोमोहक चित्र दे सके। बिहारी का 'खरी पातरी हू लगति भरी सी देह,' देव का **'गोरो सो मुख ओरौ सौ बिलानों जात'** अथवा मतिराम का **'ज्यों-ज्यों निहारे नियरे ह्वै नैननि त्यों-त्यों खरी निखरे सी निकाई'** ऐसे वर्णन हिन्दी कविता के शृङ्गार कहे जा सकते हैं। रीतिकाल की कविता में सामाजिक चित्रण है किन्तु उसमें इतर, चोबा, जरतारी की सारी, झूले और फाग का ही उल्लेख अधिक है। उन वर्णनों में हृदय की अपेक्षा कल्पना, शब्द-जाल और अलङ्कारिक चमत्कार का प्राधान्य है। गुलगुली गिलमों की सम्पन्नता में पोषित स्वच्छन्द कल्पना और रूप-विवेचन की सहज मोहकता के साथ सस्ती वाह-वाही लूटने की चाह अथवा नायिकाओं के वर्णन में सूक्ष्म भेद-प्रभेदों से पाठकों में 'या अल्लाह गौड़ों में भी और' की सी आश्चर्य-चमत्कृत होने की भावना उत्पन्न करने की महत्वाकांक्षा नायिका-भेद सम्बन्धी साहित्य के बाहुल्य के लिए उत्तरदायी कही जा सकती है। उस साहित्य में भाव-विश्लेषण की सूक्ष्मता और वर्णन के सौष्ठव का साहित्यिक मूल्य अवश्य है किन्तु नैतिक मूल्यों का प्रायः अभाव ही रहा। उस समय की वर्णन-शैली अब भी ब्रजभाषा साहित्य को प्रभावित कर रही है।

वर्तमान युग

हिन्दी साहित्य के वर्तमान युग का प्रारम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से हुआ। भारतेन्दु जी में यद्यपि भक्तिकाल की भक्ति-भावना और रीतिकाल की चमत्कारिकता के प्रभाव प्रबल रूप से वर्तमान हैं तथापि उनकी कविता द्वारा रीतिकाल के अवरुद्ध वातावरण में देश-भक्ति और समाज-सुधार के नये वातायन खुल गये थे। हरिश्चन्द्र-युग में ब्रजभाषा का प्राधान्य रहा। एक बार फिर कविता में नये जीवन का सञ्चार हुआ और कविता देश-भक्ति की ओर झुकी। द्विवेदी-युग में खड़ीबोली की कविता ने धीरे-धीरे ब्रजभाषा का स्थान ले लिया, फिर भी ब्रजभाषा का जादू मिटा नहीं। श्रुति-माधुर्य के लिए अब भी वह अपनी प्रतिद्वन्द्विनी नहीं रखती।

यद्यपि ब्रजभाषा में खड़ीबोली की अपेक्षा रू बाद और प्राचीन परम्परा का आदर अधिक है तथापि वह नये भावों से अछूती न रह सकी। वह भी देश-भक्ति की भावनाओं को अपनाने में समर्थ हुई। कविवर सत्यनारायण जी उन कवियों में से हैं जिनकी ाणी में देश-भक्ति कलामय रूप से प्रस्फुटित हुई। उन्होंने देश-भक्ति के स्फुट गीत भी लिखे, 'माधव आप सदा के कोरे' आदि पदों में सरकार पर कुछ व्यंग्य भी किये और भ्रमरदूत जैसे खण्डकाव्यों में प्रसङ्गवश देश-भक्ति की भावनाओं का समावेश कर दिया। 'देशहि में भयो विदेश भयो अब जानिए' अथवा 'हम कारिन कौं कारे ही आँखिन के तारे' आदि की उक्तियाँ बड़ी मार्मिक हैं।

नवीन युग के ब्रजभाषी कवियों में सत्यनारायण जी के अतिरिक्त रत्नाकर जी, वियोगी हरि, शबरी काव्य के कर्त्ता, दैत्यवंश के कर्त्ता हरदयालुसिंह जी, दुलारेलाल जी आदि प्रमुख हैं। रत्नाकर जी में तो प्राचीन प्रभाव ही अधिक है किन्तु गङ्गावतरण में देश की कल्याण की चाह अधिक है और उसमें वीरकाव्य का-सा ओज भी है। वियोगी हरि जी ने तो वीर सतसई ही लिखी और वीर रस के कुछ गीत भी लिखे हैं। शबरी काव्य भी युग की माँग को पूरा करती है। दैत्यवंश में उपेक्षितों को प्रकाश में लाने और पतितों में भी उच्चता दिखाने की भावना है। इस प्रकार ब्रजभाषा साहित्य भी समय की अनुकूलता प्राप्त कर रहा है और उसके लिए यह लाँच्छन सार्थक नहीं हो सकता कि उसने विलासिता के साहित्य की पुष्टि की है। उसमें सभी प्रकार के भाव मिल सकते हैं। देखने के लिए सहृदय दृष्टि चाहिए। 'गुन न हिरानों गन गाहक हिरानों है।'

कबीरदास जी के दार्शनिक सिद्धान्त

कबीर के सिद्धान्त जानने से पूर्व हमको उन पर पड़े हुए प्रभावों को जान लेना आवश्यक है । कबीरदास जी का, जन्म नहीं तो, पालन-पोषण अवश्य मुसलमान-परिवार में हुआ था । इसी

प्रभाव—वैष्णव धर्म

कारण उनमें जाति-पाँति और मूर्ति-पूजा का विरोध दिखाई देता है। जाति-पाँति के सम्बन्ध में मुसलमानी धर्म के अतिरिक्त नामदेव, रैदास, धना आदि सन्तों ने अपने जीवन से प्रमाणित कर दिया था कि आध्यात्मिकता के उच्च भाव किसी जाति-विशेष की बपौती नहीं हैं । स्वामी रामानन्द जी द्वारा उन पर वैष्णव धर्म का गहरा प्रभाव पड़ा । इसी के कारण हम कबीर की साखियों में वैष्णव मत का आदर, भक्ति-भावना की महत्ता और मांसाहार का विरोध देखते हैं । कबीर ने शाक्तों के गाँव से वैष्णव की झोंपड़ी को अधिक महत्ता दी है । कबीर की भक्ति-भावना के सम्बन्ध में नीचे का दोहा पढ़ने योग्य है—

"और कर्म सब कर्म है भक्ति कर्म निष्कर्म ।
कहै कबीर पुकारि कै भक्ति करो तजि धर्म ।।"

कबीर ने रामानन्द से ही भक्ति का उपदेश लेकर उसका प्रचार किया। इस सम्बन्ध में नीचे का दोहा प्रचलित है ।

"भक्ती दच्छिन ऊपजी, लाये रामानन्द ।
परगट करी कबीर ने, सात दीप नौ खण्ड ।।"

यद्यपि कबीर की दीक्षा रामानन्दी सम्प्रदाय में हुई थी तथापि उन पर शाङ्कर मायावाद का प्रभाव पर्याप्त मात्रा में था । यह तो नहीं कहा जा सकता कि कबीर शाङ्कर मतानुयायियों के सम्पर्क में आये

शाङ्कर वेदान्त

किन्तु सम्भव है कि रामानन्द जी के यहाँ ही उन्होंने

इस सम्प्रदाय का भी ज्ञान प्राप्त किया हो, क्योंकि उनके यहाँ सभी मत-मतान्तर के लोग विचार-विनिमय के लिए आया करते थे। इनके अतिरिक्त रामानन्द जी स्वयं शाङ्करवेदान्त के बड़े पण्डित थे। ऐसा कहा जाता है कि उन्होंने पहले शाङ्कर मत का ही अध्ययन किया था और उसी में दीक्षा लेना चाहते थे किन्तु स्वामी राघवानन्द ने उनकी जान बचाई थी इसलिए उनसे रामानुज सम्प्रदाय के अन्तर्गत दीक्षा ले ली। साधना के सम्बन्ध में कबीर के ऊपर हठयोग का प्रभाव था।

सूफी-प्रभाव

यद्यपि कबीर ने शेख तकी का उस आदर से नाम नहीं लिया है जिससे कि उन्होंने रामानन्द का लिया है तथापि उन पर सूफीमत की प्रेम-साधना का पर्याप्त प्रभाव था। लाहूत, साकूत एवं चार मुकाम और मञ्जिलों के उल्लेख के अतिरिक्त उनकी प्रेम-भावना में सूफीमत का अधिक प्रभाव दिखाई देता है। यद्यपि ईश्वर जीव के सम्बन्ध में प्रेमी-प्रेमिका का भाव उपनिषदों में भी मिलता है तथापि कबीर पर सूफीमत के प्रभाव को स्वीकार करना सत्य को मान ही देना होगा। कबीर ने मुसलमानों की नमाज और रोजे का जो खण्डन किया है उसमें भी थोड़ा-बहुत प्रभाव सूफीमत का है, क्योंकि सूफी लोग अपने को शरीयत के बन्धन में नहीं समझते। वे अपने को रिंद कहना पसन्द करते हैं, मुसलमानों के मांसाहार की हँसी उड़ाने में वैष्णव धर्म का प्रभाव स्पष्ट है।

इस विवेचन का यह अभिप्राय नहीं कि कबीर की गाँठ का कुछ नहीं था सब कुछ प्रभाव ही प्रभाव था। कबीर में अपूर्व समन्वय बुद्धि थी।

समन्वय की प्रवृत्ति

ब्रह्मवाद पर सूफी प्रेमवाद की उन्होंने बड़ी सुन्दर कलम लगाई है। यद्यपि कहीं-कहीं उनकी शृङ्गारिक भावना इतनी हलकी हो गई है कि बहुत दिन के व्यवहार किये हुए तामचीनी के प्याले की भाँति उसके शुष्क ज्ञान का लोहा झलकने लगता है। मुसलमानी मत के खण्डन के लिए उनकी स्वतन्त्र प्रकृति और अक्खड़पन भी बहुत अंश में उत्तरदायी है। इस लेख में

केवल दार्शनिक विचारों का ही उल्लेख किया जायगा और उसके साथ यह भी दिखाया जायगा कि कबीर पर और प्रभावों के अतिरिक्त उपनिषदों और ब्रह्मसूत्रों द्वारा प्रतिपादित वेदान्त और ईश्वर-प्राप्ति के साधनों में हठयोग का अधिक प्रभाव है।

उपनिषदों में ब्रह्म का स्वरूप

ब्रह्मसूत्रों में ब्रह्म के दो रूपों का उल्लेख आया है। एक शबल ब्रह्म जो संसार में व्याप्त है और दूसरा शुद्ध ब्रह्म जो संसार को अतीत करता है। एक को अंग्रेजी में इम्मेनेण्ट (Immanent) कहेंगे दूसरे को ट्रांसेंडेण्ट (Transcendent) कहेंगे। उपनिषदों में भी दोनों पक्ष लिये गये हैं। देखिये—

"वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्ठो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥"

अर्थात् जिस प्रकार इस लोक में प्रविष्ट हुआ वायु प्रत्येक रूप के अनुरूप हो रहा है—घट में घट के रूप का, मकान में मकान के रूप का, उसी प्रकार एक ही आत्मा प्रत्येक रूप में उसके अनुरूप दिखाई देती है और उससे बाहर भी है। इसमें व्यापक और अतीत दोनों ही आ गये। बहिश्च शब्द से परमात्मा के संसार से अतीत रहने वाले रूप का द्योतन होता है। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है कि भगवान के एक ही अंश से जगत व्याप्त है। 'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्'

कबीर में दोनों रूप

कबीर में भी हमको दोनों पक्ष मिलते हैं। वह सब में रमा हुआ भी है—'सर्व रूप जग रहा समाई' और उसके साथ वह सबसे परे है—"कहै कबीर सोई जन पूरा जो न्यारा कर गावै।" वह संसार में है और संसार उसमें है।

"कहै कबीर कर्त्ता में सब है, कर्त्ता सकल समाना"

× × ×

"खालिक खलक खलक में खालिक सब जग रहा समाई"

उपनिषदों में परमात्मा के लिए नेति-नेति कहा है और उसको सबसे परे बतलाया है। वहाँ न आँख जाती है, न वाणी जाती है, मन भी वहाँ नहीं जाता। अतः इस प्रकार शिष्य को इस ब्रह्म का उपदेश करना चाहिए वह हम नहीं जानते, वह हमारी समझ में नहीं आता, वह ज्ञात से भी परे है और अज्ञात से भी परे है।

नेति-नेति

"न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो।
यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि।" केन १। ३।

परमात्मा को कबीर ने सभी गुणों से परे बतलाया है। उसको किसी गुण से विशिष्ट करना उसको सीमित करना है। 'बाहर कहौं तो सतगुरु लाजै भीतर कहौं तो झूठा लो।" वह वास्तव में विदित, अविदित, निर्गुण और सगुण सबसे परे है—

"कोई ध्यावै निराकार को कोई ध्यावै आकारा।
वह तो इन दोउन ते न्यारा, जानै जानन हारा॥"

उसके लिए एक और दो की संख्या भी नहीं कही जा सकती। मुसलमान लोग उसको एक कहते हैं। हिन्दू लोग उसको बहुत कहने के लिए बदनाम हैं किन्तु उसको वे भी एक ही मानते हैं। "एकं सद्विप्रा बहुधा-वदन्ति" किन्तु वह संख्या में नहीं बाँधा जा सकता है—

"अपरम परम रूप मगु नहीं तेहि संख्या आहि।
कहहि कबीर पुकार कै अद्भुत कहिये ताहि॥"

× × ×

"एक कहूँ तो है नहीं, दो कहूँ तो गारि।
है जैसा तैसा रहै, कहे कबीर विचारि॥"

वह परमात्मा सबसे ही परे है। वहाँ तक किसी की गति नहीं है—

"न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं,
नेमा विद्युतो भाँति कुतोऽयमग्निः।"

देखिये कबीर साहब भी ऐसा ही लिखते हैं—

"पण्डित मिथ्या करहु विचारा,
नहि तहँ सृष्टि न सृजनहारा।"
× × ×
"थूल अस्थूल पवन नहिं पावक,
रवि ससि धरनि न नीरा।
जोतिस्वरूप नाल नहीं उहवाँ,
बचन न आहि सरीरा।"

वह मन और बुद्धि के लिए अगम और अगोचर है। जैसा दिखाई पड़ता है वैसा है नहीं। और जो असली रूप है वह कथन से बाहर है, वह गूँगे के गुड़ की भाँति है वह 'अनुभवैकगम्यः' है। इसलिए उसको सैना बैना से समझाना और पड़ता है। यहीं पर रहस्यवाद आ जाता है और रूपकों और अन्योक्तियों की आवश्यकता पड़ जाती है। नारद के भक्ति-सूत्रों में भी भक्त के अनुभव को गूँगे का गुड़ नहीं वरन् इसको गूँगे का स्वाद कहा है—"मूकास्वादनवत्"—नारद भक्ति-सूत्र ५२।

"जो दीसै सो तो है नाहीं, है सो कहा न जाई।
सैना बैना कहि समझाऊँ, गूँगे का गुड़ भाई॥"

परमात्मा को सारे संसार में व्याप्त मानते हुए भी कबीर ने उसके दो विशेष रूप माने हैं। एक ज्योतिस्वरूप और दूसरा शब्दस्वरूप। यद्यपि मुसलमानों ने भी खुदा को 'नूर' के रूप में ही देखा है

दो विशेष रूप

तथापि हमारे यहाँ भी ज्योति की भावना प्राचीन काल से चली आई है। उपनिषदों में भी परमात्मा को ज्योति-स्वरूप कहा है। '**अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रोऽयं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः।**' कबीर ने भी उसे अपने अन्तर में ढूँढ़ने को कहा है।

"मो को कहाँ ढुँढ़ै बन्दे मैं तो तेरे पास में।"

उसी परमात्मा से सारे संसार की उत्पत्ति होती है। उसके सिवाय संसार में कोई और नहीं है, जो कुछ है वह उसी का खेल है। '**सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्**'—देखिए इस सम्बन्ध में कबीरजी क्या कहते हैं—

"साधो एक आप जग माहीं
दूजा करम भरम है किरतिम ज्यों दर्पण में छाईं।
जलतरङ्ग जिमि जल ते उपजे फिर जल माँहि रहाईं ।।"

यहाँ पर कबीर में स्पष्ट रूप से विवर्तवाद का प्रभाव है। दर्शन शास्त्रों में तीन वाद माने गये हैं—**आरम्भवाद, परिणामवाद, विवर्तवाद।**

विवर्तवाद

आरम्भवाद में कार्य की उत्पत्ति से पूर्व असत् माना है। मिट्टी से घड़ा जब तक बन नहीं जाता तब तक वह असत् है। यह मत न्याय-वैशेषिक का है। **परिणाम-वाद**—यह कार्य को उत्पत्ति से पूर्व भी सत् मानता है। घड़ा उत्पत्ति से पूर्व मिट्टी में अव्यक्त रूप से रहता है, घड़ा बनने पर व्यक्त हो जाता है। **विवर्त-वाद** मानता है कि कारण ही सत् है कार्य सत् नहीं। मिट्टी तो घड़े के बनने से पहले भी और बाद में भी रहेगी। घड़ा न बनने से पूर्व था और न बनने के बाद में रहेगा। जो चीज आदि मध्य और अन्त में सत् रहे वही सत् है। इस प्रकार ब्रह्म ही सत् और सब स्वप्न की भाँति झूठा है।

"मृत्कार्यभूतोऽपि मृदो न भिन्नः
कुम्भोऽस्ति सर्वत्र तु मृत्स्वरूपात्
न कुम्भरूपं पृथगस्ति कुम्भः
कुतो मृदा कल्पित नाम मात्रः"

—विवेक चूड़ामणि

सब ओर से मृत्तिका होने के कारण मिट्टी से बना हुआ घड़ा मिट्टी से पृथक् नहीं होता है। जब घड़े का रूप घड़े से पृथक् नहीं होता तब घड़ा ही मिट्टी से पृथक् कैसे हो सकता है? वह तो मिट्टी में कल्पित नाम मात्र ही है। देखिए कबीर साहब मिट्टी और घड़े के रूपक को बदलकर जल को तीनों दिशाओं का रूपक देते हैं। ऊपर जल और तरङ्ग का रूपक दिया गया है। कबीर ने पूर्ण अद्वैतवाद माना है। कोई कहने-सुनने को भी दूसरा नहीं रहता है।

"कौन कहे को कौन सुने को दूजा कौन जनावनरे ।"

× × ×

"दरपन में प्रतिबिम्ब जो भासे आप चहूँदिशि सोई ।
दुविधा मिटै एक जब होवे तो लख पावै कोई ।।
जैसे जल ते हेम बनत है हेम धूम जल होई ।
तैसे या तत, बाहू सों फिर, यह और वह सोई ।।"

उपनिषदों में कहा है 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'ब्रह्मैवेदं विश्वम्' संसार और ब्रह्म की एकता से सम्बन्धित एक शब्द और देखिए—

"दरियाव की लहर दरियाव है जी
दरियाव और लहर भिन्न कोयम ।
उठे तो नीर है बैठता नीर है,
कहो किस तरह दूसरा होयम ।
उसी नाम को फेर लहर धरा,
लहर के कहे पानी खोयम ।।"

जल ही सत्य है, लहर बुद्बुद् केवल नामधेय वाणी के विकार हैं, सत्य जल ही है । इसी भाव को मिट्टी के रूपक से उपनिषदों में बताया गया है ।

"यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वंमृण्मयं विज्ञातं स्याद् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येवसत्यम् ।"

इस एकता का परिणाम यह होता है कि उस एक परमात्मा के सिवाय कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती । जो कोई स्वतन्त्र सत्ता मानी जायगी वह झूठी होगी । परमात्मा ही सबकी उत्पत्ति का उपादान और निमित्त कारण है । यह संसार बाजीगर का-सा खेल होता है जो पहले नहीं था और पीछे भी नहीं रहेगा । खेल झूठा है, बाजीगर ही सच्चा है ।

बाजीगर सच्चा बाजी झूठी

"कहै कबीर विचार के कृत्रिम न करता होय ।
यह सब बाजी कृत्रिम हैं साँच सुनो सब कोय ।।"

बाजीगर के खेल में हाथी-घोड़ों के पैदा हो जाने की उपमा शाङ्कर भाष्य में भी आई है। ब्रह्मसूत्रों में डोरी के सहारे आकाश में लड़ने का दृष्टान्त आया है।

कबीर ने माया के ऊपर विस्तृत रूप से लिखा है और उसको एक
माया व्यापक शक्ति माना है जिससे देवता लोग भी नहीं बचे हैं।

"माया महा ठगिनि हम जानी।
तिरगुन फाँस लिए फर डोलै बोलै मधुरी बानी"

कबीर ने माया दो प्रकार की मानी है—एक वह जो परमात्मा से मिलती है और दूसरी जो परमात्मा से अलग ले जाती है। सांख्य वाले भी तो बुद्धि द्वारा ही ज्ञान की प्राप्ति मानते हैं।

"माया दुई भाँति की देखी ठोक बजाय।
एक गहावै राम पै एक नरक लै जाय॥"

इस भवसागर से पार जाने के लिए कबीर भी परमात्मा की कृपा को ही मुख्यता देते हैं।

"बहु बन्धन ते बाँधिया एक विचार जीव।
का बल छूटै आपने जो न छुड़ावै पीव॥"

भगवत्-कृपा को प्रायः सभी सम्प्रदायों ने मुख्यता दी है। उपनिषदों में कहा है कि आत्मा का साक्षात्कार उसी का होता है जिस पर परमात्मा की कृपा होती है—"यमेवैष वृणुते तेनैव लभ्यः तस्यैष आत्मा विवृणते तनूं स्वाम्।'

कबीर ने दूसरी प्रकार की माया की खूब बुराई की है। सारा संसार उसी से उत्पन्न होता है और फिर उसी जाल में फँस जाता है। वही जो माता है पत्नी बन जाती है। इससे ज्यादा क्या बुराई की बात हो सकती है।

"बाप-पूत की नारि यक एकै माय बिआय।"

गोस्वामी तुलसीदासजी और साहित्य-सृजना

यश लालसा से परे साहित्यशास्त्रियों ने काव्य के कई उद्देश्य बतलाये हैं। उनके सम्बन्ध में आचार्य मम्मट की निम्नोल्लिखित कारिका बहुत प्रसिद्ध है।

"काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यःपरिनिवृत्तये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥"[1]

—काव्यप्रकाश १।२

इन उद्देश्यों में गोस्वामीजी 'यशसे' और 'अर्थकृते' से कोसों दूर थे। जिन महात्मा का जीवन आदर्श 'यथालाभ सन्तोष सदा' 'काहू सों कछु न चहौंगा' था जो 'विगत मान, सम सीतल मन' रहना चाहते थे उनके लिए यश-लिप्सा कोई अर्थ नहीं रखती थी, उनको दूसरों की भलाई-बुराई से प्रयोजन ही न था—

"साधु कै असाधु, कै भलो कै पोच, सोच कहा,
का काहू के द्वार परो जो हौं सो हौं राम को।"

—कवितावली उत्तरकाण्ड १०७

वे सब सांसारिक ऐश्वर्यों को तुच्छ समझते थे।

"सुरराज सो राजसमाज, समृद्धि
विरंचि धनाधिप सो धन भो।
पवमान सो, पावक सो, जम सोम सो,
पूषण सो, भव भूषण स भो॥"

---

१. अर्थात् काव्य यश के लिए, अर्थ-लाभ के अर्थ, लोक-व्यवहार जानने के लिए, शिवेतर (शिव के विपरीत) रोगादि अनिष्टों की क्षति व नाश के निमित्त, तुरन्त (सद्यः) परम आनन्द देने के लिए और कान्ता का-सा प्रेम-पूर्ण मन भावन उपदेश देने के लिए प्रयोजनीय है।

करि जोग, समीरन साधि, समाधि कै,
धीर बड़ो, बसहू मन भो।
सब जाय सुभाय कहै तुलसी
जो न जानकी जीवन को जन भो ॥"

—कवितावली : उत्तरकाण्ड ४२

जिसको न धन की परवा न यश की वह नर-काव्य क्यों लिखने बैठा? उन्होंने नर-काव्य का विरोध किया भगवान के यश-गान के लिए ही वे भगवती सरस्वती को कष्ट देना चाहते थे, देखिये—

"राम-चरित-सर बिनु अन्हवायें।
सो स्रम जाइ न कोटि उपायें॥"

× ×

"कीन्हे प्राकृत-जन-गुन-गाना।
सिर धुनि गिरा लागि पछिताना॥"

—रामचरितमानस, बालकाण्ड १७

यही भक्तिकाल और रीतिकाल में अन्तर है। वह राजाओं और आश्रय-दाताओं को प्रसन्न करने के लिए लिखा जाता था—यह भगवान को प्रसन्न करने के लिए। कृष्ण भक्त-कवि भी तो कह देते थे 'सन्तन कहा सीकरी सन काम?'

कविता का जब तक उद्देश्य उच्च न हो तब तक छन्दों की छटा, अलङ्कारों की झङ्कार और शब्दों की कलाबाजी ऐसी ही सौन्दर्यहीन है जैसी कि "विधु वदनी सब भाँति सँवारी। सोह न बसन बिना बर नारी।' तुलसी ने 'व्यवहार विदे' कविता अवश्य लिखी, उनकी बराबर विरले ही लोगों को लोक-व्यवहार का ज्ञान था, किन्तु वह लोक-व्यवहार ज्ञान प्रसङ्गवश आ गया था, वह उनका मुख्य उद्देश्य नहीं था। परमार्थ उनके लिए मुख्य था, लोक उनके लिए गौण। लोक-मर्यादा की रक्षा भी शास्त्र-मर्यादा की रक्षा के लिए होती थी और शास्त्र-मर्यादा की रक्षा मर्यादा-पुरुषोत्तम राम की प्रसन्नता के लिए होती थी। वे लोकहित से उदासीन न थे लेकिन वह भी देश में राम-

लोक हिताय

राज्य की स्थापना के लिए तथा कुटिल कलि-काल के कुप्रभाव निवारणार्थ था। जहाँ पर हमारे प्रगतिवादी भाई,

"खेती न किसान को, भिखारी को न भीख बलि,
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।"
× × ×
"दारिद-दसान दबाई दुनी।"
—कवितावली उत्तरकाण्ड ९७

के आधार पर बाबा तुलसीदासजी को स्वर्ग से घसीटकर अपनी पंक्ति में बैठा लेने में संकोच नहीं करते, वहाँ वे यह भूल जाते हैं कि यह दसानन दबाई दुनी की फर्याद दसानन-मद-मर्दन मर्यादापुरुषोत्तम राम के गुण-गान करने और उनके आगे प्रार्थी बनने के स्वान्तःसुख के लिए है। उसी पद में नीचे की भी पंक्तियाँ आती हैं।

"वेद हू पुरान कहीं, लोकहू बिलोकियत,
साँकरे समै पै राम रावरे कृपा करी।
दारिद-दसानन दबाई दुनी, दीनबन्धु !
दुरित-दहन देखि तुलसी हहा करी—॥"
—कवितावली उत्तरकाण्ड ९७

इसमें 'दारिद-दसानन दबाई दुनी' की हार्दिक द्रवणशीलता तो है ही किन्तु दीन-बन्धु के दुरित-दहन गुणों की घोषणा और उनके आगे हहा करने का भक्त-हृदय का आह्लाद अधिक मुखरित होता है।

तुलसीदासजी ने 'शिवेतरक्षतये' अवश्य काव्य लिखा। हनुमान बाहुक बाहू पीड़ा निवारण के लिए ही लिखा गया था। कष्ट की दुरूहता से वे मजबूर थे। किन्तु उनकी प्रार्थना भी अपने दोषों की स्वीकृति से पुष्ट थी। 'आपने ही पाप तें, त्रिताप तें, कि साप तें। बढ़ी है बाहु बेदन, कही न सहि जाति है॥' उनकी प्रार्थना आर्त की तो थी ही किन्तु उसमें भगवान से निजी सम्बन्ध की घोषणा अधिक थी।

शिवेतरक्षतये

'चेरो तेरो तुलसी 'तू मेरो' कह्यो राम दूत,
ढील तेरी, बीर, मोहिं पीर तें पिरानि है।"

हनुमान बाहुक ३०

'सद्यः परिनिर्वृत्तये' सभी सत्काव्य का उद्देश्य है। वह तुलसी का भी था। यही उनका 'स्वान्तः सुखाय' था, यही उनका मूल उद्देश्य है जिसकी घोषणा हमको रामचरितमानस के मङ्गलाचरण में ही मिल जाती है, देखिए—

स्वान्तः सुखाय

"स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा-
भाषानिबन्धमतिमंजुलमातनोति ॥"

—रामचरितमानस (इण्डियन प्रेस) पृष्ठ २

इसके सम्बन्ध में हम अन्त में विचार करेंगे। 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' भी गोस्वामी जी के उद्देश्यों से बाहर न था। उनका सारा काव्य उपदेशात्मक था। प्रकृति-वर्णन तक में उन्होंने उपदेशात्मकता को नहीं छोड़ा है, उनकी उपमाएँ भी उपदेश से भरपूर हैं—'डगइ न संभु सरासन कैसे कामी बचन सती मन जैसे।' लेकिन गोस्वामीजी ने उपदेश भी किसी गुरुडम वश नहीं दिये थे। वे कथनी और करनी के अन्तर को जानते थे। 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे।' इसलिए वे अपने भगवान से प्रार्थना करते हैं—

कथनी और करनी

"तुम अपनाओ हों तबैंहीं परि जानिहौं।
गढ़ि-गुढ़ि छोलि छाल कुन्द की सी भाईं बातै
जैसी मुख कहौं तैसी जिय जब आनिहौं ॥"

कवितावली, उत्तरकाण्ड ६३

वे लेखक और वक्ता के उत्तरदायित्व को जानते थे। मुख पर खराद पर की सी चढ़ी साफ-सुथरी छिली-छिलाई बातों का कहना तो सहल है किन्तु उनको उर में लाना कठिन है। 'भगवान की कृपा हुई', इस बात को वे तभी स्वीकार करेंगे जब उनका चरित्र-परिवर्तन हो जायगा। इसीलिए

वह कोरे शास्त्र-ज्ञान के विरुद्ध थे—

"वाक्य ज्ञान अत्यन्त निपुन भवपार न पावै कोई,
निसि गृह मध्य दीप की बातन तम निवृत्त नहिं होई।" वि० प० १२३

अब जरा विचार लेना चाहिए कि तुलसी का 'स्वान्तःसुखाय' क्या था? वह 'सद्यःपरिनिर्वृत्तये' के रूप के बहुत निकट आता है। 'सद्यःपरिनिर्वृत्तये' में उद्देश्य इतना नहीं है जितना कि फल।

स्वान्तःसुखाय की व्याख्या

'फल' और उद्देश्य में यही अन्तर है कि पहले सोचा हुआ फल उद्देश्य होता है और उद्देश्य की प्राप्ति फल कहलाती है। 'सद्यःपरिनिर्वृत्तये' में फल की भावना अधिक है। 'स्वान्तःसुखाय' में सृजन से पूर्व का हृदयोल्लास और सृजन से पश्चात का आनन्द दोनों ही शामिल है। यह स्वान्तःसुखाय काव्य सृजन का सबसे पहला उपकरण है। स्वान्तःसुखाय अन्य उद्देश्यों का निराकरण नहीं करता है किन्तु जब तक 'स्वान्तः-सुखाय' की भावना नहीं होती, जब तक काव्य में हृदय का रस नहीं मिलता, तब तक उसमें सजीवता नहीं आती है। जो लोग लोकहित और प्रचार को महत्ता देते हुए 'स्वान्तः सुखाय' का विरोध करते हैं उनको यह जानना चाहिए कि 'स्वान्तःसुखाय' के बिना लोकहित भी ग्रामोफोन के रेकार्ड का-सा प्रोपेगेन्डा बन जाता है। उसमें जान नहीं होती। कबीर में लोकहित था किन्तु उसके साथ उनका स्वान्तःसुख भी मिला हुआ था। तुलसी ने जो लोकहित की बातें कहीं वे सब हृदय की ईमानदारी के साथ और 'स्वान्तःसुखाय' कहीं।

अब प्रश्न यह होता है कि तुलसी ने 'स्वान्तःसुखाय' की बात कहकर क्या व्यक्तिवाद को आश्रय दिया? तुलसी व्यक्तिवादी नहीं थे। वे लोक-संग्रह और समाज-व्यवस्था में विश्वास रखते थे। उनका

व्यक्तिवाद नहीं

स्वान्तःसुख 'बहु जनसुखाय' और 'बहु जनहिताय' भी था। उनका स्वान्तःसुख रामभक्ति की प्रतिष्ठा में था और उस समय समाज को व्यवस्था देने और उसकी रक्षा के लिए राम के आदर्श

चरित का अनुशीलन आवश्यक था । इसलिए उनका 'स्व' संकुचित स्व न था, उसका विश्वात्मा से जिसके प्रतीक भगवान राम थे तारात्म्य था ।

गोस्वामी का स्वान्तःसुखाय 'आर्ट फार आर्टस् सेक' का बहुत उन्नत हुआ रूप हो सकता है किन्तु 'आर्ट फार आर्टस् सेक' साधारण और प्रचलित अथ में नहीं है । वे काव्य-कला के सब अङ्गों को जानते हुए भी उनकी परवाह नहीं करते थे । नीचे की चौपाई में वे प्रायः सभी अङ्गों को गिनाकर कहते हैं कि उनकी सफलता इनके कारण नहीं वरन् रामविषयक होने के कारण हैं—

कलावाद नहीं

"आखर अरथ अलंकृति नाना ।
छन्द प्रबन्ध अनेक विधाना ।।
भाव-भेद रस-भेद अपारा ।
कवित-दोष-गुन विविध प्रकारा ।।
कवित्त विवेक एक नहिं मोरे ।
सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे ।।

× × ×

एहि महँ रघुपति नाम उदारा ।
अति पावन पुरान स्नुति-सारा ।।"

—रामचरितमानस (इण्डियन प्रेस) पृष्ठ १५

'आखर अरथ अलंकृति नाना' से अक्षर और अर्थ ('वर्णानामर्थ-संघानां रसानां छन्दसामपि'[1] कालिदास ने भी वागर्थ को प्रधानता दी है)

---

१. यह रामचरितमानस के मङ्गलाचरण का पहला ही श्लोक है । इसमें काव्य के सभी उपकरण आ गये हैं । शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर माना गया है । उसको बतलाने के लिए वर्णों और अर्थ संघों का उल्लेख हुआ । अर्थों के संघ में अभिधा,' लक्षणा, व्यञ्जना आदि शब्द-शक्तियाँ भी आ गई—रस को काव्य की आत्मा कहा गया है । वर्णों और अर्थों के साथ रसों का भी उल्लेख हुआ है । रसों को प्रेषणीयता देने के

का अभिप्राय लिया गया है किन्तु इसका कर्थ अलंकृति को मिलाकर शब्द और अर्थ के अलङ्कार भी हो सकता है । छन्द-रचना के अनेकों प्रकार, भाव-भेद और रस-भेद कविता के गुण-दोष का ज्ञान रखते हुए भी वे अपने को इनमें अनभिज्ञ बतलाते हैं ।

"कवि न होउँ नहिं वचन-प्रबीनू ।
सकल कला सब विद्या-हीनू ॥"

उन्होंने केशव की भाँति यह गर्व नहीं किया 'रामचन्द्र की चन्द्रिका वर्णत हौं बहु छन्द ।' गोस्वामी जी ने रघुपति के नाम को ही प्रधानता दी है । वह कला की अपेक्षा विषय को प्रधानता देते हैं । विषय की उच्चता से कला में भी उच्चता आ जाती है । कवित्व चाहे जितना हो किन्तु उसमें विषय की उत्तमता न हो तो वह नीरस हो जाता है, देखिए—

विषय की उत्तमता

"भनिति विचित्र सु-कवि-कृत जोऊ ।
राम नाम बिनु सोह न सोऊ ॥
विधुबदनी सब भाँति संवारी ।
सोह न बसन बिना धर नारी ॥
—रा० च० मानस पृष्ठ १५

गोस्वामी जी का जीवन जैसा राममय था वैसी ही उनकी कविता राम-मय थी और यही उनके श्रेय का कारण थी । कलावादी विषय को प्रधानता नहीं देते और वे लोकहित से उदासीन रहते हैं । गोस्वामी जी ने लोकहित को मुख्यता दी है ।

लिए छन्दों की आवश्यकता होती है । तुलसीदास जी छन्दों को भी नहीं भूले हैं । 'मङ्गलानांचकर्त्तारौ' में काव्य के मङ्गलविधायक उद्देश्य की ओर भी संकेत हुआ है । वाणी और विनायक की जो प्रार्थना की गई है वह भी काव्य की आवश्यकताओं के अनुकूल है । वाणी का, सरस्वती का सम्बन्ध शब्द, योजना और कला से है और विनायक का सम्बन्ध अर्थ या भावपक्ष से है । इसमें बुद्धि और हृदय का भी समन्वय व्यञ्जित है ।

"कीरति भनिति भूति भलि सोई।
सुरसरि-सम सब कहँ हित होई॥" रा० च० मानस पृष्ठ २१

हितवाद

तुलसी कलावादी नहीं थे वरन् हितवादी थे और उनका हितवाद हृदय-पक्ष से समन्वित था। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि तुलसी का सृजन-सिद्धान्त हित-समन्वित हृदयवाद था। वह Art for art's sake न था वरन Art for Heart's sake था और उनका हृदय विश्वात्मा के हृदय के साथ ठीक प्रतिस्पन्दित होता था। उनका 'स्वान्तःसुखाय' स्वच्छन्दतावाद नहीं था। आजकल का हृदयवाद लोक-मर्यादा की परवाह नहीं करता, न उसको लोक-मत का ध्यान रहता है।

लोकमत का आदर

तुलसी के हृदयवाद में लोकमत की उपेक्षा नहीं थी लेकिन उनके लोकमत में बुध जन सम्मिलित थे और होना भी यही चाहिए। साधारण लोकरुचि और लोकमत में नौटङ्की और स्वाँग भी आदर पा जाते हैं। इसलिए वह स्वान्तःसुखाय के पक्ष-पाती होते हुए बुध जनों की आदर की अपेक्षा रखते हैं; वे साधु समाज में अपनी वाणी का सम्मान चाहते थे, देखिए—

"होहु प्रसन्न देहु बरदानू।
साधु समाज भनिति सनमानू॥
जो प्रबन्ध बुध नहिं आदरहीं।
सो स्रम बादि बाल कवि करहीं॥" रा० च० मानस पृष्ठ २०

कवि और भावक

गोस्वामीजी भावक और आलोचकों के प्रति उदासीन नहीं थे। वे कवि और भावक (Critic) का कार्य अलग-अलग मानते थे और भावक और सहृदय पाठक के आस्वाद में ही काव्य की पूर्णता स्वीकार करते थे, देखिए—

"मनि-मानिक-मुकता-छबि जैसी।
अहि-गिरि-गज-सिर सोह न तैसी॥

नृप-किरीट तरुनी-तनु पाई।
लहहिं सकल सोभा अधिकाई॥
तैसेहि सु-कवि-कवित बुध कहहीं।
उपजहिं अनत अनत छवि लहहीं॥"

—रामचरितमानस (इण्डियन प्रेस) पृष्ठ; १७

संस्कृत में भी कहा है—'एकः सूते कनकमुपलः तत्परीक्षाक्षमोऽन्य' अर्थात् एक पत्थर सोना उत्पन्न करता है किन्तु उसकी परीक्षा करने वाला दूसरा ही पत्थर (कसौटी का) होता है।

इसी हितवाद के कारण तुलसी ने भाषा की भी परवाह नहीं की वे भाषा को गौण ठहराते हुए भाव के ही पारखी थे।

"का भाषा का संस्कृत, प्रेम चाहिये साँच
काम जु आवे कामरी, का ले करै कुमाँच॥"

—दोहावली ५७२

किन्तु उनकी भाषा की कामरी संस्कृत के कुमाँच से अधिक मूल्यवान बन गई। भाषा को वे बाह्य आडम्बरों से दबाना भी नहीं चाहते थे। वे उसको सरल और जन साधारण के बोधगम्य देखना चाहते थे—

"सरल कवित कीरति विमल
सोइ आदरहिं सुजान।
सहज वैर विसराइ रिपु
जो सुनि करहिं बखान॥"

—रा० च० मानस; पृष्ठ २१

भाषा की सरलता के साथ वे भगवान रामचन्द्र जैसे विमल कीर्ति वाले चरित-नायक चाहते थे। तुलसीदास ने हिन्दी के साथ बड़ा उपकार किया कि उस समय पण्डित समाज में संस्कृत का प्रचार होते हुए भी और संस्कृत में लिखने की क्षमता रखते हुए भी उन्होंने राम कथा के सहारे हिन्दी को ऊँचा उठाया, यद्यपि केशव की भाँति उन्होंने हिन्दी में लिखने के लिए अपने को 'मन्द-मति' नहीं कहा। 'उपज्यो तेहि कुल मन्दमति शठ कवि

चरित नायक की श्रेष्ठता

केशवदास'। तथापि हिन्दी को हीनता की थोड़ी-बहुत कसक अवश्य थी—

"स्याम सुरभि पय विसद अति
गुनद करहिं सब पान।
गिरा ग्राम्य सिय-राम-जस,
गावहिं सुनहिं सुजान ॥"

—रा० च० मानस; पृष्ठ १७

किन्तु गोस्वामीजी को हम इसके लिए दोषी नहीं ठहराते। हिन्दी को 'ग्राम्य' कहने में उनके मुख से तत्कालीन पण्डित-समाज बोल रहा था। फिर भी उन्होंने बड़ा साहस किया। वास्तव में वे हिन्दी को हीन नहीं कहना चाहते थे वरन् राम-यश वर्णन को बड़ाई करना चाहते थे। एक की बड़ाई में दूसरे का छोटापन कुछ व्यञ्जित हो जाता। वे जब अपने को ही श्रेय नहीं देते थे तब अपनी वाणी को क्या श्रेय देते?

गोस्वामीजी की कविता में जो रस और कवित्व आया है वह स्वाभाविक रूप से या विषय के प्रभाव से (रामप्रताप) आया।

"जदपि कवित रस एकउ नाहीं।
राम-प्रताप प्रगट एहि माँही ॥"

—रा० च० मानस (इण्डियन प्रेस); पृष्ठ १६

—'साहित्य-सन्देश' जुलाई १६५१

विनय-पत्रिका : एक संक्षिप्त अध्ययन

गीतों का सम्बन्ध प्रायः स्त्रियों से किया जाता है और एक दूषित मनोवृत्ति के कारण उस शब्द का महत्त्व भी कुछ घटा हुआ सा दिखाई देता है। किन्तु उस शब्द की पूर्ण प्रतिष्ठा हमको श्रीमद्-भगवद्गीता और गीत-गोविन्द में दिखाई देती है। जब हम किसी रचना के गीत कहते हैं तब उसका महत्त्व घटता नहीं है। जो गाया जाय या गाया जा सके वह गीत है। इसलिए हमारे परम पूज्य ग्रन्थ वेदों की रचनाएँ भी गीत की ही संज्ञा में आती हैं। स्वयं वेद भी अपने को गीत घोषित करते हैं **'गीर्भिःवरुण सीमहि'**। हे मेरे वरणीय! मैं गीतों में तुम्हें बाँधता हूँ। इतना ही नहीं गीत गायक के प्रभु को भी प्रिय हैं—

गीति काव्य

"सेमं नः स्तोमया गह्यु पेदं सवनं सुतम्
गौरो न तृषितः पिब" ऋ० १-१६-५

(प्यासा गौर मृग जैसे जलाशय से जल पीता है वैसे ही तुम मेरे गीत में तन्मय होकर मेरा अनुभव करो)।

—महादेवी का विवेचनात्मक गद्य; पृष्ठ १५०-१५१

हमारी मानसिक वृत्तियों में ज्ञान की अपेक्षा भावना की वृत्ति कहीं अधिक शक्तिशालिनी और वेगवती होती है। भावना के बल पर ही धर्म अधिकांश मानव-समाज संचालन करता है।

भावों की अभिव्यक्ति अपने हृदय का भार हलका करने के लिए होती है, वह सच्चे रूप में स्वान्तःसुखाय कही जा सकती है। भाव-लहरी जब मानसरोवर में तरंगित होती है तब आत्माभिव्यक्ति अदम्य आवश्यकता

बन जाती है। भावों की गतिमयता अपने लिए गद्य का सिकतामय मार्ग छोड़कर संगीत का तरल और प्रवाहमय माध्यम खोज निकालती है। शब्द निर्झर वेग से प्रवाहित होने लगते हैं। श्रीमती महादेवी वर्मा के शब्दों में हम गीत की इस प्रकार व्याख्या कर सकते हैं—"साधारणतः गीति व्यक्तिगत सीमा में तीव्र सुखदुखात्मक अनुभूति का वह शब्द रूप है जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके।"

डा० रामकुमार वर्मा के गीतिकाव्य के चार लक्षण हैं (१) आत्माभिव्यक्ति (२) विचारों की एकरूपता (३) संगीत और (४) संक्षिप्तता।

लक्षणों का पूर्ण निर्वाह

विनय-पत्रिका में ये चारों गुण पूर्णरूपेण मिलते हैं। तुलसी के आत्म-निवेदन में दास्य-भाव का पूर्ण आत्म-समर्पण और निजीपन है। वे भगवान की प्रसन्नता के लिए एक निजी उत्साह के साथ काव्य-रचना करते हैं। यद्यपि आचार्य शुक्लजी ने विनय-पत्रिका में भी तुलसी की प्रवृत्ति प्रगीत-काव्य की अपेक्षा अनुकृत काव्य की ओर अधिक बताई है (शुक्लजी स्वयं अनुकृत या विषयगत काव्य के पक्ष में अधिक हैं, ऐसा लिखना उनके मानसिक झुकाव का फल है) तथापि इसमें लोक के प्रतिनिधित्व की अपेक्षा अपना प्रतिधिनित्व अधिक है। गोस्वामीजी तत्कालीन परिस्थितियों से प्रभावित अवश्य थे, उसकी उनको चेतना भी थी, **'राज-समाज कुसाज कोटि कटु कल्पत कलुष कुचाल नई है'** (विनय-पत्रिका १३९) आदि बातें सामाजिक विषमताओं के प्रति उनकी जागरुकता की द्योतक हैं किन्तु ये पंक्तियाँ अभियुक्त कविकाल की शिकायत में ही कही गई हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि विनय-पत्रिका में लोक-पक्ष के होते हुए भी निजीपन और वैयक्तिकता, जो गीत-काव्य की जान है, अधिक है।

विनय-पत्रिका में सब विचार इष्टदेव राम के प्रति दास्य भाव से शरणागति में अन्वित हैं। उसके सभी पद भावानुकूल रागों में बँधे हुए हैं और उनमें संक्षिप्तता का भी गुण (कुछ पदों को छोड़कर) वर्तमान है।

वयर्य-विषयों के सम्बन्ध में तुलसी की विनय-पत्रिका अन्य सब गीत-

काव्यों से भिन्न है। गीत-गोविन्द की कोमलकान्त पदावली में भी हरि-स्मरण की रसायन की अपेक्षा विलास-कला-कौतूहल का मधुमय अवलेह अधिक है। विद्यापति और चण्डी-दास में भी प्राय: यही बात है। धार्मिक भाव रखते हुए भी उन लोगों ने कृष्ण और राधा को शृंगार रस के आलम्बन और आश्रय के रूप में ही अधिक दिखाया है। कबीर में भावाभिव्यक्ति है। निर्गुण आलम्बन के प्रति दाम्पत्य-भाव की शृंगारमयी अभिव्यंजना की गई है किन्तु उनके निर्गुण पर जो शृंगारिक आलम्बन का आवरण डाला गया है वह उनकी झीनी-बीनी चदरिया की भाँति ही पारदर्शक है। उनकी सेज शून्य की होकर शून्य ही-सी बनी रहती है। निर्गुण का गुनगान तो एक वदतो व्याघात-सा लगता है फिर भी उसकी परात्परता और अतीतता एवं व्यापकता भावना के विषय बन जाते हैं। उनको कल्पना में दूलह का रूप दिया जाता है और स्वयं 'राम की बहुरिया' बनकर उन्होंने ब्रह्म के प्रति आत्म-निवेदन भी किया है किन्तु उसमें न मीरा का-सा निजीपन आता है और न तुलसी की सी तीव्रता और आर्त-भावना। कबीर में वह दीनता और अपने दोषों की आत्म-स्वीकृति न थी जो गोस्वामीजी में भी थी। कबीर तो परवाना लेकर आये थे और वे कबीर (बड़े) ही थे। सूर में अवश्य दीनता और तन्मयता थी। उनके कथात्मक पदों में भी 'सूर के प्रभु' की छाप लग जाने से एक निजीपन आ जाता है और वे आत्म-निवेदन का रूप धारण कर लेते हैं। उनके विनय के पदों में थोड़े-बहुत अक्कड़पन के साथ दीनता है लेकिन तुलसी की-सी आर्तता नहीं। इसका शायद यह कारण हो कि गोस्वामीजी को कलियुग का जितना कटु अनुभव था उतना सूर को नहीं। तुलसी की अपेक्षा सूर को अपने सम्प्रदाय का संरक्षण अधिक मिला था।

अन्यगीत-काव्यों से भिन्नता

विनय-पत्रिका अन्य मुक्तक ग्रन्थों से एक और बात में भिन्न है। वह यह है कि यह नितान्त संग्रह-ग्रन्थ नहीं है। इसमें एक क्रम और व्यवस्था है। इसके प्रारम्भ में देवताओं की जो प्रार्थनाएँ हैं वह एक विशेष मर्यादा

के क्रम से रखी गई हैं । पहले गणेश जी की, फिर सूर्य की उसके बाद महादेवजी की ।

इसमें विनय-पत्रिका का पूरा रूपक बांधा गया है । दरबारी मर्यादा की पूरी रक्षा की गई है । माता सीता, लक्ष्मणजी आदि की सिफारिश है और अन्त में रामचन्द्रजी की 'सही' है । एक जगह हनुमानजी से कुछ अनुचित वह कह गए—

"जानत हौं कलि तेरेऊ मनु गुनगन कीले ।" (३२)

इसी दोष की क्षमता याचना के लिए वे लिखते हैं—

"अति आरत, अति स्वारथी, अति दीन दुखारी ।
इनको बिलगु न मानिये, बोलहिं न बिचारी ।।"३४।।

इस प्रकार इसमें स्वतःपूर्ण मुक्तक होते हुए भी इसके पद एक क्रम से व्यवस्थित हैं ।

विनय-पत्रिका शान्त रस से आप्लावित है । इसमें रस की पूर्ण सामग्री रस मिलती है । इसका स्थायी भाव निर्वेद है जो संसार के अभावों से नहीं वरन् संसार की अनित्यता और असारता से उत्पन्न होता है—

"मन पछितैहै अवसर बीते ।
× ×
सुत बनितादि जानि स्वारथ रत, न करु नेह सब ही तें ।
अंतहु तोहि तजैंगे, पामर ! तू न तजै अबही तें ।।"१९८।।

भगवान रामचन्द्रजी इसके आलम्बन विभाव हैं । वे सगुण और निर्गुण दोनों ही हैं । वे सच्चिदानन्द ब्रह्म हैं और भक्तों के हित नर रूप धारण करते हैं । 'जयति सच्चिद्व्यापकानन्द पद्, ब्रह्म बिग्रह-व्यक्त लीलावतारी) ।'४२। उनके सौन्दर्य (कन्दर्प-अगनित-अमित-छबि, नवनील नीरज सुंदरम् ।४५।) शक्ति (दनुज-बन-धूमध्वज, पीन आजानु भुजदण्ड कोदण्डधर-चण्डबानं ।४६।) और शील ('निजगुन परिकृत अनहितौ दास दोष सुरति चित न रहत दिये दान की ।' शील का वर्णन पद-संख्या १०० में बड़ा सुन्दर हुआ है—'सुनि सीतापति सील सुभाउ ।') तीनों

दैवी विभूतियों का वर्णन है । इसके अतिरिक्त भक्तवत्सलता आदि के भी बहुत से उदाहरण हैं ।

उद्दीपनों में राम पद अंकित भूमि रघुवर विहार-स्थल चित्रकूट और कामधेनु कलिकासी आदि तीर्थों तथा संत-संगति का (**देहि सतसंग निज अंग श्री रंग, भव भंग-कारन, सरनसोक हारी**—(पद ५७) वर्णन है ।

इसमें शान्त रस के पश्चाताप, दैन्य, हर्ष, सन्तोष आदि संचारियों के वर्णन की प्रचुरता है । तुलसी ने स्वयं इन संचारियों का भक्ति के साधन रूप से उल्लेख किया है— (**सम संतोष विचार विमल अति, सतसंगति, ये चारि दृढ़ करि धरु**) यत्रतत्र अनुभाव भी बिखरे पड़े हैं (**सजल नयन, गद्‌गद् गिरा, गहवर मन, पुलक सरीर**) और रौद्र, अद्‌भुत, वीर, करुण रस, अंग या संचारी रूप से मौजूद हैं । अद्‌भुत का उदाहरण देखिए—

"केसव, कहि न जाइ का कहिये ।

× ×

सून्य भीति पर चित्र, रंग नहिं, तनु बिनु लिखा चितेरे ।"१११।

इस प्रकार ग्रन्थ में शान्त रस पूर्णतया पुष्ट होता है ।

तुलसी की भक्ति-भावना दास्य-भाव की है जिसमें पूर्ण दैन्य और शरणागति के भावों का निर्वाह हो सकता है । दास्य में अभिमान छूने नहीं पाता । सेवक के नाते सारी जिम्मेदारी स्वामी पर आ जाती है । (**'बिगरे सेवक स्वान ज्यों साहिब सिर गारी'**—पद १५०) वैष्णवों की भक्ति की यह विशेषता है कि वे अपने उद्धार के लिए अपने पुरुषार्थ पर भरोसा नहीं करते । इस बात का निदर्शन विनय-पत्रिका में पूर्ण रीति से है । **'करि उपाय पचि-मरिय तरिय नहिं जब लगि करहु न दाया ।'**(११६) । भक्त का कल्याण भगवान के अनुग्रह पर अवलम्बित है । किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि नीति और साधना की अवहेलना की गई हो । तुलसीदासजी को अपने दोषों की पूरी चेतना थी ।

भक्ति-भावना

तुलसी ने अपने भगवान के शील का वर्णन कर नीति का उच्च

आदर्श हमारे सामने उपस्थित किया है ।

तुलसीदासजी भक्ति को ही परम साध्य मानते हैं 'चहौं न सुगति, सुमति, सम्पति, कछु, रिधि सिधि, बिपुल बड़ाई । हेतुरहित अनुराग राम पद बढ़ौ अनुदिन अधिकाई ।'(१०३) । भगवत सम्बन्ध में रहने की तुलना में वे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूपी चारों फलों को भी तुच्छ समझते हैं—

"मोको अगम, सुगम तुम्हको प्रभु !
तऊ फल चारि न चहिहौं ।
खेलिबे कौ खग मृग तरु किंकर ह्वै
रावरो राम हौं रहिहौं ॥"२३१॥

साधनों में भी गोस्वामीजी भक्ति को ही मुख्यता देते हैं—

"तुलसिदास व्रत दान ज्ञान
तप, सिद्धि हेतु स्रुति गावै ।
रामचरन-अनुराग-नीर बिनु
मल अति नास न पावै ॥"८२॥

यद्यपि गोस्वामीजी ने भक्ति को सबसे अधिक महत्ता दी है तथापि उन्होंने ज्ञान की अवहेलना नहीं की है । ज्ञान और भक्ति के योग से भगवान का अवतार होता है । भक्ति को माता का-सा महत्त्व दिया है । 'ग्यान-अवधेस, गृह-गेहिनी-भक्ति सुभ, तत्र अवतार भूभार हर्त्ता ।' (५८) किन्तु वह ज्ञान भी हरि और गुरु की कृपा पर आश्रित रहता है—"हरि गुरु करुना बिनु बिमल बिबेक न होई ।"

यद्यपि तुलसीदासजी ने दास्य भाव की भक्ति की है तथापि उनके स्वामी के साथ उनका भय का सम्बन्ध नहीं है । उनका प्रेम का सम्बन्ध है । उनके स्वामी भी ऐसे नहीं जो बहुत अधिकार जताते हों । वे केवल प्रेम के भूखे हैं, देखिए 'बलि पूजा चाहत नहीं चाहै हौं एक प्रीति' (१०७) । इसी प्रीति के बल पर सूरदास की भाँति उनसे अकड़ सकते हैं और हठ भी करते हैं, देखिए—

"प्रन करि हौं हठि आजु तें रामद्वार पर्यो हौं
'तू मेरो' यह बिनु कहे-उठिहौं न जनम भरि
प्रभु की सौं करि निबर्यौ हौं।
दै दै धक्का जमभट थके, टारे न टर्यौ हौं।
× × ×
हौं मचला, लै छाड़िहौं जेहि लगि अर्यौ हौं ॥"२६७॥

तुलसी के भगवान तो इतने भक्तवत्सल हैं कि वे स्वयं ही भक्त पर कृपा करते हैं और उसी को जगाते हैं। यदि उससे वह लाभ न उठावे तो उसका दोष है। सज्जन लोग उससे लाभ उठाकर सुखी होते हैं।

"जानकीस की कृपा जगावती, सुजान जीव,
जागि त्यागु मूढ़ताऽनुरागु श्रीहरे ॥
× × ×
स्रवन सुनि गिरा गँभीर, जागे अति धीर,
बीर बर विराग तोष सकल संत आदरे।"७४।

विनय-पत्रिका में भक्ति की सातों भूमिकाएँ मिलती हैं, देखिए—

दीनता—

"दीन को दयालु दानि दूसरो न कोउ।
जाहि दीनता कहौं हौं दीन देखौं सोऊ ॥"७८॥
× × ×
"माधव मो समान जग माहीं।
सब बिधि हीन, मलीन, दीन अति लीन-विषय कोउ नाहीं ॥"११४॥

मानमर्षता—

"कृपा सो धौं कहाँ बिसारी राम!"
× × ×
एक-एक रिपु तें त्रासित जन, तुम राखे रघुवीर।
अब मोहि देत दुसह दुख बहु रिपु कस न हरहु भव पीर ॥९३॥

भय-दर्शना—

"सुनु मन मूढ़ सिखावन मेरो !

हरिपद विमुख लह्यो न काहू सुख, सठ यह समझ सबेरो ।।८७।।"

भर्त्सना—

"मेरो मन हरि ! हठ न तजै !

× × ×

लोलुप भ्रम गृह पसु ज्यों जहँ-तहँ सिर पद-त्रान बजै

तदपि अधम बिचरत तेहि मारग कबहुँ न मूढ़ लजै ।।८६।।"

आश्वासन—

"ऐसी हरि करत दास पर प्रीती ।६८।"

× × ×

ऐसो को उदार जग माहीं !

बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर राम सरिस कोउ नाहीं ।।१६२।।

मनोराज्य—

"कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो

श्री रघुनाथ-कृपालु-कृपा तें संत-सुभाव गहौंगो ।।१७२।।"

विचारणा—

"केसव कहि न जाइ का कहिये ? ।।१११।।"

× × ×

माधव ! असि तुम्हारि यह माया ।११६।"

इन भूमिकाओं के अतिरिक्त विनय-पत्रिका में पश्चात्ताप आदि के भी बड़े सुन्दर पद मिलते हैं। इन पदों में पश्चाताप के साथ दृढ़ संकल्प भी मिलता है—

"अब लौं नसानी अब न नसैहौं ।

राम-कृपा भवनिसा सिरानी, जागे पुनि न डसैहौं ।१०५।"

इस प्रकार तुलसी की विनयपत्रिका में वैष्णव धर्म का रूप साँगोपाङ्ग उतर आता है। सूर तथा अन्य भक्तों और तुलसी की भक्ति में इसी बात

का अन्तर है कि तुलसी में दोषों की आत्म-स्वीकृति अधिक है 'नाहिन कछु औगुन तुम्हार, अपराध मोर मैं माना' और उसी के साथ नीति और वेद तथा लोक-मर्यादा के पालन पर आग्रह है । तुलसी अपनी अनन्यता, निस्वार्थता और आर्तता में किसी से कम नहीं हैं ।

गोस्वामी तुलसीदास जी मूलतः भक्त थे । भक्ति ही उनका जीवन रस था । वे दार्शनिक पचड़ों में नहीं पड़ना चाहते थे । उनके लिए दार्शनिकवाद भी प्रपंच रूप थे । उनको वे 'वाक्य-ज्ञान' के ही अन्तर्गत रखते थे (वाक्य-ज्ञान अत्यन्त निपुन भव-पार न पावै कोई) इसलिए उन्होंने सब वादों को भ्रम रूप कहा है । देखिए—

दार्शनिक विचार

"कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल करि मानै ।
तुलसिदास परिहरै तनि भ्रम, सो आपन पहिचानै ॥१११॥"

फिर भी वे संसार के और जीव ब्रह्म के सम्बन्ध में विचार किये बिना नहीं रहे । भक्ति के लिए भी तो दार्शनिक आधार चाहिए । संसार को मिथ्या और अनित्य बतलाने में उन्होंने मायावाद के सब रूपकों को अपनाया है । संसार को मिथ्या मानना उनकी अनन्य भक्ति में साधक था क्योंकि उसको सत्य मानकर उसके प्रति आसक्ति नहीं छूट सकती—

"जगनभ-वाटिका रही है फलि फूलि, रे !
धुवाँ के से धौरहर देखि तू न भूलि, रे ॥ ६६ ॥

इस संसार को उन्होंने मृगवारि और रज्जु-सर्प और स्वप्न-का-सा धोखा भी माना है—'बूड़ो मृगबारि, खायो जेवरी को साँप रे' (७२) —किन्तु इन उपमाओं द्वारा उन्होंने संसार के त्याग पर ही अधिक बल दिया है और मैं और मोर के अहं-भाव को ही दुःख का कारण माना है । देखिए—

"सपने व्याधि विविध बाधा जनु,
मृत्यु उपस्थित आई ।
बैद अनेक उपाय करें,
जागे बिनु पीर न जाई ॥

स्रुति-गुरु-साधु-स्मृति-सम्मत यह,
दृश्य सदा दुखकारी।
तेहि बिनु तजें, भजे बिनु रघुपति,
बिपति सकै को टारी?
बहु उपाय संसार-तरन कहँ,
बिमल गिरा स्रुति गावै।
तुलसिदास मैं-मोर गये बिनु,
जिय सुख कबहुँ न पावै॥"
(विनय-पत्रिका-१२०)

यह कहना कठिन है कि वैराग्य-साधना के ही लिए अथवा वास्तव में भी वे संसार को मिथ्या मानते थे। यह प्रश्न अवश्य उपस्थित होता है कि क्या वे चित्रकूट और अयोध्या को भी मिथ्या मानते थे? उनके राम तो स्वयं ब्रह्म ही थे। वहाँ परमार्थ और व्यवहार का भेद न था।

जीव और ब्रह्म की एकता के सम्बन्ध में वे द्वैत-भाव की ओर अधिक झुके हुए प्रतीत होते हैं, यद्यपि कहीं-कहीं एकता की भी झलक मिलती है।

नीचे के पदांश में द्वैत-भाव स्पष्ट है। यह भाव भक्ति का पोषक होने के कारण तुलसीदासजी को मान्य होगा, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। देखिए—

**"हौं जड़ जीव, ईस रघुराया।
तुम मायापति हौं बस माया॥ १७८॥"**

उनके राम माया के बस में नहीं थे, इसलिए वे राम होकर भी ब्रह्म बने रहते थे और जीव मायावश होने के कारण जीव ही रहता है। माया छूटने पर भी वह ईश्वर-अंश ही रहेगा, ईश्वर नहीं होगा—**'ईश्वर अंस जीव अविनाशी।'** कबीर की भाँति समुद्र में दरिया नहीं समाता, इसलिए तुलसीदास जी कहते हैं—

**"तुलसीदास जाचक रुचि जानि दान दीजै।
रामचन्द्र चन्द्र तू, चकोर मोहि कीजै॥ ८०॥**

नीचे का पद इसी अंशांशी भाव की अद्वैतता की ओर संकेत करता है। ईश्वरांश होने से जीव के कल्याण की आशा रहती है। इसमें ज्ञान की अपेक्षा रहती है, लेकिन वह ज्ञान भी भगवत्-कृपा के आश्रित है। देखिये—

"जिय जब तें हरि तें बिलगान्यो।
तब तें देह गेह निज जान्यो॥
मायाबस सरूप बिसरायो।
तेहि भ्रम ते दारुन दुख पायो॥
× × ×
बहु जोनि जनम जरा बिपत्ति,
मतिमंद हरि जान्यो नहीं।
श्रीराम बिनु विश्राम मूढ़!
विचार लखि पायो कहीं॥" (१३६।१)

यद्यपि केशवदास के विपरीत गोस्वामी जी भक्त पहले और कवि पीछे थे तथापि कवित्व में भी वे केशव या और किसी कवि से पीछे न थे वरन सौ-पचास कदम आगे ही थे। भाव की गहराई, कल्पना का विस्तार, विचार की उच्चता और सुकुमारता तथा अभिव्यक्ति की सुघराई जो एक कुशल कवि के लिए अपेक्षित गुण हैं वे सब उनमें थे और वे सब उनको भक्ति के ही वरदान-स्वरूप मिले थे। कबीर में भाव-पक्ष प्रबल था किन्तु कला-पक्ष न्यून था। केशव का कला-पक्ष प्रबल था तो भाव-पक्ष कुछ क्षीण था। तुलसी के दोनों ही पक्ष पुष्ट और मांसल थे, तभी वे इतनी ऊँची उड़ान ले सके।

कवित्व, भाषा और शैली

भक्ति-भावना की तीव्रता के कारण उनको कल्पना की ऊँची उड़ानें लेनी पड़ी थीं। इष्टदेव की प्रसन्नता के लिए सब प्रकार के साधनों का मानसिक मन्थन किया गया था। उनके हृदय के उत्साह ने उनकी कल्पना को पर दे दिये थे। इष्टदेव से सिफारिश के लिए वे सीताजी से प्रार्थना करते हैं किन्तु अपने आराध्य की महत्ता को नहीं भूलते, इसलिए वे एक-एक शब्द सोच-सोच कर रखते हैं। बच्चे माता से ही अधिक निकट का सम्बन्ध

रखते हैं, इसीलिए वे सीताजी को निजी सम्बन्ध के साथ अम्ब कहते हैं। फिर बेचारे डरते-डरते कहते हैं **'कबहुँक अम्ब अवसर पाइ।'** (४१) आर्त होते हुए भी उतावली नहीं करना चाहते। **'कबहुँक'** ही इस बात के लिए काफी था **'अवसर पाइ'** जोड़कर जल्दी न करने के भाव को और भी पुष्ट कर दिया। इसके द्वारा अपने आराध्य की कार्य-व्यग्रता की भी व्यंजना कर दी। **'मेरी औ सुधि द्याइबी'** में, **'औ'** शब्द बड़ा अर्थ-व्यंजक है। वे जानते हैं कि माता के नाते सीताजी को बहुत सी सिफारिश करनी पड़ती होगी। **'द्याइबी'** का बुन्देलखण्डी प्रयोग एक विशेष माधुर्य उत्पन्न कर देता है। **'कछु करुन कथा चलाइ'** कह भगवान का ध्यान आकर्षित करने का भी ढंग बता दिया जिससे यह भी व्यंजित कर दिया कि भगवान करुणा से सहज ही में आकर्षित होते हैं।

अपने निस्तार के लिये भी तुलसी ने अपनी कल्पना में नई-नई युक्तियाँ सोच ली थीं। डूबते को तिनके का सहारा। धर्मराज जी उनके पापों को गिनते-गिनते, अपना काम भूल जायेंगे, पापी लोग भाग निकलेंगे। फिर कल्पना को एक कदम आगे बढ़ाकर कहते हैं—

"चलि हैं छूट पुंज पापनि के, असमंजस जिय जनि है।
देखि खलल अधिकार प्रभु सों मेरी भूरि भलाई भनि है॥" ९५॥

गोस्वामीजी की कल्पना का विस्तार हमको पद-पद पर रूपकों और अलंकारों में मिलता है। प्रभाव उत्पन्न करने के साधनों में विरोधात्मक तुलना (Contrast) भी एक है। इसका कोई विशेष नाम तो नहीं है किन्तु यह विषम के ही अन्तर्गत हो सकेगा। भक्ति की विषयों से तुलना करते हुए वे कहते हैं—**'परिहरि राम-भगति-सुर-सरिता आस करत ओसकन की।'** (९०)—एक ओर सुर-सरिता की अविरल धारा और दूसरी ओर ओस-कण में क्षण भर में नष्ट होने वाले सौन्दर्य की कितनी सुन्दर व्यंजना है। एक और देखिये—**'श्रीहरि चरन-कमल नौका तजि फिरि-फिरि फेन गह्यौ'**—चरण कमल को नौका बनाने में भी एक विशेष अभिप्राय है, कमल

अलंकार

डूबता नहीं है। फिरि-फिरि शब्द भी सार्थक है; फेन जब हाथ में स्थिर नहीं रहता और सहारा नहीं देता तब बार-बार पकड़ना पड़ता है। इस प्रकार की तुलना का एक तीसरा उदाहरण लीजिये 'परम कठिन भव व्याल ग्रसित हौं, त्रसित भयो अति भारी। चाहत अभय भेक सरनागत खग-पतिनाथ बिसारी। (६२)—भव-व्याल (सर्प) के सताये हुए के लिये खगपति (गरुड़ के भी नाथ) की शरण जाने में प्राण की आशा हो सकती है, क्योंकि गरुड़ साँप को खा जाता है किन्तु उसको छोड़कर मेंढक से रक्षा पाने की आशा करना मूर्खता का बड़ा सबल उदाहरण है। साँप मेंढक को खा लेता है। खगपतिनाथ विशेष रूप से सार्थक विशेष्य है इसलिये परिकरांकुर अलंकार है। तुलसीदासजी ने बड़े सुन्दर साँग रूपक उपस्थित किये हैं—

"विषय-वारि मन-मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक।

× × × ×

कृपा-डोरि बंसी-पद-अंकुस परम प्रेम-मृदु-चारो।
एहि बिधि बेधि हरहु मेरो दुख, कौतुक राम तिहारो ॥१०२॥"

मन को मीन बनाने में विशेष सार्थकता है। मीन कामदेव का चिन्ह है और मन काम के अधीन रहता है। गोस्वामीजी ने कुछ कबीर के-से रूपक भी बाँधे हैं—

"बाँस पुरान साज सब अठखट सरल तिकोन खटोला रे।
हमहिं दिहल करि कुटिल करमचंद मंद मोल बिनु डोला रे॥
विषम कहार मार-मद-माते, चलहिं न पाउँ बटोरा रे।

× × × ×

मारग अगम, संग नहिं संबल नाउँ गाउँ कर भूला रे ॥१८६॥"

एक पद और लीजिये, यह लोक प्रसिद्ध है कि साँप के काटे हुए को नीम कड़ुआ नहीं लगता। इस ज्ञान का रूपक द्वारा अध्यात्म पक्ष में बड़ा सुन्दर प्रयोग है, देखिये—

"काम, भुजंग डसत जब जाही।
विषय नींम कटु लगति न ताही॥ (१२७)"

उपमाएँ भी बड़ी सार्थक और सुपरिचित चित्रों से सम्बन्धित हैं। 'सुलभ-सुखद अपनो सो घरु है' (१२५) (जो लोग अंग्रेजी के Sweet home पर मुग्ध हैं उनको अब विलायत की यात्रा न करनी पड़ेगी) अंग्रेजी की Royal Road के लिए भी विनय-पत्रिका 'लागत राज डगर सो' मिलता है। 'गाड़ी के स्वान ज्यों' (रेल की यात्रा करने वाले इसकी शायद कल्पना न कर सकें लेकिन है बड़ी सार्थक क्योंकि कुत्ता लोभवश ही गाड़ी के साथ चलता है), 'जैसे गाँठि पानी परे सन की' (७५) इसी के लिये रामनरेश जी ने कल्पना की थी कि तुलसीदास किसनई करते थे। मालूम नहीं तुलसीदासजी क्या-क्या नहीं करते थे। 'तिजरो को सो टोटका' (२७२) आदि बड़ी मौलिक उपमाएँ हैं।

कहीं-कहीं अनुप्रासमयी प्रतीप की भी छटा दिखाई देती है—('कुलिस कुन्द-कुडमल दामिनि-दुति दसननि देखि लजाई। (६२)—तो कहीं क्रम-अलंकार-लाघव के बल पर पाठक को प्रसन्नता प्रदान करता है—

"सत्रु[1], मित्र[2], मध्यस्थ[3] तीनि ये मन कीन्हे बरिआईं।
त्यागव[1] गहन[2] उपेच्छनीय[3] अहि[1] हाटक[2] तृन[3] की नाईं ॥१२४॥"

एक और देखिये—

"बेनु करील, श्रीखंड बसन्तहि दूषन मृषा लगावै।
सार-रहित, हत भाग्य सुरभि पल्लव सो कहु किमी पावे ॥११४॥"

इसमें 'पत्रं नैव करील विटपे दोषो वसन्तस्य किम्' की क्षीण छाया की रेखा दिखाई देती है।

अनुप्रास के सहारे तुलसी ने बड़ी सुन्दर शब्द-योजना की है—

'दीन-दुख-दामन श्रीरमन करुना-भवन,
पतित पावन वेद बिरद गायो ॥१०६॥

'पानी पुन्य पीन को।'

'करतल ताल बजाई।'

'चरन सरन पावे'

आदि अनुप्रास के अच्छे उदाहरण हैं। तुलसी ने तुक अंत ही में नहीं

मिलाई है वरन् बहुत से स्थलों के बीच-बीच में भी मिलाते गये हैं। देखिये—

"करु बिचार, तजि बिकार, भजु उदार रामचन्द्र,
भद्र-सिन्धु, दीन बन्धु, बेद बदत रे।
मोहमय कुहू-निसा बिसाल काल बिपुल सोयो,
खोयो सो अनूप रूप स्वप्न जो परे ॥७४॥"

तुलसी के ऐसे पदों में एक विशेष गति आ गई है। शब्द स्वयं ताल के साथ नाचते-से चलते हैं। तुक के लिये तुलसी ने तोड़-मरोड़ बहुत कम की है किन्तु की अवश्य है। कहीं कहीं मुहावरे के रूप को भी बदल दिया है, जैसे हीय से तुक मिलाने के लिये माखी घीय कर दी है। वैसे मुहावरा दूध की माखी का है।

तुलसी ने भाषा की लक्षणा, व्यंजना आदि शक्ति से भी प्रचुरता से काम लिया है। रूपकों द्वारा जैसे 'भरि-भरि बेद परोसो' (१७३), में लक्षणा के साथ सुन्दर व्यंजना भी है। 'टूटियो बाँह गरे पर' (२७२) में गले पड़ना अभिधा और लक्षणा दोनों में ही सार्थक हैं और इसके साथ इसके द्वारा शरणागत-वत्सलता के लिये एक सुन्दर अपील भी हो जाती है। इस वाक्यांश में बड़ी सुन्दर चित्रोपमता भी है।

गोस्वामीजी ने साध्यवसाना लक्षणा द्वारा रूपकों को बड़ी सुन्दर रीति से सार्थक बनाया है। 'जागत ही गई बीत निसा सब, कबहुँ न नाथ नींद भरि सोयो।' (२४५) आदि इसके सुन्दर उदाहरण हैं।

विनय-पत्रिका की भाषा साधारण तौर से संस्कृतगर्भित ब्रजभाषा है किंतु उसके आरम्भिक भाग में जो स्तोत्र हैं उनमें संस्कृत पदावली तथा लम्बे-लम्बे समासों का बाहुल्य है। स्तोत्रों का गौरव देववाणी में ही अधिक सुरक्षित रहता है (देवता अपनी वाणी अधिक समझते हैं)। तुलसी ने देवताओं की प्रकृति के अनुकूल ओज और माधुर्य की सृष्टि की है। 'जयति दसकण्ठ घट करन वारिद-कवन कारन' (२५) सघन-तम-घोर-संसार-भर-सर्वरी-नाम-

भाषा

दिवसेस-खर-किरनमाली'। (५५) आदि में समासों का प्राचुर्य है। 'भीमाऽसी' 'वामाऽसी' जैसे क्रिया-पद और 'डरसि' 'सदसि' जैसी विभक्तियाँ भी मिलती हैं। दो-एक स्थलों में दूसरे संस्कृत स्तोत्रों की पदावली प्रवाह में आ गई है। जैसे—'कर्पूर-गौर, करुना-उदार। संसार-सार भुजगेन्द्रहार।' (१३) शिवजी की आरती करते हुए लोग गाते हैं—'कर्पूर-गौरं करुणावतारं संसारसारं भुजगेन्द्र हारं' ऊपर की पदावली में इसी स्तुति की छाप है।

तुलसीदास नामों के भागों में पर्यायवाची शब्द लगाने के बहुत शौकीन थे। जैसे मेघनाद के लिये वारिदनाद; कुंभकरण के लिये घटकरन।

विनय-पत्रिका की भाषा संस्कृत-गर्भित होती हुई भी प्रवाहमय है। उसमें कहावतें और मुहावरों का प्रचुरता से प्रयोग हुआ है। जैसे—

'अंजन कहा आँखि जिहि फूटे' (१७४) 'दूध को जरयो पिवत फूंकि-फूंकि मह्यो है।', 'राड़त राड़त होत फिरिकै जूझै' (१७६), 'लाज आपु ही निज जाँघ उघारे।' (१४७), 'परसत पनवारो टारो' (६४), 'जिमि गज दसन' (११८), 'सावन के अंधहि ज्यों सूझत रंग हरो' (२२६), 'पूतरो बाँधि है' (२४१), 'कोढ़ में की खाज' (२१६)।

कहीं-कहीं मुहावरों में रद्दोबदल भी कर दी है। वह शायद प्रभाव के लिये जैसे गोपद का वत्सपद कर दिया। वत्सपद तो और भी आसानी से तर जायगा। इतना ही नहीं एक स्थान में 'अजाखुर' भी कह दिया है।

विनय की संस्कृत-गर्भित भाषा में फारसी, अरबी भाषा के शब्दों का पुट मिला हुआ है किन्तु उनका तद्भव रूप कर दिया गया है—बसीलें, पील (फील), खलल, गनी, गरीब निवाज, खयाल, तकिया, बालिस, जेरो (जेर करना) आदि। मिसकीन में तो संस्कृत प्रत्यय लगाकर मिसकीनता (२६२) बना लिया है। 'छायिबी' आदि बुन्देलखण्डी के शब्द भी यत्र-तत्र दृष्टिगोचर हो जाते हैं। तुलसी ने भाषा की शक्तियों का पूर्ण उपयोग कर उसमें गति और शक्ति दोनों उत्पन्न कर दी हैं। उनकी भाषा दूसरों में हृदय को स्पर्श कर उनका दिव्य संदेश हम तक पहुँचाने में समर्थ होती है। विनय-पत्रिका उपर्युक्त गुणों के कारण भक्तों की ही नहीं वरन् साहित्यिकों की भी अमूल्य निधि बनी रहेगी।

१८

भ्रमर-गीत-प्रसङ्ग

हिन्दी साहित्य के इतिहास में भक्ति-काल स्वर्ण-युग माना जाता है। भारतीय धार्मिक चेतना के केन्द्र-स्वरूप राम और कृष्ण तत्कालीन काव्य के आलम्बन थे। उसमें विषय की पावनता और उत्कृष्टता के साथ भाव की तन्मयता, कला के चमत्कार और भाषा के माधुर्य आदि गुण जो सत्काव्य के आवश्यक उपकरण माने जाते हैं, वर्तमान थे। हिन्दी काव्य की राम एवं कृष्ण की भक्ति-सम्बन्धिनी गंगा-यमुनी धाराओं ने ह्रासोन्मुखी हिन्दू जाति में एक नये जीवन-रस का संचार किया, इसीलिए इन धाराओं के मूल प्रवर्तक सूर और शशि की पदवी से विभूषित हुए। इनके द्वारा श्रेय और प्रेय, नेम और प्रेम-सम्बन्धी मानव-हृदय के उभय पक्षों को पुष्टि मिली। जहाँ मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र के लोकोत्तर चरित्र ने मानव-जीवन को कर्तव्य के उच्च शिखर पर ले जाकर समुन्नत बनाया वहाँ आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र की बाल और यौवन-काल की सरस लीलाओं ने जीवन के माधुर्यमय पक्ष का उद्घाटन कर उसके प्रति मानव-हृदय में आस्था उत्पन्न की। एक ने यदि शक्ति का सहारा दिया तो दूसरे ने उस शक्ति के प्रयोग के लिए आकर्षण उत्पन्न किया।

भक्ति-काव्य

भक्त कवियों के लिए भगवत्-लीलाओं का गान भक्ति का एक साधन था। नारद-भक्ति-सूत्रों में बतलाई हुई ग्यारह प्रकार की आसक्तियों की पूर्ति हम सूर-सागर में पाते हैं। भ्रमर-गीत में गुण-महात्म्यासक्ति, स्मरणासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्म-निवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति और परम विरहा-सक्ति के उदाहरण मिलते हैं। इस प्रकार साम्प्रदायिक दृष्टि से भ्रमर-गीत

ग्रन्थ का महत्त्व

का विशेष महत्त्व है। मानव-हृदय की, विशेषकर नारी-हृदय के सूक्ष्म अध्ययन के लिए भी यह ग्रन्थ अद्वितीय है। इस विषय को लेकर अष्टछाप के उज्ज्वलतम रत्न सूर और नन्ददास ने ही काव्य नहीं रचा है वरन् कवि-वर रत्नाकर और हरिऔधजी ने भी इस परम्परा को अग्रसर किया है। सत्य नारायण जी ने भ्रमर अपने भौंरे को गोपियों की ओर से भेजा है।

इन प्रसंगों का मूल आधार हमको श्रीमद्भागवत् के दशम स्कन्ध के छयालीस और सैंतालीस अध्याय में मिलता है। श्रीमद्भागवत् के अनुकूल कथा संक्षेप में इस प्रकार है—कंस-वध, राजा उग्रसेन के उद्धार

श्रीमद्भागवत् का आधार

तथा गुरु-गृह से लौटने के पश्चात् श्रीकृष्णजी ने वृष्णियों के मन्त्री, बृहस्पति के शिष्य तथा अपने प्रिय सखा उद्धव को अपने पिता नंद-यशोदा तथा गोपियों की खबर लेने और उनके मानसिक ताप को दूर करने के लिए ब्रज में भेजा। भेजते समय उन्होंने गोपियों के प्रेम की बड़ी प्रशंसा की। उद्धव को ब्रज के लिए रथ पर सवार कराते समय कृष्ण की दशा का चित्रण रत्नाकरजी ने अच्छा किया है, देखिए—

'नैकु कही बैननि, अनेक कही नैननि सों
रही सही सोऊ कहि दीनी हिचकीन सों।
× × × ×
'सीरे नये बिबिध सँदेसनि की बातन की
घातन की झोंकन में लगेई चले जात है।'

सूर्य अस्त होते समय उद्धवजी नन्द के दरवाजे पहुँच गये। श्रीमद्-भागवत में उस समय के गोप-जीवन का थोड़ा आभास भी दिया गया है। उद्धव का स्वागत-सत्कार होने के पश्चात् उन्होंने नन्द और यशोदा का समाधान किया। गोपियों ने उद्धव के रथ को प्रातःकाल देखा और स्नान-संध्या से निवृत्त होकर लौटते हुए उद्धव से मिलीं। यहाँ पर उद्धव का रूप कृष्ण-का-सा ही बतलाया गया है 'तं वीक्ष्य कृष्णानुचरं व्रजस्त्रियः प्रलम्बबाहुं नवकञ्जलोचनम्। पीताम्बरं पुष्करमालिनं लसन्मुखारविंदं

मणिमृष्टकुण्डलम् ।' श्रीमद्भागवत् (दशम स्कंध-पूर्वार्द्ध, ४७।१) (इस बात का सूरसागर में भी उल्लेख है)। गोपियों ने उनको एकान्त में ले जाकर उनसे सव्यंग्य कहना शुरू किया कि वे शायद नन्द यशोदा की खबर लेने भेजे गये हैं। गोपियों की तो कौन खबर लेगा, कृष्ण के लिए बहुत सी स्त्रियाँ हैं। गोपियों ने पुरुषों की स्वार्थपरायणता को बहुत बखाना है। भौंरे को उन्होंने पुरुषों की स्वार्थ-मैत्री का उपमान बतलाया है। भ्रमरों का फूलों पर अनुराग ऐसी ही स्वार्थ-मैत्री का उदाहरण है, शायद भ्रमर-गीत में भ्रमर को मुख्यता देने का यह भी कारण हो। इतने में ही एक भौंरा आ जाता है और वह उनके पैरों के पास गुन-गुन शब्द करता है। कृष्ण को लक्ष्य कर उस भौंरे से एक गोपी ने कहा 'हे धूर्तबन्धु मधुकर ! तुम हमारे चरणों को न छुओ; तुम्हारे श्मश्रुओं में, सौत के कुचमण्डल में विहार करने वाली माला में लिप्त कुङ्कुम लगा हुआ है। मधुपति कृष्ण ही, यादवों की सभा में उपहास कराने वाले इस प्रसाद को धारण करें, हम इस प्रसाद को नहीं चाहतीं। तुम्हारी और कृष्ण की बन्धुता ठीक ही है। क्योंकि जैसे तुम सुमनों (फूलों) को रस लेकर छोड़ जाते हो वैसे ही एक बार मोहिनीमय अधरसुधा पिलाकर वह भी चटपट हमको छोड़ चले गये।[1] श्रीमद्भागवत् (दशमस्कंध-पूर्वार्द्ध ४७।१२, १३)। यही शायद सूरदास, नन्ददास एवं रत्नाकर के भ्रमर गीतों में कुब्जा के प्रति उपालम्भों का आधार है किंतु इन उपालम्भों में कल्पना अधिक है। श्रीमद्भागवत के अनुसार कृष्ण कुब्जा के घर उद्धव के लौट आने पर गये हैं। भागवत्कार के अनुसार उसका कूबड़ भी सीधा हो चुका था फिर भी ये उपालम्भ काव्य की दृष्टि से बड़े सुन्दर हैं। गोपियों ने कृष्ण के पूर्व अवतारों की भी बुराई की है (इस सामग्री का नन्ददासजी ने अच्छा उपयोग किया है। सूर ने इसका स्पर्श मात्र किया है—**'पय प्यावत पूतना हनी, छपि बालि हन्यो बलि दानि। सूपनखाँ ताड़का निपाती सूर स्याम यह बानि'**) इसके पश्चात् उद्धव जी ने

१. पं० रूपनारायण-कृत अनुवाद से।

गोपियों के प्रेम की प्रशंसा कर उनको कृष्ण का सन्देश सुनाया, वह इस प्रकार है—

'प्रियागण ! मेरा वियोग तुमको कभी नहीं हो सकता, मैं देहधारियों की आत्मा होने के कारण सदा तुम्हारे पास हूँ।'—(३१)। "जैसे सोकर उठा हुआ व्यक्ति—देखे हुए मिथ्या स्वप्न का चिन्तन करता है वैसे ही जिसके द्वारा इन्द्रियों के विषयों का चिंतवन किया जाता है एवं जिसके द्वारा इन्द्रियों की उपलब्धि होती है, आलस्य छोड़कर, उस मन का दमन करना ही कर्तव्य है।"—३२ (इसी आधार पर सूर ने योग की चर्चा चलाई है)।

श्रीमद्भागवत की गोपियाँ इस संदेश से सन्तुष्ट हो जाती हैं—"व्रज-बालाएँ इस प्रकार उद्धव के मुख से प्रियतम की आज्ञा सुनकर परम प्रसन्न हुईं और उनको भगवान का उपदेश सुनने से शुद्ध ज्ञान प्राप्त हुआ।"—३८। यह भागवत्कार का कथन है। भागवत की गोपियाँ ज्ञान का विरोध नहीं करतीं किंतु वे कृष्ण के साथ किये हुए विहार और वैयक्तिक सम्बन्ध को भुला नहीं सकतीं। उनमें केवल नारी-भावना है। श्रीमद्भागवत के अनुसार उद्धव व्रज में कई महीने रहे (सूर ने छः महीने बताये हैं, '**बूझि हम षट मास देख्यौ गोपिकन को प्रेम**'—भ्रमरगीतसार; पद ३८३) और नन्दजी के यहाँ से कृष्ण के लिए उपहार लेकर विदा हुए। इस विदा के दृश्य को कविवर रत्नाकरजी ने बड़े सुन्दर ढंग से निभाया है।

> **"भाव-भरी कोऊ लिए रुचिरे सजाव दही,**
> **कोऊ मही मंजु दाबि दलकत पाँसुरी।**
> **पीत पट नंद जसुमति नवनीत नयौ,**
> **कीरति-कुमारी सुरवारी दई बाँसुरी॥"**

भागवत् की गोपियाँ नन्ददास की गोपियों की भाँति न तो उद्धव से तर्क करती हैं और न सूर की गोपियों की भाँति उद्धव का मजाक उड़ाती हैं।

जहाँ एक ही प्रसंग को भिन्न-भिन्न कवि वर्णन करते हैं वहाँ हमको कल्पना के अध्ययन का अच्छा अवसर मिलता है। इस दृष्टि से भी भ्रमर-गीत का विशेष महत्त्व है।

प्राचीन काल में लिखे हुए भ्रमर-गीतों में सूर और नन्ददास के भ्रमर-गीत प्रमुख हैं। इस लेख में सूर के ही भ्रमर-गीत पर विशेषरूप से विचार किया जायगा।

सूर और तुलसी दोनों ही सगुण के उपासक थे। दोनों के समय में एक-से प्रभाव थे और उनके मन में प्रायः एक-सी प्रतिक्रियाएँ हुईं। यद्यपि

गोरख और कबीर की प्रतिक्रिया

श्रीमद्भागवत में न ज्ञान का विरोध है, न जोग की हँसी और न निर्गुन-सगुण का निपटारा (इसका कारण यह है कि व्यासजी खुद ज्ञानी थे) फिर भी सूरदासजी ने इन सब बातों को विरह-निवेदन के साथ अपनाया, इसका यही कारण है कि उनके पहले सन्तकाव्य ने ज्ञान-पन्थ को महत्ता दे हृदय-पक्ष की अवहेलना भी की थी। कबीर ने जो शृङ्गारिक भाषा का प्रयोग किया था वह उनकी '**झीनी-बीनी चदरिया**' की भाँति ही एक झीना आवरण था। तुलसीदासजी ने तो मर्यादावादियों-की-सी फक्कड़ता दिखाई है। मर्यादावादी लोग बात को घुमा-फिरा कर कम कहते हैं। उनके व्यवहार और वार्तालाप में अक्खड़पन अधिक होता है '**अलखहि का लखहि रामराम जपु नीच**'। सूर ने भी खूब खरी-खोटी कहलाई किन्तु चपल सजीव गोपियों द्वारा, खुद जरा चुप रहे थे। उन्होंने अपने सिद्धान्तों को एक कथा के सहारे प्रचार कर काव्य में '**कान्ता सम्मिततयोपदेशयुजे**' अर्थात् पत्नी के प्रेम से भरे हुए उपदेश-की-सी बात सार्थक की। उद्धव के सन्देशे में स्पष्ट कबीर की छाप थी, देखिये—

"ताहि भजौ किन सबै सयानी ?
हृदय-कमल में जोति बिराजै।
अनहद नाद निरंतर बाजै।
इड़ा पिंगला सुखमन नारी,
सम्य सहज में बसैं मुरारी।"

(पद ७ सूर सागर)

गोपियों ने जो योग के विरोध में उत्तर दिये हैं उनसे भी यह प्रकट

होता है कि सूर के मन में गोरख-पन्थ और कबीर-पन्थ की प्रतिक्रिया हो रही थी। देखिये—

"दुसह बचन अलि यों लागत उर ज्यों जारे पर लौन।
सिंगी भस्म त्वचा मृग, मुद्रा, अरु अवरोधन पौन॥
यह मति तिन्हीं उपदेसौ, जिनहें आज सब सोहत।
सूर आज लौं सुनी न देखी पोत सूतरी पोहत॥"

योग-मार्ग की अरसिकता एवं असम्भवता एक दम व्यञ्जित हो जाती है।

यद्यपि सूर की गोपियाँ नन्ददास की गोपियों की भाँति दार्शनिक नहीं जो शुष्क तर्क के कठिन लोहास्त्रों द्वारा उद्धव से मुठभेड़ करें किन्तु उनमें निजी अनुभूति की दृढ़ता और प्रेम की अनन्यता है जो जोग की कठिनाई तर्क की छुरी से भी पैनी है। सूर ने इस विषय में काफी और भक्ति की लिखा है और जी खोलकर लिखा है। सूर की गोपियाँ सुगमता अष्टभुजी दुर्गा की भाँति अपने हाथ में अनेकों अस्त्र लिये है और उनके सतत प्रहार से उद्धव के अस्त्र-शास्त्र बेकाम हो जाते हैं। गोपियों की उक्तियों का सामूहिक प्रभाव (Cumulative effect) बड़ा प्रबल हो जाता है। गोपियों का सबसे पहला अस्त्र है योग-मार्ग की अनुपयुक्तता। 'अगम पन्थ परम कठिन गवन तहाँ नाहिं, सनकादिक भूल परे अबला कहुँ जाहिं।' परम मर्यादावादी गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी ऐसी उक्ति दी है—

"कहत कठिन समुझत कठिन, साधत कठिन विवेक।
होइ घुनाक्षर न्याय जों, पुनि प्रत्यूह अनेक॥"

(उत्तरकाण्ड २०३)

गोपियाँ भी अपनी सहज बुद्धि से कहती हैं—'ब्रह्मा पचि पचि मुए प्रान तजि, तउ न तेहि पहचान्यो। कहौ सु जोग कहा लै कीजै? निर्गुन परत न जान्यों।' निर्गुन के सम्बन्ध में तो वे तिरस्कारपूर्ण भाषा में पूछ बैठती हैं 'निगु बासी?' इस प्रश्न का ऊधो क्या उत्तर

देते, इसलिए, 'मौन ह्वै रह्यौ ठगो सो सूर सबै मत नासी' गोपियाँ अपने नारी-स्वभाव की सहज चपलता के कारण योग को बकरी के मुँह का कुम्हड़ा बताती हैं। 'राज पन्थ से टारि बतावत उरझ कुबोल कुपैंड़ो, सूरदास समाय कहाँ लौं अज के बदन कुम्हेंड़ो।'

ज्ञान के लिए पात्रता चाहिए। गोपियाँ अपने को उसका अधिकारी नहीं समझतीं। ज्ञान अधिकारी भेद से ही दिया जाता है। सच्चा गुरु अधिकारी को ही उपदेश देता है इसीलिए वे कहती हैं—

पात्रता और अनन्यता

'यह तो वेद उपनिषद मत है महापुरुष व्रतधारी, हम अहीर अबला ब्रजबासिन नाहिन परत संभारी' वे अनन्यता की दृढ़ भूमि पर खड़ी हुई पूछती हैं, किससे कहते हो? यहाँ सुनने वाला मन ही नहीं तो सुनेगा कौन—'ऊधो मन नाहीं दस बीस। एक हुतो सो गयो हरि के सँग को आराधै तुव ईस?' वे अपनी अनन्यता प्रकट करती हुई कहती हैं 'जिनको ध्यान धरे उर अन्तर आनहि नए न उन बिन सीस। जोगिन जाय जोग उपदेसौ जिनके मन दस-बीस। एकै मन एकै वह मूरति, नितचित दिन तीस' उनका मन अगर था भी तो वह काली कामर की भाँति था जिस पर दूसरा रंग ही न चढ़ सके 'जे पहले रँगी श्याम रँग तिन्हें न चढ़े रँग आन'।

कविवर रहीम ने ठीक ही कहा है—

"जिन नैननि प्रीतम बस्यौ, पर छबि कहाँ समाय।
भरी सराय 'रहीम' लखि, पथिक आप फिर जाय॥"

गोपियों की दशा को हम भारतेन्दु बाबू के शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं—

"रहै क्यो एक म्यान असि दोय।
जिन नैननि में हरि रस छायो, तहँ भावै किमि कोय॥"

सम्भव है एक म्यान में दो तलवार की उक्ति सूर से ही ली गई हो। देखिए—

"कहाँ मधुप कैसे समाएँगे एक म्यान दो खाँड़े?"

गोपियों की उक्ति का सार यह है—'नंदनंदन अछत कैसे आनिए उर और' ?(६५) पदों की संख्या भ्रमर गीत सार (सं २०१२) से दी गई है।

इस प्रकार गोपियों ने तो ऊधो की पतंग हत्थों से ही काटना चाही थी लेकिन ऊधो जब डटे ही रहे तब उन्होंने और उक्तियों से भी काम लिया। वे प्रत्यक्ष प्रमाण का आधार लेकर कहती हैं 'रेख न रूप बरन जाके नहिं, ताको हमें बतावत। अपनी कहौ दरस वैसे को तुम कबहूँ हौ पावत ?' (१३१ पद) व्यंजना यह है कि जब तुम ज्ञानी भी उसके दर्शन से वञ्चित रहते हो तो अबला साधनहीन गोपियों की क्या बात ? वे तो रूप की उपासक थीं 'अबला हरि रूप दिवानी।' जिसका दर्शन न हो सके, जिसके साथ हृदय का प्रतिस्पन्दन न हो उसमें रुचि किस प्रकार हो सकती है ? 'बिन देखे कैसे रुचि मानै।' सूर की गोपियाँ आँखों की गवाही से प्रमाणित होने वाले साकार की उपासक थीं। वे कबीर के बताए हुए 'मैं तो तेरे पास में' वाले निर्गुण से सन्तुष्ट नहीं हो सकती थीं 'उर से निकसि क्यों न करत सीतल जो पै कान्ह यहाँ है।' उनको विश्वास नहीं होता कि जो कृष्ण निर्गुण रूप से हृदय में व्याप्त होते तो उनकी इतनी वेदना न सहन करते 'जो पै ऊधौ ! हिरदय मांझ हरी। तो पै इती अवज्ञा उनपै कैसे सही परी'? (१७७) तुलसी ने भी ऐसी ही बात कही थी 'पाहन ते प्रगटे न हिए तें'।

निराकार और साकार

व्यक्ति के प्रेम का विषय व्यक्ति ही हो सकता है। जो रूप-रंग से हीन है, जिसका जीवन से सम्बन्ध नहीं है वह गोपियों के लिए क्या, किसी मनुष्य के लिए महत्त्व नहीं रखता, देखिए—'अतिहि अगाध अपार अगोचर मनसा तहाँ न जाई ॥ ... रूप न रेख, बदन, बपु जाके संग न सखा सहाई। ता निर्गुन से प्रीति निरन्तर क्यों निबहै, री माई ? (पद ४४) प्रेमी हृदय की अनुकूलता भक्ति के ही साथ हो सकती है। गोपियाँ अपने मन में संघर्ष नहीं चाहतीं। जिस मार्ग का उन्होंने अवलम्बन किया है उसी पर वे दृढ़ रहकर ऊधो से कहती हैं 'बार-बार ये बचन निवारो। भक्ति विरोधी

ज्ञान की अपेक्षा भक्ति की श्रेष्ठता

ज्ञान तुम्हारो ॥'.......नन्दनन्दन के देखे जीवै रुचि वह रूप, पवन नहिं पीवै' । (पद ४७६) जो मार्ग हृदय की तुष्टि न कर सके जिसमें अनेकों प्रत्यूह और बाधाएँ हों उसमे क्या लाभ ? इसीलिए वे निष्कर्ष रूप से कहती हैं 'काहे को रोकत मारग सूधो । सुनहु मधुप निर्गुन कंटक तें राज पंथ क्यों रूँधो ?' (६४ पद) । वे तो नगद की बात जानती हैं उधार के तेरह उन्हें अच्छे नहीं लगते । 'कंचन को मृग' कौन देख्यो कौन बाँध्यो डोरी ? (११६ पद) उनको अप्रत्यक्ष की बात नहीं चाहिए थी वे चाहती थीं 'निरखहिं सूर स्याम मुख चन्दहिं अँखियाँ लगनि चकोरी'—(११६ पद) । गोपियों ने योग के सम्बन्ध में 'गठरी', 'मोट', 'खेप' आदि शब्दों का व्यवहार कर उसकी असारता और निरर्थकता व्यंजित की है । सूर की गोपियाँ भक्ति के आगे मुक्ति भी नहीं चाहतीं । 'याहि लागि को मरै हमारे वृन्दावन पायन तर मेली' प्रेम की सरसता के आगे मुक्ति का आनन्द फीका पड़ जाता है 'जेहि उर बसत स्याम-घन सो क्यों परै मुक्ति के भेरनि ।' (२१२ पद) इसीलिए वे अपने प्रेम को योग या मुक्ति से नहीं बदलना चाहतीं—'मूरी के पातन के केना को मुक्ताहल दैहै ।' (२४ पद) ।

गोपियों की दृढ़तापूर्ण उक्तियों में शङ्कराचार्य के ब्रह्मवाद, कबीर के 'सून्य सहज' और गोरख के दृढ़ हठयोग की कठिन साधना के प्रति मानव-हृदय की प्रतिक्रिया काव्यमय रूप से प्रतिध्वनित हो रही है ।

सूर की गोपियाँ चाहे गवारिन हों वे व्यक्तित्व का महत्त्व जानती थीं । उनमें प्रेम की अनन्यता, निश्चय की दृढ़ता और भाव की तन्मयता थी ।

व्यक्तित्व का महत्त्व

भारतीय प्रेम-कथाओं में व्यक्ति का विशेष मान रहा है । दमयन्ती को वरने के लिए देवताओं ने नल का रूप धारण किया, स्वयं नल को ही उनकी सिफारिश करने का कठिन कर्त्तव्य सौंपा किन्तु अन्त में दमयन्ती ने नल को ही वरा था । व्यक्तित्व के महत्त्व के सम्बन्ध में गोपियों की एक सुन्दर उक्ति देखिये—'द्वै लोचन जो विरद किए स्त्रुति गावत एक समान । भेद कियो तिनहू में विधु प्रीतम रिपु भान' (११४) । इस व्यक्तित्व की महत्ता

वे मन पर आश्रित करती हैं—'ऊधो मन माने की बात।' गोपियाँ जानती हैं कि अनन्यता में दुख है किन्तु वे उसे छोड़ना नहीं चाहती हैं, वे कृष्ण के प्रति मधुर व्यंग्य करती हैं—'**बहुरैं सुरति लई नहिं जैसे भँवर लता त्यागत कुम्हलानी। बहुरंगी जँह जाय तहाँ सुख, एकरंग दुख देह दहानी**(१६६)—गोपियों को अपनी अनन्यता पर गर्व था। उन्होंने मीन को अनन्यता का प्रतीक माना है। वे योग को लक्ष्य कर कहती है, '**दादुर जल बिनु जियैं पवन भखि, मीन तजै हठि प्रान**' मेंढ़क हवा खाकर रह सकता है। योग और प्राणायाम का भी सम्बन्ध हवा से है और ऊधो भी कुछ मेंढ़क की सी टर-टर कर रहे थे। गोपियाँ तो प्रेम-रस-लीन थीं, उसके बिना उनके प्राण नहीं रह सकते थे, उन्होंने कृष्ण को पति माना था। वे दूसरे को सर नहीं झुका सकती थी। उनका प्रेम चन्द, चकोर और घन और चातक का-सा था '**नन्द नन्दन सो पतिव्रत बाँध्यो दरसत नाहिं बियो। इन्दु चकोर मेघ प्रति चातक जैसे धरम दियो।**' (१८५) यह अनन्यता चाहे लौकिक भी हो अत्यन्त सराहनीय है। तुलसी ने भी अपने राम के प्रति प्रेम में चातक को ही आदर्श माना है '**राम-नाम नव नेह-मेह को मन हठि होहि पपीहा**' (वि. पत्रिका ६५) यह अनन्यता भक्ति-पक्ष में भी घटित हो सकती है। कहना तो यह चाहिए कि सूर ने भक्ति-पक्ष को ही लक्ष्य कर इसका प्रतिपादन किया था, हम लोग चाहे इसे केवल नारी-हृदय की पुकार कहें '**जाकी रही भावना जैसी प्रभु मूरति देखी तिन तैसी।**'

योग को चित्त-वृत्तियों का निरोध कहा है '**योगश्चित्तवृत्ति निरोधः**'। गोपियों के चित्त की एकाग्रता योग की एकाग्रता से कम नहीं थी। उन्होंने वियोग में योग की पूरी साधना का दिग्दर्शन कराकर योग की निरर्थकता दिखा दी। जो चीज पहले ही से मौजूद हो उसे दूसरे से क्यों ली जाय? गोपियों के प्रेम योग तप में प्रेम की सभी साधना वर्तमान दिखाई गई है। '**भानऽपवाद पवन-अवरोधन हित-कम काम-निकंदन। गुरुजन-कानि अगिनि चहुँ-दिसि नभ-तरनि-ताप बिनु देखे। पिवत धूम-उपहास जहाँ तहँ, अपजस**

वियोग में योग

श्रवन-अलेखे। सहज समाधि बिसारि वपु करी, निरखि निमेख लागत। परम ज्योति प्रति अंग माधुरी धरन यहै निसि जागत।' (७८)

मथुरा में कृष्ण चाहे वासुदेव कुमार हों, चाहे देवकी-नन्दन और तत्कालीन राजनीति के सूत्रधार, ब्रज में तो वे नन्ददुलारे (वाजपेयी नहीं) ही थे। ब्रजनाथ, यदुनाथ थे तो एक ही व्यक्ति किन्तु उनके शील, गुण भिन्न थे। सूर ने कहीं-कहीं इन शब्दों को सार्थक रूप से प्रयुक्त किया है 'तुम को जिन गोकुलहि पठायो ते वसुदेव-कुमार। सूर श्याम मनमोहन बिहरत ब्रज में नंददुलार।' (१५८) गोपियों के प्रेम-लोक में तो गोप-कुमार कृष्ण का ही राज है। स्नेह-स्निग्ध जीवन की माधुरी के आगे 'अष्टमहासिद्ध दासी' गोपियों के लिए कृष्ण का वैभव कोई आकर्षक नहीं रखता, उनके लिए तो 'राजा नंद जसोदा रानी जलधि नदी जमुना सी। प्रान हमारे परम मनोहर कमल नयन सुखरासी' (२०) जीवन की महत्वाकांक्षाओं की चरम सीमा है। ऐश्वर्य और माधुर्य पक्षों की कैसी सुन्दर विरोधात्मक तुलना है देखिए 'उत बड़ ठौर नगर मथुरा, इत तरनि तनूजा कूलहु। उत महाराज चतुर्भुज सुमिरौ, इत किशोरनन्द दूलहु'। (२४७)। गोपियाँ तो मथुरा के ऐश्वर्य को तिरस्कार की दृष्टि से देखती हैं—'भुवन चतुर्दस की विभूति वह, नृप की जूठि पराई' और यह भी बतलाती हैं कि वृन्दावन के माधुर्य के आगे मथुरा का ऐश्वर्य फीका है। इस प्रकार की उक्तियों में स्वाभाविक एवं प्राकृतिक जीवन की पुकार है। गाँव और शहर की समस्या का काव्यमय उद्घाटन है, देखिए 'कहँ गोधन, कहँ गोपवृन्द सब कहँ गोरस को खैबो।' श्रीकृष्ण भी स्वयं उसे प्राकृतिक जीवन के मधुर आकर्षण को नहीं भूल सकते। 'ऊधो! मोहि ब्रज बिसरत नाही, हंस सुता की सुन्दर कगरी अरु कुंजन की छाहीं। वै सुरभी, वै बच्छ दोहनी, खरिक दुहावन जाहीं। ग्वाल बाल सब करत कुलाहल नाचत गहि गहि बाहीं। यह मथुरा कंचन की नगरी मनि मुक्ताहल जाहीं।' (४००)

ब्रज का माधुर्य और मथुरा का ऐश्वर्य

प्रेम में जो निजीपन रहता है वह और सम्बन्धों में नहीं। ऊधो कृष्ण के

सखा थे, फिर भी गोपियाँ कृष्ण को उनकी अपेक्षा अच्छी तरह जानती थीं। कहा कहत भाभी के आगे जानत नानी नानन' उन्होंने निजी सम्बन्ध की कृष्ण को बालकपन से देखा था। वे उनकी नस-नस जानती

दृढ़ता

थीं। उनके आगे कृष्ण के राजत्व की बात विडम्बना-सी थी 'वे दिन माधव भूल बिसर गये गोद खिलाए कनियाँ, गुहिगुहि देत नन्द जसोदातनक काँच के मनियाँ'(१५६)। गोपियाँ कृष्ण के राजा होने और शहरी आडम्बर पर व्यङ्ग्य करती हैं 'दिना चारि ते पहिरन सीखे पट पीताम्बर तनियाँ, सूरदास प्रभु तजी कामरी अब हरि भए चिकनियाँ।' (१५६ पद) इसको अति परिचय की अवज्ञा न समझिये। यह तो योग की प्रतिक्रिया है। कृष्ण के उस जीवन को देखते हुए जिसे वे जानती थीं, योग की बात असङ्गत-सी लगती थी, तभी तो उनको विश्वास नहीं होता कि वह सन्देश कृष्ण का भेजा हुआ है 'नहिं या युवित मृदुल श्री मुख की जे तुम उर में हूलहु(२४७)।''हूलहु' में योग के सन्देश के घातक परिणाम तथा निर्दयता की बड़ी मार्मिक व्यञ्जना है। गोपियों के इन शब्दों में चोट खाई हुई साँपिन की-सी क्रोध भरी फुँकार सुनाई पड़ती है। 'हूलहु' में निर्दयता, विश्वासघात, शक्ति, वेग आकस्मिक आघात गोपियों की निरीहता का चित्र-सा अङ्कित हो जाता है। जो कृष्ण उनके यहाँ छछिया भर छाछ पर नाच नाचे हों, जिन्होंने उनका घर-बार सुतपति हित और कुलकानि छुड़ाई हो, जो रास में अठखेलियाँ खेले हों वे ही उनको निर्गुणोपासना और योग का सन्देश भेजें और फिर एक दूसरी स्त्री पर आसक्त हों। अतः परं किं वैषम्यम्? 'तब कत मोहन रास खिलाई जो वै ज्ञान हुतोऊ' और वे इसी कारण ऊधो को भी फटकार देती हैं 'जब वृन्दावन रास रच्यौ तबहिं कहाँ तू देव' यदि कृष्ण ने मथुरा जाकर भस्म रमाली होती या गेरुआ वस्त्र धारण कर अलख जगाया होता तो शायद उनकी समझ में योग का सन्देशा आ जाता किन्तु जब 'जोग हम को भोग कुब्जहिं' तब तो उनको कहना ही पड़ता है कि 'जोग की गति सुनत मेरे अङ्ग आग बई।' कृष्ण पर उनको विश्वास है। वे ऊधो की गलती बताने के लिए कहती हैं

'ऊधो ! जाय बहुरि सुनि आवहु कहा कह्यौ है नंदकुमार। यह न होय उपदेश स्याम को कहत लगावन छार। निर्गुण ज्योति कहाँ उन पाई सिखवत बारम्बार।' (२१७)

हास्य-व्यङ्ग्य

साहित्याचार्यों ने हास्यरस को शृङ्गार का सहायक और पोषक माना है। संयोग में तो शृङ्गार और हास्य की मैत्री आवश्यक-सी हो जाती है। वह रति के लिए एक अनुकूल व्यापार उपस्थित कर उसमें ऊब नहीं उत्पन्न होने देता और उसके हर्ष सञ्चारी में भी सप्राणता उत्पन्न कर देता है। वियोग-शृङ्गार में करुणा के मेल के कारण वह कुछ दूर-दूर-सा रहता है किन्तु जहाँ पात्रों में सजीवता का आधिक्य होता है वहाँ वह अपने सखा को दुख में भी नहीं छोड़ता। हाँ, उसका रूप कुछ बदल जाता है जिससे कि वह वियोग की करुणा में बेसुरा नहीं लगता। व्यङ्ग्य और उपालम्भ में वेदना का भी एक भीतरी पुट होता है। आहत व्यक्ति की खीज व्यङ्ग्य में विकास का एक ऐसा द्वार पा लेती है जिसके कारण उसका दबाव तो हलका हो जाता है किन्तु उसमें कटुता और उग्रता नहीं आने पाती। व्यङ्ग्य भी कई प्रकार का होता है एक तो अपने से असम्बन्धित लोगों के प्रति और दूसरा अपने से सम्बन्धित लोगों के प्रति। दूसरे प्रकार के व्यङ्ग्य में एक विशेष निजीपन रहता है, उसमें प्रेम का अधिकार रहता है। जो प्यार करता है वही उस प्रेम के अनुकूल प्रतिदान न पाने पर अपने प्रेमी को ठीक मार्ग पर लाने के लिए दो-एक चुटकी भी ले सकता है। हास्य-व्यङ्ग्य में हीनता-भाव मिटाने के लिए थोड़ा आत्मभाव और श्रेष्ठता का भाव भी रहता है किन्तु वह घृणा की मात्रा तक नहीं पहुँचता। गोपियों के व्यङ्ग्य प्रायः दो प्रकार के हैं—एक तो कृष्ण और उद्धव के प्रति, दूसरे कृष्ण और कुब्जा के प्रति। पहले प्रकार के व्यंग्यों में विनोद कुछ अधिक है और उसके साथ अवमानन भी व्यञ्जित हैं। दूसरे प्रकार के व्यङ्ग्य में असूयाभाव से प्रेरित हो विनोद के साथ आत्मश्रेष्ठता ग्रन्थि (Superiority Complex) और मत्सर की भी भावना रहती है। कुब्जा ने गोपियों को

उनके प्राप्य सुख से वञ्चित कर दिया फिर उनके पास उस बेबसी में कुब्जा की कुरूपता पर व्यंग्य कसने के सिवाय और चारा ही क्या रह जाता है।

पहले प्रकार के व्यङ्गय कृष्ण के कालेपन के सम्बन्ध में किये गये हैं। उनके द्वारा आकृति को अन्तर का द्योतक मानकर उनके हृदय के कपट की ओर लक्ष्य किया गया है। कृष्ण तन से भी काले हैं और मन से भी। इसीलिए वे कहती हैं 'यह मथुरा काजर की कोठरि जे आवहिं ते कारे।' (३८) जमुना भी उनके ही सम्पर्क से काली है 'ता गुन श्याम भई कालिंदी सूर-श्याम गुन न्यारे।' (३८) इस वाक्य की अतिशयता ही इसकी कटुता को कम करके इसे विनोद का रूप प्रदान करती है। काजर की कोठरी के लाक्षणिक अर्थ के साथ अभिधार्थ को मिला देने से तथा प्रसिद्ध लोकोक्ति के प्रयोग के कारण चमत्कार द्विगुणित नहीं त्रिगुणित हो जाता है। वास्तविक कारण के स्थान में एक कल्पित कारण की विपरीतता शुद्ध हास्य का एक मनोरम उदाहरण उपस्थित कर देता है 'जौ पै भले होत कहुँ कारे तौ कत बदलि सुता लै जात' (४३) सूर की गोपियों के कोयल और काक की कवि-प्रसिद्धि का भी ऐसा सुन्दर प्रयोग किया है कि चारों खूँट फिट बैठ जाता है 'कोकिल कुटिल कपट बायस छलि फिरि नहिंवहि बन जाति।' (१५७) राम से तुलना करते हुए गोपियाँ कृष्ण के ज्ञानोपदेश के सम्बन्ध में एक गहरी चुटकी लेती हैं हरि सो भलो पति सीता को—दूत हाथ उन्हें लिख न पठायो निगम ज्ञान गीता को।' (८३ पद) कृष्ण के सखा ऊधो पर सैकड़ों घड़े पानी पड़ गया होगा।

कुब्जा के प्रति उपालम्भों में गोपियों का श्रेष्ठता-भाव कुछ स्पष्ट हो जाता है। 'अब वे कान्ह कूबरी राँचे बने एक ही ताक' १३६ इस सम्बन्ध में नन्ददास जी का व्यङ्गय बड़ा विदग्धतापूर्ण है "मदन त्रिभंगी आपु है करी त्रिभंगी नारि'। रत्नाकर जी इस मामले में और भी बढ़ जाते हैं, 'छाँटि देत कूबर कै आँट देत डाँट कोऊ काट देत खाट किधौं पाट देत माटी है।' सूर ने राम और कृष्ण का तादात्म्य करते हुए एक और करारा व्यङ्गय कसाया है 'राम जनम-तपसी जदुराई। तिहि फल बधू कूबरी पाई। सीता-विरह बहुत दुख पायो। अब कुबजा मिलि हियो सिरायो।' ४६९ कूबरी के कूबर और

योग की निरर्थकता को लक्ष्य कर एक ढेले में दो पक्षी मारने वाला एक और व्यङ्ग्य लीजिए 'मधुकर ! कान्ह कही नहिं होहीं—सँचि राखी कूबरी पीठि पै ये बातें चकचोही (२६० पद) ।' मानो योग की बातों ने ही रूप धारण कर लिया हो ।

सूर की गोपियों ने दुख में अपा सहज चापल्य नहीं छोड़ा था किन्तु इन चापल्य की लहरों के भीतर विरह का बड़वानल धधक रहा था । इस विरह ने ही उनके संयोग के गाम्भीर्य को आलोकित किया । गोपियों का हास-विलास केवल जवानी की उठती हुई तरङ्ग न थी जो सहज में विलीन हो जाती । विरह की अग्नि में वासना और ऐन्द्रिकता का कर्दम जल गया था और उनका प्रेम देदीप्यमान स्वर्ण हो निखर आया था । विरह द्वारा प्रेम के परिपुष्ट होने की बात को सूर ने इस प्रकार रूपकों द्वारा व्यक्त किया है, **'ऊधो विरहौ प्रेमु करै । ज्यों बिनु पुट पट गहै न रंगहिं, पुट गहे रसहि परै ।। जौ आँवौं घट दहत अनल तनु तौ पुनि अमिय भरै ।'** (१७५ पद)

विरह-वर्णन

आचार्य शुक्ल जी के शब्दों में हम कह सकते हैं कि गोपियों का प्रेम एक आकस्मिक घटना न थी वह सचमुच **'बिरवा'** के ही रूप में बढ़ा था । **"बारे ते बलबीर बढ़ाई पोसी प्याई पानी'** (१४० पद)बाल-लीला यौवन-लीला में परिणत हो जाती है **'लरिकाई को प्रेम कहौ अलि, कैसे करिके छूटत !'** (पद ३४) बात यह है कि बाल्य-काल के संस्कार बड़े पक्के होते हैं । इसी कारण सूर की गोपियों में विद्यापति की गोपियों की तरह केवल रूप-लिप्सा ही नहीं है वरन् सहचार (Fellowship) की भावना भी अधिक है । कृष्ण के साथ केलि-विहार के सम्बन्ध-तन्तु सारे ब्रज में व्याप्त हो जाते हैं । संयोग का सुख स्मृति रूप से विरह का उद्दीपन बन जाता है । उनको फूल भी शूल बन जाते हैं **'खटकति है वह सूर हियो मों माल दई जो फूलन की(१३६)।'** विरह-पूर्ण मानसिक दशा के कारण उनके लिए सारी सृष्टि वेदनामय रूप धारण कर लेती है **'हरि बिन फूल फार से लागत झरि झरि परत अँगार ।'** (३९८) मानसिक दशा हमारी अनुभूति किस प्रकार बदल

देती है इसका एक और उदाहरण लीजिए 'बनु गोपाल बैरिन भईं कुंजे। तब ये लता लगति अति सीतल, अब भईं विषम ज्वाल की पुंजें।' (८५ पद)

सूर ने विरह-वर्णन में व्यञ्जना-शक्ति का खूब प्रयोग किया है। गोपियाँ कृष्ण को ब्रज में न आने का सन्देशा भेजती हैं और इसके द्वारा अपनी विरह-दशा की व्यञ्जना कर देती हैं 'सब बल्लभी कहति हरि सों ये दिन मधुपुरी रहो। आज काल तुमहूँ देखत हौ तपति तरनि सम चंद। सिह वृकन सम गाय बच्छ ब्रज बीथिन बीथिन डोलत।' (१७६) इस संदेश द्वारा गोपियों ने अपनी मानसिक दशा का भी वर्णन कर दिया। विरही को जब साक्षात् दर्शन का सुख नहीं मिलता तब वह गुण-कथन, नाम-स्मरण लीलाओं के अनुकरण द्वारा एक प्रकार का मानसिक प्रत्यक्ष-सा कर लेता है। सूर ने कृष्ण की रूप-माधुरी के बड़े सुन्दर वर्णन कराये हैं। कृष्ण का रूप उनके वर्णन से बाहर है। रूप की अनन्तता ही तो उसे रमणीयता देती है और इसीलिए वह ब्रह्मानन्द-का-सा गूँगे के गुड़ सदृश वर्णनातीत रहता है। एक गोपी कहती है 'अलि हो! कैसे कहौं हरि के रूप-रसहि? मेरे तन में भेद बहुत विधि रसना न जानै नयन की दसहि। जिन देखे ते आहि बचन बिनु, जिन्हें बचन दरसन न तिसहि'। (५१ पद) गोस्वामीजी की प्रसिद्ध उक्ति 'गिरा अनयन नयन बिनु बानी' का इतना भाव-साम्य है कि कहा नहीं जा सकता कि किसने किससे यह उक्ति ली है या दोनों ने ही किसी तीसरे से ली है।

गोपियों की विरह-दशा का हाल कुछ तो उनके ही आत्म-निवेदन से ही ज्ञात होता है और कुछ मथुरा लौटे हुए उद्धव की जबानी। कृष्ण-लीलाओं के अनुकरण के सम्बन्ध में गोपियों की दशा का वर्णन देखिए—'एक ग्वारि गोधन लै रेंगति, एक लकुट कर लेति। एक ग्वारि नटवर बहु लीला एक कर्म-गुन गावति' (३८७) नन्ददास जी ने तो गोपियों की तन्मयता को इतना बढ़ा दिया है कि उनकी कल्पना का बाह्य प्रेक्षण (Projection) हो गया है और वे कृष्ण को सामने देखने लगती हैं। ऐसे में 'नन्दलाल रूप नैनन के आगे, आप गये छवि छाय बने पियरे उर बागे'।

वे प्रार्थना करने लगीं 'दुख जलनिधि हम बूड़ही कर अवलंबन देहु।'

सूर ने अपनी अलङ्कार-योजना में कृष्ण के अङ्गों के उपमानों की विवेचना करते हुए उनकी निष्ठुरता की बड़ी मार्मिक अभिव्यक्ति की है। उपमानों में सूर ने सादृश्य के साथ पूरा साधर्म्य दिखलाकर तथा उस उक्ति में तीव्र वेदना का रङ्ग भरकर कला, भाव और कल्पना का बड़ा सुन्दर समन्वय किया है—'नंदनंदन के अंग अंग प्रति उपमा न्याय दई। कुंतल, कुटिल भँवर, भरि भाँवरि मालति भुर लई। तजत न गहरु कियो कपटी जब जानी निरस गई।' (१०७ पद) सूरदास जी नेत्र-सम्बन्धी उपमानों को लेकर प्रत्येक की निरर्थकता सिद्ध करते हुए केवल मीन की उपमा को सार्थक कहा है—'सूरदास मीनता कुछ इक जल भरि संग न छाँड़त, (६७ पद) इसके द्वारा यह व्यञ्जित किया है कि उनके नेत्र जल में डूबे रहते हैं।

अलङ्कारों से विरह-व्यञ्जना

सूर ने कहीं-कहीं केशव की भाँति केवल शब्द-साम्य से भी काम लिया है। देखिए—ऊरध स्वाँस समीर तरंन तेज तिलक-तरु तोरति।' २७८ पृ. ११?

सूर ने विरह-वर्णन की परम्परा के अनुकूल ऋतुओं का उद्दीपन रूप से वर्णन किया है किन्तु कहीं-कहीं उन्होंने उसमें बड़ी नवीनता उत्पन्न कर दी है। वर्षा को वे विरहिणी के शरीर में दिखलाते हैं 'देखौ माई! नयनन्ह सों धन हारे। बिन ही ऋतु बरसत निसि बासर सदा सजल दोउ तारे।' (२६६) वर्षा जब शरीर में ही हो तब वे उससे पीछा छुड़ाकर कहाँ जायँ इसमें यह भी व्यञ्जना है कि कृष्ण ने ब्रज को वर्षा के कोप से बचाया था 'बूड़त ब्रज हिसर को राखै, बिनु गिरवरधर प्यारे' २६६ कभी वे बादलों में अपने प्रियतम की अनुहारि देखकर अपनी स्मृति को और भी सजीव और शायद सजल बना लेती हैं 'आज घनश्याम की अनुहारि। उनै आये साँवरे ते सजनी! देखि रूप की आरी' (१२६) ऐसे वर्णनों में कृष्ण के घनश्याम नाम की सार्थकता हो जाती है।

विरह के उद्दीपन

सूर ने चन्द्र आदि उद्दीपनों को खूब कुसवाया है और गोपियों द्वारा इस बात पर भी खीज प्रकट की है कि वे उद्दीपन मथुरा पहुँचकर कृष्ण

को क्यों नहीं सताते, 'किधौं घन गरजत नहिं उन देसनि ? किधौं वहि इन्द्र हठिहि हरि बरज्यौ, दादुर खाए शेषनि' (२८० पद)

सूर ने भी प्राकृतिक वस्तुओं को विरह से व्याप्त दिखाया है किन्तु जायसी की भाँति प्रत्येक वस्तु में विरह की झलक नहीं देखी है—गेहूँ का हृदय विरह से फटा हुआ नहीं दिखलाया वरन् उन्हीं चीजों को लिया है जिनका कृष्ण से सम्बन्ध था 'देखियत कालिंदी अति कारी। कहियो, पथिक ! जाय हरि सों ज्यों भई विरह जुर-जारी।' (२७८ पद) इसमें 'ज्यों' द्वारा की हुई हेतूत्प्रेक्षा इसकी अस्वाभाविकता को बचा लेती है।

विरह की तुलना

इसीलिए सूर ने मधुवन से प्रश्न पूछा है कि 'तुम कत रहत हरे'। तुलसी और सूर में यशोदा और कौशल्या वात्सल्य-सम्बन्धी विरह-वर्णन बहुत अंशों में एक सा है किन्तु 'सँदेसो देवकी सों कहियो। हौं तो धाय तिहारे सुत की,' 'ब्रज ली जो ठोक-बजाय' (३७५) की तो मार्मिक वेदना तुलसी में खोजने पर भी न मिलेगी। कौशल्या का कैकेयी के प्रति कुछ कहने के लिए उनका मुँह बन्द किये हुए था। दशरथ तो थे नहीं वे कहती किससे? कहीं-कहीं कौशल्या का दैन्य कुछ बढ़ गया है। रामचन्द्र का धनुष, उनके घोड़े कौशल्या के विरह को उद्दीप्त कर सकते थे किन्तु उनकी पन्हैयों के उल्लेख में तुलसी का दास्य-भाव भीतर से झाँकता हुआ दिखाई पड़ता है। सीता जी के विरह में राम के एकपत्नीव्रत के कारण उपालम्भ और असूया का अभाव है। उसमें दैन्य और परिस्थिति की बेबशी है। कबीर का विरह केवल आलङ्कारिक है। यद्यपि सूर के भी पद मुक्तक की कोटि में आते हैं तथापि वे प्रसङ्ग-प्रेरित हैं।

विरह की वास्तविकता

अब यह प्रश्न होता है कि जब गोपियाँ इतनी निकट थीं तब चली क्यों न गई। इसी कारण सीता और राम के विरह की अपेक्षा गोपियों के विरह को आचार्य शुक्ल ने खिलवाड़ कहा है। प्रश्न स्थान की दूरी का नहीं था। दूर रहते हुए भी निकट हो सकते हैं और निकट होते हुए भी दूर हो सकते हैं।

दादुर कमल के पास होते हुए भी उसका रस नहीं लेता। गोपियों को दुख इस बात का नहीं था कि कृष्ण किसी दूर देश में हैं वरन् इस बात का था कि अब उनके प्रति उनका भाव बदल गया था। भाव बदल जाने पर एक छत के नीचे बैठे हुए भी दूर हो जाते हैं। **'मधुवन बसत बदलि से गे वे, माधव मधुप तिहारे। इतनिहि दूर भये'** कुछ और **'जोय जोय मगु हारे।'** (२३१) कृष्ण के राजा होने पर गोपियों ने बड़े ही मधुर व्यंग्य कसे हैं **'हरि है राजनीति पढ़ि आये—राजधर्म सब भये सूर जहँ प्रजा न जायँ सताए** (६२) इसकी तुलना गीतावली में सीता जी के लक्ष्मण द्वारा भेजे हुए सन्देश से ही कर सकते हैं **'पालिबी सब तापसिन ज्यों-राजधरम विचारि'** (३२६)।

गोपियों का हृदय उपालम्भ देने में कहीं कहीं कठोरता की हद तक पहुँच गया हो किन्तु उसमें नारी सुलभ कोमलता थी। उसके लिए भी कहा जा सकता है **'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसमादपि'**

आत्म-निवेदन कृष्ण को बुलाने के लिए उन्होंने सभी तरह की उक्तियाँ सोचीं। ब्रज में अघासुर, बकासुर आदि की कल्पना कर उनकी कर्त्तव्य-बुद्धि को जाग्रत किया। **'ऊधो ब्रजरिपु बहुरि जिये।'''केसी सकल कर्म केसव बिन, सूर सरन काकी तकिए,** (१६८) उनकी प्रिय गौओं की भी दशा कहला भेजी **'ऊधो इतनी कहियो जाय। अति कृशगात भई हैं तुम बिन बहुत दुखारी गाय'** (१७१) गीतावली में इस प्रकार कौशल्या द्वारा राम के घोड़ों का वर्णन कराया है। गोपियाँ अपनी चूक भी स्वीकार करती हैं। उनका वे आना भर चाहती हैं। विरह की पराकाष्ठा में उनकी ऐन्द्रिकता जाती रहती है यहाँ तक कि वे मुरली की तान सुनने का भी मोह छोड़ने को तैयार हो जाती हैं। **'कहि हौं न मृदु मुरली बजान, करन तुमसौ गान'**—गोपियाँ उनकी मंगल-कामना ही करती हैं **'न्हात खसै जनि बार'** यही सच्चा प्रेम है। विरक्त होती हुई भी कृष्ण पर अपना अधिकार समझती हैं। **'ब्याहौ लाख धरौ दस कुबरी, अन्तहि कान्ह हमारो।'** यह है सूर की भारतीय नारी-हृदय की परख।

१६

रामचन्द्रिका का प्रबन्ध-निर्वाह

हिन्दी साहित्य-क्षेत्र में केशव की कीर्तिपताका रामचन्द्रिका के आधार-स्तम्भ पर अवस्थित है। 'डितों को उसके पांडित्य पर गर्व है। उसमें छन्दों और अलङ्कारों का बाहुल्य है, इसकी भी कमी नहीं है किन्तु पांडित्य-प्रदर्शन ने कहीं-कहीं उनके औचित्य-ज्ञान को दबा लिया है। रामचन्द्रिका का प्रबन्ध-प्रवाह भी इसी कारण कुंटित हो गया है। इस लेख में इसी बात पर विचार किया जायगा किन्तु इसके विवेचन के पूर्व उसके कथानक के आधार और उसकी नवीनताओं पर भी प्रकाश डाल देना आवश्यक है।

कथानक

रामचन्द्रिका का कथानक प्रधानतया वाल्मीकीय रामायण पर आश्रित है। उनको रामचन्द्रिका लिखने की प्रेरणा स्वप्न में ऋषि वाल्मीकि से ही मिली थी। इसलिए उनका अनुकरण स्वाभाविक ही था। वाल्मीकीय रामायण की भाँति ही परशुरामजी बरात से लौटते समय रामचन्द्रजी से मिले थे और उसी के अनुसार लक्ष्मणजी के शक्ति रावण द्वारा लगी है, तुलसी कृत की भाँति मेघनाथ द्वारा नहीं। इस कथानक में और भी कई नवीनताएँ हैं किन्तु वे प्रायः या तो प्रसन्न राघव या हनुमन्नाटक नाटक के आधार पर हैं। उसे धनुष-यज्ञ के समय सुमति-विमति का प्रसङ्ग प्रसन्न राघव से लिया गया है अन्तर केवल इतना ही है कि संस्कृत नाटक के नूपुरक तथा मञ्जीरक रामचन्द्रिका में सुमति-विमति बन गये हैं। रामचन्द्रिका की कई नवीनताओं ने कथा के उत्कर्ष को बढ़ाया है। ताड़का-वध के समय केशव ने जो वार्तालाप रामचन्द्रजी और विश्वामित्र के बीच कराया है वह रामचन्द्रजी को बहुत अंश में स्त्री-वध के अपराध से मुक्त कर देता है। जब श्रीरामचन्द्रजी से

यह सुन लिया कि—'द्विज-दोषी न विचारि से कहा पुरुष कह नारि। राम विलम्ब न कीजिये बाम ताड़का तारि' तभी वे उसके ऊपर शर चलाते हैं। केशव ने शक्ति लगने पर सुषेण वैद्य को नहीं बुलवाया है। विभीषण से ही औषधि की बात कहलवायी है।

केशव की भक्ति-भावना सत्य बात कहने में बाधक नहीं हुई है। उन्होंने राम-पक्ष के दोषों का किसी-न-किसी रूप में अपने पात्रों द्वारा उद्घाटन करा ही दिया है। राम के पास दूत भेजने में चाहे रावण की राजनीतिक चाल ही क्यों न हो किन्तु उसके द्वारा राम के दोष की ओर संकेत करा दिया है। देखिए—

"सूपनखा जु विरूप करी तुम,
तातें कियो हमहू दुख भारो।
बारिध बंधन कीन्हों हुतो,
तुम मो सुत बधंन कीन्हों तिहारो ॥" रा. च. १६।१७

इसी प्रकार लव के मुँह से विभीषण 'रण-दूषण' और व्यङ्ग्य में 'कुलभूषण' कहलाया है। अंगद चाहे रावण की बातों में नहीं आया था किन्तु केशवदासजी उसका असन्तोष प्रकट कराये बिना नहीं रहे। उसने श्री रामचन्द्र जी द्वारा अर्पित कोई उपहार स्वीकार नहीं किया। इस प्रकार केशव ने अपने काव्य में अपनी स्वतन्त्र प्रकृति का परिचय दिया है और कुछ नवीन उद्भावनाएँ भी की हैं जो चाहे उधार ली हुई क्यों न हों काव्य की रोचकता एवं उपादेयता बढ़ाती हैं।

प्रबन्ध-निर्वाह

यद्यपि रामचन्द्रिका प्रबन्ध काव्य के रूप में लिखी गई है तथापि उसमें मुक्तक के गुण अधिक हैं। उसमें कथा के तारतम्य की अपेक्षा अलंकरण एवं पाण्डित्य-प्रदर्शन की ओर रुचि अधिक है इसका साज-शृंगार मुक्तक-का-सा है। यदि प्रबन्ध-निर्वाह शिथिल न होता तो यह बात केशव के लिए विशेष महत्त्व की होती कि वे प्रबन्ध में भी मुक्तक-का-सा चमत्कार उत्पन्न कर सकें। रामचन्द्रिका में विशेष-विशेष स्थलों का वर्णन बड़ा विशद और

चमत्कारपूर्ण है किन्तु उनको जोड़ने वाली कड़ियाँ बड़ी शिथिल हैं। कहीं-कहीं तो रामचन्द्रजी के वनवास देने से महत्त्वपूर्ण प्रसंग भी एक ही छन्द में चलते कर दिये गये हैं, देखिए—

"यह बात भरत्थ की मातु सुनी।
पठऊँ बन रामहिं बुद्धि गुनी॥
तेहि मंदिर यो नृप सों विनयो।
बर देहु हुतो हम को जु दयो॥
नृप बात कहीं हंसि हेरि हियो।
बर माँगि सुलोचनि मैं जु दियो॥"

कैकेयी—"नृपता सु विसेस भरत्थ लहैं।
बरषै बन चौदह राम रहैं॥" त. च. ९।३, ४

इसमें कैकेयी का चरित्र एकदम गिर जाता है, राम-वनवास का सारा भार उसके सर पड़ता है। दशरथ के राज-महल का गौरव और पारस्परिक प्रेम-भाव नष्ट होकर उसकी स्थिति एक कलहपूर्ण साधारण परिवार-की सी हो जाती है। मंथरा का नाम भी नहीं आता किन्तु रामचन्द्रजी के अयोध्या लौटने पर उनकी इस बात की प्र ंसा की जाती है कि उन्होंने मंथरा से कोई बुराई नहीं मानी, देखिए—

"मंथरा सों मोव मानत विपिन पठ्यो पेलि" २७।१३

'पठ्यो पेलि' बड़े जोरदार शब्द हैं। यहाँ पर सारा भार कैकेयी के सर के ऊपर आ जाता है। अपने उचित स्थान पर मंथरा का कोई उल्लेख नहीं होता। जिन पाठकों ने रामचरित का अध्ययन केवल रामचन्द्रिका से किया हो उनके लिये मंथरा का नाम किसी बाहरी अन्तर्कथा के रूप में आता है। मूल पुस्तक से उसका कोई सूत्र नहीं मिलता।

रामचन्द्रजी बन को जाते हैं। उनके साथ उनकी अनुरक्त प्रजा पीछे जाती है। इस सम्बन्ध में केशवदासजी ने बड़ी सुन्दर उत्प्रेक्षा दी है।

"मनोभगीरथ पथ चल्यो भगीरथी प्रवाह" ९।२०

रामचन्द्रजी भगीरथ के वंश के थे, उनकी महाभाग भगीरथ से तुलना

करना उपयुक्त ही था किन्तु इसके बाद उस प्रवाह का पता नहीं चलता कि वह अयोध्या लौट गया अथवा उसका कोई जन्हु ऋषि आचमन कर गये और वह फिर उनके शरीर से बाहर नहीं निकला।

राम के साथ कोई सुमन्त नहीं भेजे जाते। ऐसा मालूम होता है कि राजा की ओर से भी उनकी नितान्त उपेक्षा थी किन्तु ऐसी बात न थी। उनके वन-गमन की बात सुनते ही दशरथ जी की मृत्यु हो जाती है। केशव ने दशरथ के स्नेह की अभिव्यक्ति चरम घटना से ही कराई है। उन्होंने तुलसी की भाँति धर्म और स्नेह के अन्तर्द्वन्द्व वर्णन करने की चिन्ता नहीं की। इसमें विशेष हानि न थी, दशरथजी ऐसी स्थिति में बहुत कुछ कह भी नहीं सकते थे किन्तु यह घटना इतनी शीघ्र घटती है कि यह प्रश्न होने लगता है कि रामचन्द्रजी तुरन्त ही लौटा क्यों न लिये गये। बनवास हो गया था तो क्या? ज्येष्ठ पुत्र थे ही।

"रामचन्द्र धाम ते चले सुने जबै नृपाल।
बात को कहै सुनै सु ह्वै गये महा विहाल॥
ब्रह्म रंध्र फोरि जीव यों मिल्यो जु लोक जाय।
गेह तूरि ज्यों चकोर चन्द्र में मिलै उड़ाय॥" ६।३१

बिना किसी शोक-प्रदर्शन के वे नहीं पड़े रहते हैं। कथा-प्रवाह दूसरी ओर बहने लगता है। (तुलसीदासजी ने दशरथजी को सुमन्त के लौटने तक जिन्दा रक्खा है) वन जाते हुए सीता राम के सौन्दर्य की प्रशंसा होने लगती है। नगर की नारियाँ सीताजी की शोभा का वर्णन पंडितों को लज्जित करने वाली श्लेषप्रधान भाषा में करने लग जाती हैं। उनके मुख से केशव-दासजी स्वयं बोलते सुनाई पड़ते हैं।

"वासों मृग अंक कहै तो सो मृगनैनी सब,
वह सुधाधर तु हूँ सुधाधर मानिये।
वह द्विजराज तेरे द्विजराजि राजै,
वह कलानिधि तुहू कलाकलित बखानिये॥" ६।४०

ऐसा प्रतीत होता है मानों इस अलंकार-प्रधान वर्णन के लिए ही

कथा जल्दी चलाई गई हो।

भरत जी के बुलाने के प्रबन्ध की बात पाठकों की कल्पना पर छोड़ दी जाती है। वे स्वयं आ जाते हैं। केशव को पाठकों की सर्वज्ञता पर अधिक विश्वास है। रामचन्द्रजी के साथ गुह के जाने की कोई बात नहीं आती किन्तु भरत के साथ उसका पूर्व परिचित-का-सा उल्लेख होता है—'तरि गंग गये गुह संग लिये'।

केशवदासजी का मन भरतजी के हाथियों के **'मनि घूँघुर घंटन के रव'** से घोषित होने वाले राज-वैभव के वर्णन में अधिक रमा है और युद्ध या बरात के पयान की भाँति ही भरत का आगमन दिखाया गया है—**'युद्ध को आज भरत्थ चढ़े धुनि दुंदभि की दसहुँ दिस धाई।'** लक्ष्मणजी को उत्तेजित करने के लिये दूर से दिखाई देने वाली धूल ही काफी थी, उस समय दुन्दभी की चर्चा बेवक्त की शहनाई की बात चरितार्थ करती थी।

धनुष-यज्ञ और विवाह तक प्रबन्ध-निर्वाह अच्छा हुआ है, इसके बाद शिथिलता आ गई है। पंचवटी से राम-रावण-युद्ध तक प्रवाह यथावत् रीति से चला है। अयोध्या लौटने पर तो केशवदासजी कवि-प्रिया की कवि-शिक्षा के बाग, तड़ाग, वसन्त, चन्द्रोदय आदि के वर्णनों की खानापूरी में पड़ गये हैं। वर्णनों के मोह में राम के मर्यादा-प्रधान लोक-पावन चरित का भी ध्यान नहीं रक्खा गया। दासियों के नख-शिख का वर्णन जी खोल-कर किया गया है और तारीफ यह कि रामजी उसे छिपे-छिपे सुनते रहे। रामचन्द्रजी स्त्रियों के साथ जल-क्रीड़ा भी करते हैं। रामचन्द्रिका में पीछे के कवियों के अष्टयाम का पूर्व रूप-सा दिखाई देने लगता है। रामचन्द्रजी का रनवास मुगल सम्राटों के अन्तःपुर का दृश्य धारण कर लेता है—बौने, अंधे, गूँगे नौकर भी मौजूद हो जाते हैं, मानों उनके महल में भी कुछ रहस्य-कथाएँ चल रही हों और केशव के विद्वान् टीकाकार लालाजी भी इस बात की दाद देते हैं कि वहाँ ऐसे ही नौकरों की आवश्यकता थी। रामचन्द्रिका में नृत्यों के भेदों का उल्लेख केशव की जानकारी पर प्रकाश डालने के अतिरिक्त कथा-प्रवाह में कुछ भी सहायक नहीं होता वरन् उसकी

गति के विराम को और भी लंबा कर देता है। जायसी में इस प्रकार के दोष बहुतायत से हैं। अश्वमेध-यज्ञ की कथा का प्रवाह फिर अच्छी गति से चला है। यद्यपि छन्दों का बदलना काव्य की एकतानता-सम्बन्धी ऊब को दूर करता है तथापि परिवर्तन-बाहुल्य पाठक को कुछ देर तक कथा के रस-प्रवाह में बहने में बाधक होता है। रामचन्द्रिका में छन्द-परिवर्तन दोष की हद तक पहुँच गया है। वह एक प्रकार से छन्दों और अलंकारों की प्रदर्शनी बन गई है। रामचन्द्रिका के छन्द बाहुल्य पर तो केशवदासजी ने सगर्व संकेत किया है—**'रामचन्द्र की चन्द्रिका वर्णत हौं बहु छन्द'**।

कवि-प्रिया और रामचन्द्रिका

यद्यपि कवि-प्रिया की निर्माण-तिथि रामचन्द्रिका से सात या आठ महीने पीछे है तथापि ऐसा मालूम पड़ता है कि दोनों का ढाँचा बहुत काल तक केशवदासजी के मन में एक साथ घूमता रहा। जो वर्ण्य-विषय कवि-प्रिया में है वही रामचन्द्रिका में है। उनमें से बहुत से छन्द दोनों में ज्यों के त्यों मिलते हैं।

छन्द	कवि-प्रिया	विषय	रामचन्द्रिका	प्रसंग
१—विलोकि सरोरुह सेत समेत	पंचम प्रभाव १३	जरा वर्णन	चौबीसवाँ प्रकाश १२	राम विरक्ति
२—को है दमयन्ती इन्दुमती रति राति दिन	छठा प्रभाव ४२	सरूप वर्णन	छठा प्रकाश ५६	सीताजी का रूप वर्णन
३—मूल पूरन पुराण अरु पुरुष पुराने परिपूरन बतावै	छठा प्रभाव ७२	राम को दान वर्णन	प्रथम प्रकाश ३	राम वन्दना
४—हाथी न साथी न घोरे न चेरे	छठा प्रभाव ५६	सत्य झूठ वर्णन	सोलहवाँ प्रकाश २६	अङ्गद-रावण संवाद
५—केशोदास मृगन बछेरू चूँषै बाघनीन	सातवाँ प्रभाव १३	आश्रम वर्णन	बीसवाँ प्रकाश ४०	भरद्वाज आश्रम की शान्ति
६—केशोदास है उदास, कमलाकर सो कर	सातवाँ प्रभाव २२	चन्द्रोदय वर्णन	तीसवाँ प्रकाश ४६	चन्द्र वर्णन
७—भूति विभूति पियूषहु को विष ईश शरीर	सातवाँ प्रभाव २६	सागर वर्णन	चौदहवाँ प्रकाश ४१	समुद्र वर्णन
८—भौंहैं सुर चाप चारु प्रमुदित पयोधर	सातवाँ प्रभाव ३२	वर्षा वर्णन	तेरहवाँ प्रकाश १९	सीता-विरह में वर्षा वर्णन

९—दानिन के शील, परदान के प्रहारी दिन	आठवाँ प्रभाव १०	राजकुमार वर्णन	पाँचवाँ प्रकाश ३१	सीता स्वयंवर
१०—राघव की चतुरंग चमू नादि पूरि, पूरि, पूरि	आठवाँ प्रभाव १७ और २३	पयान वर्णन	पैंतीसवाँ प्रकाश ८ और १०	अश्वमेध-यज्ञ
११—शोणित सलिल नर बानर सलिल चर	आठवाँ प्रभाव ३१	संग्राम वर्णन	उन्तालीसवाँ प्रकाश ६	लवकुश और भरत-युद्ध
१२—एक दमयन्ती ऐसी हरैं हँसि हंस वंस	आठवाँ प्रभाव ३७	जल-केलि वर्णन	बत्तीसवाँ प्रकाश ३७	रामजी की जल-क्रीड़ा
१३—बैरी गाय ब्राह्मण को काले सब काल जहाँ	ग्यारहवाँ प्रभाव ४३	नियम श्लेष	सत्ताईसवाँ प्रकाश ३	इन्द्रकृत राम-स्तुति
१४—राम की बाम जो आनी चोराय	ग्यारहवाँ प्रभाव ५८	भयानक रसवत अलङ्कार	पन्द्रहवाँ प्रकाश ६	मन्दोदरी-रावण संवाद
१५—बाल बाली न बाच्यो	ग्यारहवाँ प्रभाव ५९	भयानक रसवत अलङ्कार	पन्द्रहवाँ प्रकाश ७	मन्दोदरी रावण संवाद
१६—सिगरे नर नायक असुर विनायक	ग्यारहवाँ प्रभाव ६०	वीभत्स रसवत अलङ्कार	पाँचवाँ प्रकाश ३८	सीता स्वयंवर

इनके अतिरिक्त और भी कई उदाहरण हैं किन्तु ये इस बात के प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त हैं कि रामचन्द्रिका में कविप्रिया-उल्लिखित वर्ण्य-विषयों को लाकर कवि-कर्तव्य-पालन करना कवि का एकमात्र ध्येय तो नहीं किन्तु एक प्रमुख उद्देश्य अवश्य था जिसने रामचन्द्रिका की प्रबन्धात्मकता पर छाया डाल दी थी।

२०

केशव की अलंकार-योजना

केशवदास अलङ्कारवादी थे और उन्होंने कवि-प्रिया के आरम्भ में ही मुक्त-कण्ठ से कह दिया है कि—

"भूषण बिनु न बिराजई कविता बनिता मित्त"

इसलिए अलंकार उनका दृढ़ स्तम्भ है। उनके सौन्दर्य से उनके काव्य की सुन्दरता है और उनके दोष से उनका काव्य दूषित होता है। कवि के साथ न्याय करने के लिए यह आवश्यक है कि जिन बातों में वह महान समझा जाता है उनकी ही विशेष आलोचना की जाय।

अलंकार काव्य शरीर की शोभा के साधन अवश्य हैं किन्तु उनमें भी औचित्यानौचित्य का ध्यान रखना पड़ता है। औचित्य अलंकारों के ऊपर की चीज है। अलंकार चाहे जितना बहुमूल्य क्यों न हो यदि यथास्थान नहीं पहना जाता तो शोभा नहीं देता। पैर की पायजेब गरदन में गुलीबन्द के रूप में पहनना उसकी शोभा को घटायेगा ही बढ़ायेगी नहीं। यह दूसरी बात है कि विभ्रम हाव के रूप में कुछ मोहकता बढ़ा दे।

केशवदासजी अपने पाण्डित्य के कारण श्लेष का चमत्कार दिखाने में सिद्धहस्त थे किन्तु जब ये कवि द्वारा न प्रयुक्त होकर ऐसे पात्रों द्वारा प्रयुक्त होते हैं जो कि उनके सर्वथा अनधिकारी हों, हास्यास्पद बन जाते हैं। नगर स्त्रियों द्वारा सुधाधर और द्विजराज के आधार पर सीताजी को चन्द्रमा से समता कराना श्लेष का प्रदर्शन ठीक होता। जहाँ पर श्लेष केवल शब्द-साम्य को उपस्थित करता है और वर्ण्य वस्तु से अनुरूपता नहीं रखता वहाँ पर भी वह शब्दाडम्बर मात्र रह जाता है। धाय एक वृक्ष का नाम है और शिशु के पालन-पोषण करने वाली स्त्री को भी धाय कहते हैं।

केवल धाय नाम के वृक्ष की उपस्थिति के कारण पहाड़ (प्रवर्षण आदि) को शिशु बना देना अनुप्रास-ज्ञान की अवज्ञा है—'सिसु सो लसै संग धाय'। धाय हमेशा शिशु से बड़ी होती है लेकिन प्रवर्षण की धाय उस पर ही उगने वाला एक वृक्ष है जो उसी की जलवायु से पोषित होता है। एक साँस में उसे शिशु कहा और दूसरी ही साँस में उसे शेषनाग के समान बना दिया—

"अहिराज सो यहि काल बहु सीस सोभत भाल।"

इसी पर्वत को शब्दसाम्य के आधार पर शिव बनाया गया है। पर्वतों का प्रायः शिव से साम्य किया जाता है। इसमें कोई हानि नहीं किन्तु जहाँ रूपक की साङ्गता के लिए ऐसी वस्तु का सहारा लिया जाता है जो शिव-पार्वती के गौरव के विरुद्ध है, वहाँ पर रूपक की सफलता के लिये हम केशव को बधाई नहीं दे सकते।

"संग सिवा विराजै, गजमुख गाजै,
परभृत बोलै चित्त हरै।"

शिवा-पार्वती को कहते हैं और शृगाली को भी; कहाँ माता पार्वती और कहाँ शृगाली? यही है शब्द-साम्य की विडम्बना। शब्द-साम्य के चमत्कार का सबसे अच्छा रूप परिसंख्या अलङ्कार में दिखाई पड़ता है जहाँ कि चमत्कार किसी बुराई को नाम-मात्र में सीमित कर देने में रहता है। 'विधवा बनी न नारि' में विधवा का बनी के साथ आने में चमत्कार निखर आता है। बनी के क्रिया और संज्ञा के उभय रूप चमत्कार को द्विगुणित कर देते हैं—

"मूलन ही की जहाँ अधोगति केशव गाइय।
होम हुताशन धूम नगर एकै मलिनाइय॥
दुर्गति दुर्गन ही जु कुटिल गति सरितन ही में।
श्री फल को अभिलाष प्रगट कविकुल के जी में॥"

विरोधाभास में भी शाब्दिक चमत्कार लम्य हो जाता है क्योंकि उसका नाम ही विरोधाभास है। हाँ यह बात अवश्य है कि उसका श्लेष बहुत

दुरूह न हो जैसा कि 'विषमय यह गोदावरी अमृतन को फल देति' में हो गया है। बहुत ही कम लोग विष का अर्थ जल समझते हैं किन्तु दूसरी पंक्ति का श्लेष इतना दुरूह नहीं है और उसके द्वारा पर्याप्त चमत्कार उत्पन्न हो जाता है।

"केसव जीवनहार को दुख असेष हर लेति'

इसमें गोदावरी की उदारता की भी व्यञ्जना हो जाती है। अवधपुरी की पताकाओं के सम्बन्ध में एक विरोधाभास पूर्ण वर्णन देखिए—

"अति सुन्दर अति साधु। थिर न रहत पल आधु।
परम तपोमय मानि। दण्ड धारिणी जानि॥"

पताका साधु अर्थात् सीधी होती हुई भी चञ्चल है। उसमें चञ्चलता के अतिरिक्त यती का वाह्य रूप पूरा है। विरोधाभास में भी जहाँ औचित्य का उल्लंघन हो जाता है वहाँ उसका चमत्कार दब सा जाता है। देखिए श्री रामचन्द्रजी का परिचय देते हुए विश्वामित्रजी कहते हैं—'परदार प्रिय साधु मन बचन काय के।' विरोधाभास का चमत्कार तभी पूर्णरूप से विकसित होता है जब परदार का अर्थ पराई स्त्री भी लगाया जाय। बालक और शिष्य के लिए ऐसी बात, शब्द साम्य का चमत्कार दिखाने को, कहना औचित्य का उल्लंघन है और हास्य भी रसाभास बन जाता है।

केशव ने संदेह अलंकार में अपनी कल्पना की उर्वरता दिखाई है, किन्तु जहाँ पर सम्भावनाओं की लड़ी बाँधते हैं वहाँ कभी-कभी कुछ बहक भी जाते हैं। विश्वामित्र के साथ राम लक्ष्मण के जनकपुर में प्रवेश करने पर सूर्योदय होता है; इसको केशवदासजी ने बड़ा अच्छा शकुन माना है।

"काहू को न भयो कहूँ, ऐसो सगुन न होत।
पुर बैठत श्रीराम के, भयो मित्र उद्दोत॥"

यहाँ पर मित्र का श्लेष बहुत ही उपयुक्त है (मित्र सूर्य को भी कहते हैं)। यहाँ पर सूर्य का वर्णन मंगलमय ही होना चाहिए था किन्तु पहली ही पंक्ति में उसे चोर और चकोरों के लिए चिता बना दिया है। चिता से वर्ण-साम्य अवश्य है किन्तु यह शब्द मंगलसूचक नहीं है। इसी

प्रकार नीचे के छन्द में बड़े शुभ और मंगलमय वर्णनों के साथ 'काल कापालिक' का 'शोणित कलित कपाल' बना दिया है। यह उपमा भी बुरी नहीं है। सूर्य का सम्बन्ध काल से है क्योंकि सूर्योदय ही कालचक्र का मापदण्ड है और वह वर्णसाम्य के कारण काल की क्रूरता का प्रतीक और 'काल-कापालिक का 'शोणित कलित कपाल' हो सकता है किन्तु और उपमाओं के साथ यह मेल नहीं खाती विशेष कर ऐसे शुभ अवसर पर और जब कि शेष सब सम्भावनाएँ शुभ और मंगलमय हों। देखिए—

"अरुण गात अति प्रात पद्मिनीप्राणनाथ भय।
मानहु केशवदास कोकनद कोक प्रेम मय॥
परिपूरण सिंदूरपूर कैधौं मंगलघट।
किधौं शक्र को छत्र मढ़्यौ माणिकमयूखपट॥
"कै शोणित कलित कपाल यह,
किल कापालिक काल को।
यह ललित लाल कैधौं लसत,
दिग्भामिनि के भाल को॥"

सीता के अग्निप्रवेश के वर्णन में यद्यपि सीता के मानसिक पक्ष के उद्घाटन न होने का दोष कहा जा सकता है तथापि उस समय के सीता के गौरवमय बाह्य रूप का जो वर्णन है वह समय की गम्भीरता के अनुकूल है। प्रत्येक उपमा में पवित्रता और श्रेष्ठता का चित्र है। देखिए—

"कि सिंदूर शैलाग्र में सिद्ध कन्या।
किधौं पद्मिनी सूर संयुक्त धन्या॥
सरोजासना है मनो चारु बानी।
जपा पुष्प के बीच बैठी भवानी॥"

जपा पुष्प के बीच बैठी भवानी की उत्प्रेक्षा बड़ी सार्थक है। जपा पुष्प (गुड़हल का फूल) अग्नि-सदृश लाल होता है और काली की पूजा में उसका प्रयोग भी होता है।

इसमें प्रसंगानुकूल ओज भी है। केशव के मन पर इस दृश्य का गहरा

प्रभाव पड़ा था। रसिक-प्रिया में भी इसका कल्पना और भावुकता से पूर्ण सुन्दर चित्र है। देखिए—

"केशव एक समय हरि राधिका,
आसन एक लसे रंग भीने।
आनँद सों तिय आनन की,
द्युति देखत दर्पण में दृग दीने॥
भाल के लाल में बाल बिलोकत ही,
भरि लालन लोचन लीने।
शासन पाय सवासिन सीय,
हुलासन में जनु आसन कीने॥"

यद्यपि कहीं-कहीं उपमाओं—जैसे रामचन्द्रजी की उपमा उलूक से देने में—औचित्य का ध्यान भूल गए हैं, तथापि उनकी अधिकांश उपमाएँ और उत्प्रेक्षाएँ बड़ी उपयुक्त और मौलिक हैं। वे अर्थबोध और भाव-व्यञ्जना में भी सहायक होती है। रामचन्द्रजी शरद् ऋतु की वृद्धा दासी से उपमा देते हैं, रात्रि की भाँति वर्षा में भी कार्य-कलाप मन्द रहता है, शरदागम से ही उन दिनों कार्यारम्भ होता था। इस बात को ध्यान में रखते हुए केशव की उक्ति बड़ी ही सुन्दर है।

"लक्ष्मण दासी वृद्ध-सी, आई सरद सुजाति।
मनहुँ जगावन को हमहिं, बीते वर्षा राति॥"

हनुमानजी सीता की शोध को लंका जाते समय समुद्र को लाँघते हैं। तेज गति की उपमा लकीर से ही दी जाती है किन्तु स्वर्ण शैलाभदेह हनुमान की समुद्रोल्लंघन गति को सोने की लकीर कहना और भी उचित था। आकाश नीला होता है, इसलिए उसे सोने के कसने की कसौटी बनाया है, देखिए—

"लीक-सी लिखत नभ पाहन के अंक को।"

केशवदासजी श्री रामचन्द्रजी की ग्रीवा का वर्णन करते हुए गर्दन की तीन लकीरों को उत्प्रेक्षा द्वारा मन, कर्म, वचन की लकीरें बतलाते हैं।

रामचन्द्रजी का सौन्दर्य वर्णन उनके चरित्र के अनुरूप होता है।

"ग्रीवा श्री रघुनाथ की, लसति कम्बु वर वेष।
साधु मनो बच काय की, मानो लिखी त्रिरेख॥"

"तातें ऋषिराज सबै तुम छाँड़ौ,
भूदेव सनाढ्यन के पद माड़ौ।"

तब यह कथन साम्प्रदायिकता का रूप धारण कर दोष की हद तक पहुँच जाता है।

केशवदासजी कुछ तो अनुमान की झोंक में और कुछ कादम्बरी के अनुकरण में विश्वामित्र के आश्रम में वे वृक्ष ले आये जो वहाँ नहीं होते। वहाँ पर राज-हंसों का वर्णन अनौचित्य ही है। देखिए—

"तरु तालीस तमाल ताल हिंताल मनोहर।
मंजुल बंजुल लकुच बकुल केर नारियर॥
एला ललित लवंग संग पुंगीफल सोहें।
सारी शुक कुल कलित चित्त कोकिल अलि मोहैं॥
शुक राजहंस कलहंस कुल नाचत मत्त मयूरगन।
अति प्रफुलित फलित सदा रहै केशवदास विचित्र बन॥"

इससे बढ़कर बात यह है कि दण्डक वन में और लंका में केशवदासजी ने केशर की क्यारियाँ खड़ी कर दी हैं। यदि अयोध्या की वाटिका में चन्दन के वृक्ष की भाँति केशर की क्यारी होती तो कोई बात न थी। रामचन्द्रजी की विरहावस्था सीताजी को बताते हुए और सीताजी की अवस्था का रामचन्द्रजी के सामने वर्णन करते हुए हनुमानजी द्वारा केशर नहीं केशर के कानन का उल्लेख हुआ है क्योंकि केशरी से सिंह और केशर दोनों श्लेष सहज में बन जाता है। हनूमानजी रामचन्द्रजी के सम्बन्ध में सीताजी से कहते हैं—'केशरी को देख बन करी ज्यों कपत है' और सीताजी की विरह दशा का वर्णन उसी बात को दूसरे शब्दों में दुहराते हैं।

"हरिनी ज्यों हेरति न केशर के काननहिं।"

ऐसा मालूम पड़ता है कि हनुमानजी के पास शब्दों की कुछ कमी थी

जो एक ही शब्दावली को दो बार दुहराना पड़ा। राम से सम्बन्ध रखने के कारण शायद इसकी भी पुनरुक्ति में वे दोष न समझते हों।

केशवदासजी भाषा-सम्बन्धी च्युत संस्कृति के दोष से भी नहीं बच सके हैं। इसके लिए दो एक उदाहरण पर्याप्त होंगे—

(क) "पीछे मघवा मोहिं शाप दई।"

'शाप' पुल्लिंग है उसके साथ 'दई' स्त्रीलिंग क्रिया का आना उचित नहीं था।

(ख) "अंगद रक्षा रघुपति कीन्हो"

रक्षा के साथ 'कीन्हीं' आना चाहिए था न कि 'कीन्हो'। इन दोषों के अतिरिक्त रामचन्द्रिका में न्यूनपदत्व (पानी, पावक, पवन, प्रभु, ज्यों असाधु त्यों साधु'—इसमें बिना क्रिया के अर्थ पूरा नहीं होता है), अधिकपदत्व ('जनु अग्नि ज्वाल महँ धूम भई'—यहाँ पर 'भई' अधिक और निरर्थक है), अक्रमत्व (अमानुषी भूमि अवानरी करौं—यहाँ यह प्रतीत होता है कि भूमि अमानुषी तो है ही अबानरी करना बाकी है) आदि दोष भी हैं। मालूम नहीं कि ये दोष शुद्ध गंगाजल में हाला की एक बूँद में कुछ अधिक हैं या नहीं?—'बुन्दक हाला परत ज्यौं, गंगाजल अपवित्र।'

केशव यद्यपि अलंकारों के जाल में फँसकर अनेक प्रकार के अनौचित्य में पड़ गए फिर भी काव्य के लिए जो मानव प्रकृति का परिचय आवश्यक है वह उनमें पर्याप्त मात्रा में था और कहीं-कहीं उन्होंने इस सम्बन्ध में बड़े कौशल से काम लिया है। विश्वामित्र जब राम-लक्ष्मण को यज्ञ रक्षा के लिए अपने साथ ले जाने को प्रस्तुत होते हैं तब दशरथ का मौन सैकड़ों प्रमत्त प्रलापों से अधिक बलवान हो जाता है, देखिए—

मानव-प्रकृति परिज्ञान और चरित्र-चित्रण

"राम चलित नृप के युग लोचन,
बारिभरित भए बारिदरोचन।

पायन परि ऋषि के सजि मौनहिं,
केशव उठि गये भीतर भौनहिं ॥"

मनुष्य जब किसी मनोराग के आवेश में होता है तब वह जन-समाज में नहीं बैठना चाहता है। जब आँसू रोके न रुकते हों तब भीतर उठ जाना स्वाभाविक ही था, और जब आवेश के कारण शब्द न निकलते हों तो केवल पैर छूने में स्नेह और शिष्टाचार दोनों का निर्वाह हो जाता है। रावण के धनुषयज्ञ के अवसर के वार्तालाप से उसकी आसुरी प्रकृति का पूरा पता चल जाता है। वह धनुष तोड़ने से पहले कन्या देखने का आग्रह करता है—

"देखि कै राजसुता धनु देखौं।"

बिना कुछ करतब दिखाये वृथा बाहुबल की डींग मारता है, प्रतिज्ञा करके कि बिना अपने किसी सेवक की आर्त पुकार सुने सीताजी को वहाँ से लिए बिना नहीं हटेगा, तुरन्त एक नौकर की आर्तपुकार सुनकर चला जाता है मानो उसने ऐसा इंतजाम पहले से कर रखा हो।

परशुराम के क्रोधी स्वभाव के अन्तर्गत उनकी अधीरता का परिचय केशव ने बड़े कौशल के साथ दिया है। परशुरामजी वामदेव से राम का 'रा' सुनते ही अधीरतावश रावण के प्रति अपने उद्गार निकाल बैठते हैं—

"तोर्‌यो 'रा' यह कहत ही, समझ्यो रावणराज।"

केशव ने राम की विरक्ति के वर्णन में अपने समय के राजाओं की प्रकृति का अच्छा वर्णन किया है। यद्यपि यह भी एक प्रकार से काल दूषण है—

"मृगया यहै सूरता बड़ी।"

× × ×

"दर्शन देबोई अति दान। हँसि बोलिबो बड़ सम्मान।"

लक्ष्मणजी जब संजीवनी बूटी के स्पर्श से जाग उठते हैं तो पहली बात यही कहते हैं 'लंकेश न जीवित जाय घरै'। उनकी वीर प्रकृति का इससे सुन्दर उद्घाटन नहीं हो सकता था।

केशव ने कहीं-कहीं कथा को इतना संक्षिप्त कर दिया है कि चरित्र के विकास की अधिक गुञ्जाइश नहीं रहती। फिर भी रामचन्द्रजी, भरतजी तथा लक्ष्मणजी, रावण, विभीषण आदि प्रधान पात्रों का चरित्र प्रकाश में आया है। रामचन्द्रजी की धीरता, वीरता का परिचय परशुराम-संवाद में मिलता है। उनके हृदय की कोमल भावना का परिचय लक्ष्मण के शक्ति लगने पर लगता है। केशव ने राम के शील के अन्तर्गत उनकी हनुमान, लक्ष्मण, सुग्रीव और विभीषण के प्रति कृतज्ञता का अच्छा परिचय दिया है। राजाओं-की-सी दृढ़ता का पता सीता-वनवास के समय लक्ष्मणजी की उक्ति न सुनकर राजाज्ञा पर बल देने में मिलता है। उसमें उनकी आज्ञा के अनौचित्य की आत्म-स्वीकृति भी दिखाई देती है। राम के स्वभाव के विरुद्ध यदि कोई बात दिखाई देती है तो वन जाते समय भरतजी के व्यवहार के प्रति संदेह की एक क्षीण रेखा का आना—

"आय भरत्थ कहाँ धौं करें जिय भाय गुनौ।
जो दुख देयँ तो लै उर गौं यह सीख सुनौ॥"

केशव के रूपक भी कहीं-कहीं बड़े चमत्कार-पूर्ण हो गये हैं। देखिये—

"शोक की आग लगी परिपूरण,
आइ गये घनश्याम बिहानें।
जानकि के जनकादिक के,
सब फूलि उठे तरु पुण्य पुरानें।"

इसमें घनश्याम का श्लेष बड़ा उपयुक्त और प्रसङ्गानुकूल है—

केशव के श्लेष भी—जहाँ कि अप्रस्तुत अर्थ पात्र की मनोदशा के अनुकूल होता है—बड़े मर्मस्पर्शी बन जाते हैं। वर्षा के सम्बन्ध में जो अपह्नुति और श्लेष हैं वे दोनों ही रामचन्द्रजी की मनोदशा के अनुकूल हैं। अपह्नुति देखिए—

"अति गाजत बाजत दुन्दुभि मानो।
निरघात सबै पविपात बखानो॥

धनु है यह गौरमदाइन नाहीं।
शर जाल बहै जलधार वृथा हीं॥
भट चातक दादुर मोर न बोले।
चपला चमकै न फिरै खंग खोले॥
द्युतिवंतन की विपदा बहु कीन्हीं।
धरनी कहँ चन्द्र-बधू धरि दीन्हीं।"

अंतिम पंक्ति में रामचन्द्रजी ने अपनी ओर भी संकेत कर दिया। वे भी तो सूर्यवंशी होने के कारण द्युतिवंतों में से थे और सीतारूपी चन्द्र-बधू स्वर्ग से घसीटी लाई जाकर पृथ्वी अर्थात् एक सांसारिक राजा के सुपुर्द कर दी गई थी। यहाँ पर अलंकारव्यंजना की झङ्कार के कारण और भी चमत्कृत हो गया है।

केशवदासजी ने कहीं-कहीं साधारण तुलना और विरोध द्वारा भी बड़ी सरल भाषा में अच्छा चमत्कार दिखाया है—

"सिंधु तर्‌यो उनको बनरा,
तुम पै धनुरेख गई न तरी।
बाँदर बाँधत सो न बँध्यो,
उन बारिध बाँधि कै बाट करी॥"

ऐसी उक्तियाँ चाहे किसी शास्त्र में अलंकार के ढाँचे में न आवें किन्तु चमत्कारपूर्ण अवश्य हैं। केशव में अलंकारों का चमत्कार अवश्य है किन्तु जहाँ वे औचित्य के विरोध में आते हैं वहाँ उनकी प्रशंसा नहीं की जा सकती। केशवदास ने औचित्य का उल्लंघन प्रायः पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिए ही किया है। यह उनकी कमजोरी है।

२१

सूरदासजी की भक्ति-भावना

भक्ति काल हिन्दी-साहित्य के इतिहास में स्वर्ण युग माना जाता है। इसी ने हिन्दी-साहित्य गगन के सूर और शशि, सूर और तुलसी की अमर रचनाएँ की। भक्ति-काल में कबीर नामक आदि सन्त कवि भी हुए और सूर और तुलसी जैसे भक्त कवि हुए।

सूर और तुलसी एक तुलना

सूर और तुलसी के उपासना-भेद से उनकी भक्ति-भावना में भी अन्तर था। सूर ने अपने भगवान के माधुर्य पक्ष को अपनाया था तो तुलसी ने अपने इष्ट देव के ऐश्वर्य पक्ष को। सूर ने नियम और मर्यादा की अपेक्षा प्रेम को प्रधानता दी, तुलसी ने नीति और मर्यादा को। सूर ने भगवान के लोकरञ्जक रूप पर अधिक बल दिया तो तुलसी ने उनके लोकरक्षक रूप को। इसका यह अर्थ नहीं कि सूर ने उनके लोकरक्षक रूप की उपेक्षा की हो। श्रीकृष्ण जी ने केशी, अघासुर, बकासुर और कंस का दमन किया था। तुलसी ने भगवान के सौन्दर्य पक्ष और लोकरञ्जक रूप को अपनाया है। तुलसी ने राम के बाल सौन्दर्य का तथा बनगमन समय की माधुर्यमयी छटा का बड़ा मनोरम वर्णन किया है। दोनों ही ने भगवान की शरणागत वत्सलता पर विश्वास किया दोनों ही ने भगवत्-कृपा का आश्रय लिया है। दोनों में समानताएँ अवश्य है किन्तु दोनों के दृष्टिकोण में भेद है। तुलसी ने दास-भाव को अपनाया है, क्योंकि दास-भाव में पूर्ण निरभिमानता जो भक्ति का एक आवश्यक उपकरण है, रहती है। दूसरा लाभ यह है कि दास के बनने-बिगड़ने का उत्तरदायित्व मालिक पर ही रहता है—'**बिगरे सेवक स्वान ज्यो साहिब सिर गारी** (वि० प १५०)।' तुलसीदास जी ने दास्य भाव को अपनाया है किन्तु वे पर

के मुँह लगे दास की भान्ति नहीं है जो नीति और मर्यादा की उपेक्षा करते हों। वे रामभक्ति के साथ नीति को महत्त्व देते हैं—

'चलत नीति मग, रामपग नेह निबाहत नीक' (दोहावली ८६९)
सूर ने यद्यपि दास्य और दैन्य को अपनाया है फिर भी उन्होंने सख्य को विशेष महत्त्व दिया है। सूर की उसी सख्य-प्रधान भक्ति का यहाँ विवेचन किया जाता है।

सूर की भक्ति का स्वरूप

महात्मा सूरदास जी वल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित थे **'श्री वल्लभ गुरु तत्त्व सुनायो लीला भेद बतायो।'** उन्होंने भगवदनुग्रह रूप जीव के पोषण को प्रधानता देने वाले पुष्ट मार्ग की प्रेम लक्षणा भक्ति को अपनाया था। इस प्रकार की भक्ति में श्रीमद्भगवद्गीता के **'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'** के अनुसार पूर्ण आत्म-समर्पण करना पड़ता है। भगवदनुग्रह से गोपियाँ इस भाव में दीक्षित थीं। इसी भाव की कमी के कारण ज्ञान का गर्व रखने वाले उद्धव श्रीकृष्ण जी द्वारा गोपियों की चटसाल में प्रेम की पाटी पढ़ने भेजे गये थे। **'प्रेम भजन न नेकु याके, जाय क्यों समझाय ? सूर प्रभु मन यह आनी व्रजहि देहु पठाय।'** इस प्रेमा भक्ति के दो मुख्य रूप हैं वात्सल्य और माधुर्य या कान्त भाव। इनका सम्बन्ध परब्रह्म परमात्मा भगवान कृष्ण के बाल और कुमार रूपों से है। वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुकूल भगवान के ये रूप जो व्रज में प्रकट हुए हैं उनके शुद्ध अमिश्रित आनन्द अंश से सम्बन्धित हैं। उन्होंने ये बाल और यौवन लीलाएँ अपने कृपा भाजन जीवों को आनन्द देने के लिए की थी। भगवान अपने कृपा-पात्रों को सुख देने के लिए ऐसे ही उत्सुक रहते हैं जैसे धेनु अपने बछड़े को। यद्यपि वल्लभ-सम्प्रदाय में वात्सल्य और कान्त भाव की मुख्यता है तथापि उसमें दास्य और सख्य का निषेध नहीं है। दास्य-भाव की दीनता का महाप्रभु वल्लभाचार्य द्वारा अनुमोदन ही हुआ है—**'दैन्यं तत्तोष साधनम्'** किन्तु सख्यभाव वात्सल्य और माधुर्य भाव के अधिक अनुकूल पड़ता है क्योंकि सखा ही बाल-लीला और यौवन-

लीला के स्वच्छन्द माधुर्य का निसंकोच रूप से वर्णन कर सकता है। सदा साथ रहने के कारण वह इन लीलाओं का अधिकारी हो जाता है। इसलिए सूरदास जी के लिए सखा-भाव स्वाभाविक ही था।

कृष्ण सखा के प्राकट्य

वल्लभ सम्प्रदाय की मान्यताओं के अनुसार महाप्रभु बल्लभाचार्य स्वयं पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान कृष्ण के अवतार हैं। जब-जब भगवान अवतार लेते हैं तब तक उनका परिकर भी अवतरित होता है। श्री कृष्णावतार के समय वेद की ऋचाएँ गोपियाँ बनकर आई थीं। महाप्रभु वल्लभाचार्य के अवतार के समय अष्टछाप के कवियों के सम्बन्ध में श्री कृष्ण जी के अष्ट सखाओं की कल्पना की गई थी। वार्ता के टीकाकार श्री हरिराय ने भाव प्रकाश नाम की टीका में लिखा है—'सो ये रदसूास जी लीला में श्री **ठाकुर जी के अष्ट सखा हैं, सो तिन में ये कृष्ण सखा के प्राकट्य हैं'** फिर उनका सखा-भाव का अपनाना कोई आश्चर्यजनक नहीं। सखा-भाव में पूर्ण समता के साथ संकोच का अभाव होता है और साथ ही अपने सख्य के आलम्बन की लीलाओं में आनन्द और गर्व की भावना रहती है। सखा-भाव में विनोद का प्राधान्य रहता है। सूर की वाणी में ये सभी बातें हैं।

मुख्य तीन रस

सूर ने मुख्यतया तीन रसों को अपनाया है। शान्त, वात्सल्य और शृङ्गार। शान्त के अन्तर्गत विनय के पद वात्सल्य के अन्तर्गत बाल-लीला के पद और शृङ्गार के संयोग वियोगात्मक उभय पक्ष सूर-सागर की श्री वृद्धि कर रहे हैं। वात्सल्य और शृङ्गार के दैवी आलम्बन होने के कारण ये दोनों भी शान्त के ही अङ्ग बन जाते हैं। ये सभी प्रेमलक्षणा-भक्ति के विशाल क्षेत्र में आ जाते हैं। नन्द-यशोदा का वात्सल्यमय हर्षोल्लास और राधाकृष्ण की परस्पर आकर्षणमयी "योग रति और प्रेमालाप और गोपी गोपाङ्गनाओं का विरह और नैराश्यपूर्ण व्यङ्गयात्मक उपालम्भ सब सूर की सख्य-भाव की भक्ति के विषय बन ज[illegible] हैं।

वल्लभ सम्प्रदाय में दैन्य भाव का निषेध नहीं है किन्तु लीला के

गायन को अधिक महत्त्व दिया गया है । सूर ने जब महाप्रभु वल्लभाचार्य के सम्मुख 'हों हरि सब पतितन को नायक' 'प्रभु मैं सब पतितन को टीको' ऐसे पद गाये तब उन्होंने सूरदास जी को सम्बोधित कर कहा 'जो सूर ह्वै के ऐसो काहे को घिघियात है कुछ लीला वर्णन कर' इस आदेश में सख्य-भाव के बीज निहित थे । वैसे तो सूरदासजी दैन्य में तुलसीदास जी से पीछे नहीं है—'सूरदास द्वारे ठाडो आंधरो भिखारी' में एक दम दैन्य, विवशता और शरणागति का भाव सामने आ जाता है किन्तु सूर में सखा-भाव प्रेरित अखड़पन की कमी नहीं है । उनकी विनय भी इससे प्रभावित है ।

दैन्य का अभाव नहीं

एक किंवदन्ती के अनुसार सूर के प्रारम्भिक जीवन की एक घटना का उल्लेख होता है जिसमें बतलाया गया है कि सूरदास जी जब एक अन्धे कुएँ में गिर पड़े थे और भगवान कृष्ण उनको कुएँ से निकालकर अन्तर्ध्यान हो गये थे तब उन्होंने भगवान को यह चुनौती दी।

अक्खड़पन

"बाँह छुड़ाए जात हो, निबल जानि कै मोहि ।
हृदय ते जब जाहुगे, मर्द बदौंगो तोहि ।।"

सूरदास जी के विनय के पदों में दैन्य और सखा-भाव का अक्खड़पन दोनों ही है । दैन्य के पदों के लिए यह कहा जाता है कि वल्लभ कुल में दीक्षा लेने से पहले के हैं । ऐसा भी हो सकता है किन्तु वल्लभ सम्प्रदाय में दैन्य का नितान्त विरोध नहीं है लीला वर्णन को अवश्य महत्त्व दिया गया है ।

चुनौती

उनके विनय के बहुत से पदों में चुनौती की सी ध्वनि है—'कै प्रभु हारि मान कै बैठहु कै करहु विरद सही ।' वे अपने भगवान से खुलकर बात करते हैं—'पतित पावन हरि विरद तुम्हारो कौनें नाम धर्यो तुम कब मोसो पतित उधार्यो । काहे को प्रभु विरद बुलावत बिन मसकत के तार्यो ।' इस अक्खड़पन में हठवाद नहीं है वरन् निजी सम्बन्ध का

विश्वास और शरणागतभाव की दृढ़ता है 'नाहिन मैं काचो कृपानिधि करी कहा रिसाइ। सूर तबहूँ न द्वार छाँडै डारि हो कढ़ाइ।' अक्खड़पन के साथ कहीं-कहीं विरद बिनु करने की धमकी भी है और अपनी दृढ़ता के बलबूते लड़ने की भी बात कही गई है।

"आज हौं एक-एक करि टरिहौं।
कै तुम ही कै हमहीं माधौ अपने भरोसे लरिहौं॥
हौ तो पतित सात पीढ़िन कौ पतितै ह्वै निस्तरिहौं।
अब हौं उघरि नच्यौ चाहत हौ तुम्हे बिरद बिन करिहौं॥"

—सूर सागर (नन्ददुलारे द्वारा सम्पादित) प्रथम स्कन्ध १३४

सूर अपनी पतितता पर गर्व करते हैं और पतित बने रहकर भगवान की कृपा का भरोसा रखते हैं। अन्त में निजी सम्बन्ध के साथ रीझभरी स्मितमयी कृपा की आशा भी रखते हैं—'सूर पतित तबही उठि है, प्रभु, जब हँसि दैहो बीरा' बीरा देना कृपा का सूचक है। तुलसी ने भी पूतरा बाधने की धमकी दी है किन्तु विनय न सुने जाने के बाद एक ही बार डरते-डरते कहा है। देखिए—

"हौं अब लौं करतूति तिहारिय चितवत न हुतो रावरे चेते।
अब तुलसी पूतरो बाँधि है सहि न जात मोपे परिहास एते॥"

—वि० पत्रिका २४१

सूर और तुलसी की विनय में एक और भी अन्तर है। सूरदास हरि भक्ति के आगे और देवताओं की भक्ति नहीं करते। उन्होंने अपने सूरसागर का आरम्भ 'चरन कमल बन्दौ हरिराई' से किया है। तुलसीदास जी ने यथास्थान सभी देवताओं की वन्दना गायी है। 'जेहि सुमिरत सिधि होइ। गणनायक करिवर वदन' से रामचरितमानस का प्रारम्भ हुआ है। विनयपत्रिका का श्रीगणेश गणेश-वन्दना से हुआ है, 'गाइए गनपति जग बन्दन' सूर ने और देवताओं की बुराई भी की है उन्हें रंक और भिखारी कहा है 'और देव सब रंक भिखारी' तुलसी मर्यादा में बँधे रहे हैं केवल

अन्य अन्तर

बलि चाहने वाले देवताओं की दोहावली में बुराई की है—'बलि मिस देखे देवता कर मिस मानव देव' तुलसी हर प्रकार से मर्यादावादी थे।

सूर ने स्वयं ही नहीं वरन् दूसरे भक्त पात्रों द्वारा दृढ़ता और भक्ति के हठ के साथ बात कहलाई है। भीष्म पितामह हठ-पूर्वक प्रतिज्ञा करते हैं कि भगवान से अस्त्र ग्रहण कराकर ही रहेंगे।

भीष्म की प्रतिज्ञा

"आजु जो हरहि न सस्त्र गहाऊँ।
तो लाजौ गंगा जननी कौं, सांतनु सुत न कहाऊँ।
स्यंदन खंडि महारथि खंडौ, कपिध्वज सहित गिराऊँ।
पांडव-दल-सन्मुख ह्वै धाऊँ, सरिता रुधिर बहाऊँ॥
इती न करौ सपथ तो हरि की, छत्रिय गतिहि न पाऊँ।"

प्रथम स्कन्ध २७०

भीष्म पितामह के वचनों में वीर की गर्वोक्ति अवश्य है किन्तु हरि की शपथ खाने में उनकी भक्ति-भावना भी बरबस झाँक उठती है। साथ ही सूर की भक्ति-भावना में सखा-भाव की दृढ़ता का भी परिचय मिल जाता है।

बाल-लीला के प्रसङ्ग में तो सूरदास जी विनोद करने के लिए ढाढ़ी का रूप धारण कर गोवर्धन से नन्दगाँव पहुँच जाते हैं। 'हौं तेरो जनम-जनम को ढाढ़ी सूरदास कहि गाऊँ' भगवान कृष्ण का बालरूप भक्तों को सुख देने के लिए प्रकट हुआ था—'जो सुख सूर अमर मुनि दुर्लभ, सो नन्द भामिन पावै।'

बाल-विनोद

नन्द-यशोदा द्वारा बालकृष्ण को अपने-अपने पास बुलाने की होड़ में भगवान कृष्ण के सखा सूरदास को आन्तिरिक आनन्द मिलता प्रतीत होता है। 'इत ते नन्द बुलाइ लेत है उतते जननि बुलावति री। दम्पति होड़ करत आपस में श्याम खिलौना कीनो री'। श्याम का बाल-विनोद सूर को भाता है 'बाल-विनोद खरो जिय भावत मुख प्रतिबिम्ब पकरिबे कारन हुलसि घुटरवनि धावत'। चुटकी देहि नचावहिं सुत जान नन्हैया। बाल-विनोद आनन्द सों सूरज जन गावत। सूर के हृदय का आनन्द

स्थान-स्थान पर मुखरित होता सुनाई पड़ता है। हरि अपने आगे कछु गावत। तनक तनक चरनन सो नाचत मनहि मनहि रिझावत। बाँह उचाइ कजरी धौरी गैयन टेरी बुलावत—सूर श्याम के बाल चरित नित देखत मन भावत।'

यशोदा मैया चोटी बढ़ने का प्रलोभन दे बालकृष्ण को दूध पिलाने को प्रोत्साहित करती हैं। 'कजरी को पय पियउ लाल बढ़ेगी तेरी चोटी'। श्याम अपने भोलेपन में दूध पीते ही बाल टटोलने लगते हैं—'पुनि पीवति ही कच टकटोहे झूठे जननि रढै'। फिर वे अपनी माता से पूँछते हैं 'मैया, कबहि बढैगी चोटी। किती बार मोहि दूध पिवत भई यह अजहूँ है छोटी' कृष्ण के इस भोलेपन पर सूर भी मन ही मन मुस्कराये होंगे।

खीज पर रीझ सूर को अपने प्रभु को बालकों द्वारा खिजवाने में आनन्द आता था और उनके प्रभु को देख कर यशोदा मैया के साथ खीज का प्रभाव सिहाते थे।

मैया दाऊ मोहि बहुत खिजायो। मो सो कहत मोल को लीनो तू जसुमति कब जायो। कहा कहौं यहि रिस के मारे खेलन नहीं जात—मोहन को मुख रिस समेत लखि यशुमति सुन सुन रीझै।' सूर भी इस खीज पर रीझे थे। माता के आश्वासन पर भी सूर को अपने सखा-कृष्ण के साथ सन्तोष हुआ होगा। 'सुनहु कान्ह बलभद्र चबाई जनमत ही को धूत। सूर श्याम मो गोधन की सौं हौं माता तू पूत'। कवि के हृदय की यह सराहना संक्रामक हो पाठक को भी भाव विभोर कर देती है।

श्री कृष्ण जी के बालसखा उनकी अचगरी और नटखरी में सदा साथ रहते थे 'दधि माखन चोरी कै लै हरि ग्वाल सखा संग खात' और

ब्रज जीवन की याद भगवान कृष्ण भी मथुरा के राजवैभव में उन सखाओं को नहीं भूले थे। 'ऊधो। मोहि ब्रज बिसरत नाहीं। हंस सुता की सुन्दर कगरी अरु कुंजन की छाहीं।

वे सुरभी, वै बच्छ दोहनी, खरिक दुहावन जाहीं। ग्वाल-वाल सब करत कुलाहल नाचत गहि गहि बाहीं। यह मथुरा कंचन की नगरी मनि-मुक्ताहल जाहीं। जबहिं सुरत आवत वा सुख की जिय उमगत, तनु नाहीं।

—भ्रमरगीत सार ४००

सख्य के समता भाव की पराकाष्ठा तब आती है जब श्याम के सखा बराबरी का दावा करते हुए कहते हैं 'खेलत में को काको गुसैयाँ' यह समता भाव धूर्तता की कोटि तक पहुँच जाता है।

समता-भाव गेंद काली दह में गिर जाती है, सखा इस पर भी खुश होते हैं कि श्री कृष्ण को गेंद लाने के अर्थ दह में प्रवेश करना पड़ेगा। 'जानबूझ तुम गेंद गिरायो अब दीन्हे ही बन्हे कन्हाई। सूर सखा सब हंसत परस्पर भली करी हरि गेंद गिराई'।

तुलसीदास सूर के निकट ही आ पाते हैं, उनकी बराबरी नहीं कर पाते। इसका एक कारण उपासना भेद में है। वे अपने इष्टदेव को ऐश्वर्य-मण्डित

वात्सल्य-वर्णन में अन्तर रूप में देखते हैं। उनके साथ रेता-पैता मनसुखा नहीं वरन् राजकुमार चौगान खेलते हैं, देखिए—

राम लखन इक ओर, भरत रिपुदवन लाल इक ओर भये।
सरजु तीर, सम सुखद भूमि थल गनि गनि गोइयाँ बाँटि लये॥
कंदुक केलि कुशल हय चढ़ि चढ़ि, मन कसि कसि ठोंकि ठोंकि खये।
कर कमलत विचित्र चौगानें खेलन लगे खेल रिझये॥

× × ×

प्रभु बकसत गजबाजि बसन मनि, जय धुनि गगन निसान हये।
पाई सखा सेवक जाचक, भरि जनम न दुसरे द्वार गये॥

—गीतावली बा. कांड ४३

तुलसी के राम मर्यादा में बन्धे हुए हैं, वे फूल तोड़ते हैं तो 'पूंछि माली गन' और आनन्द कन्द श्री कृष्ण दही खाते ही नहीं, मटकी भी फोड़ देते हैं। वन भोज में सब मर्यादा को तोड़ देते हैं। सूर श्याम अपनो नहि जेंवत ग्वालन कर ते लेले खात' और सुनिए 'झूठो लेत सबन के मुख को

अपने सुख लै लावत' दास अपने प्रभु की कमजोरियों का इतना खुलकर नहीं कर सकता, यह सखा ही कर सकता है।

शृंगार के प्रसङ्ग में दास को और भी कठिनाई पड़ती है। श्री कृष्ण और गोपियों के सम्बन्ध में कौमारभाव भी लगा हुआ है। यह सखाओं के और भी अधिक विनोद का कारण बन जाता है। एक गोपी कृष्ण की ढिठाई पर उनकी भर्त्सना करती प्रतीत होती है।

शृंगार में डाट-फटकार

'कहा भए अति ढीट कन्हाई।
ऐसी बात कहत सकुचित नहिं कहधों अपनी लाज गवांई॥
बहुत हुए दसहि बरस के बात कहत हो बनी बनाई॥'

रास में प्रेम-भक्ति आ जाती है। गोपियाँ कृष्ण की मुरली की ध्वनि सुनकर प्रेमविभोर हो जाती है और घरबार छोड़कर उनके पास चली आती है।

रास में प्रेमा भक्ति

'जबहि बन मुरली स्रवन परी।
चकित भई गोप कन्या सब काम-धाम बिसारी॥
कुल मर्यादा वेद की आज्ञा, नेकहुँ नारि डरी।
स्याम सिन्धु, सरिता ललना गन जल की ढरनि ढरीं॥'

—दशम स्कन्ध १०००

गोपियों के इस प्रेम सागर में सूर का हृदय भी तरंगित होता दिखाई देता है।

विरह में निष्कामता

प्रेम का शुद्ध रूप विरह में मिलता है। विरह में स्वार्थ का कर्दम जल जाता है, सुनिए—

'फिर ब्रज बसहु गोकुलनाथ!
बहुरि न तुमहि जगाय पठवौं गोधनन के साथ॥
बरजौं न माखन खात कबहूँ, दैहौं देन लुटाय।'

—भ्रमरगीतसार १६३

यह संदेश कृष्ण के पास कृष्ण के सखा उद्धव के द्वारा भेजा जाता है। इसमें सूर की निष्काम भक्ति व्यंजित है और सखा की शुद्ध निष्काम

सान्निध्य सुख की अभिलाषा प्रतिबिम्बित होती है।

गोपियाँ विरह में व्याकुल थी 'निसि दिन बरसत नयन हमारे'। ऐसी ही दशा में ऊधो आये और उन्होंने ज्ञान तथा योग का सूखा उपदेश दिया। वे तो नंदनंदन की उपासिका थीं निर्गुन को क्या जानें। ऊधो से पूछती हैं— 'निर्गुण कौन देश को वासी'। ऊधो को करारी डाट देती हैं—'रहुरे मधुकर मधुमतवारे', 'कहा कहौं निर्गुन लैके हौं! जीवौ कान्ह हमारे' और फिर मधुकर के साथ कृष्ण को भी लपेटे में ले लेती हैं—'यह मथुरा काजर की कोठरि जे आवे ते कारे', 'सखी री श्याम कहा हित जानें। सूरदास सर्वस जो दी—जै कारो कृतहि न मानैं', 'एक रंग कारे तुम दोऊ धोय सेत क्यों कीजै'। 'कान्ह केलि' की भूखी गोपियों को योग की बात रूखी लगती है 'जा घर रहत श्याम घन सुन्दर सदा निरन्तर पूर, ताहि छाँड़ि क्यों सून्य अराधै, खोवै अपनो भूर। दुख में भी उनको हँसी आ जाती है—'ऊधो भली करी तुम आए। ये बातें कहि कहि या दुख में ब्रज के लोग हँसाए। उनकी विनोदवृत्ति जाग्रत हो जाती है और श्याम सुन्दर पर करारे करारे व्यंग्य व्यङ्ग्य कसती हैं—

> 'वे दिन माधव भूल बिसरि गये गोद खिलाये कनिया।
> गुहि गुहि देते नन्द जसोदा तनक काँच के मनियाँ।
> दिना चार तें पहरन सीखे पट पीताम्बर तनियाँ।'
>
> —भ्रमरगीतसार १५६

यह गोपियों के मुख से सूर का सखाभाव बोल रहा प्रतीत होता है।

आचार्य शुक्ल जी के मत से इस प्रकार की खरी-खोटी कहलाने की बात का सखाभाव से कोई सम्बन्ध नहीं है वरन् यह बात विषय के अनुकूल है, और इस व्यङ्ग्य में रति का संचारी हर्ष व्यंजित है यह शुक्ल जी का मत ठीक है किन्तु इन परिस्थितियों में भी तुलसी मर्यादा में बँधे रहते और अपने इष्टदेव की ऐसी हँसी न उड़ाने देते। कुल मिलाकर सूर और तुलसी की प्रकृति में भेद स्वीकार करना पड़ेगा। तुलसी में मर्यादा का प्राधान्य था सूर में प्रेम की समता और

स्वतन्त्रता । हमारे लिए दोनों ही वन्द्य है । देवताओं में कोई छोटे-बड़े नहीं होते हैं ।

सूरदासजी में सख्यभाव अवश्य था किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि तुलसीदासजी आदि मर्यादा में बँधे हुए अपने इष्टदेव के साथ इतनी स्वतन्त्रता का व्यवहार नहीं कर सकते थे । यदि सख्यभाव को ही सूर की भक्ति-भावना का परिचायक मान लें तो उनके साथ अन्याय होगा । सूर में कहीं-कहीं मर्यादा का अभाव है किन्तु वे दीनता, आर्त्तता और वैराग्य-भावना में भी किसी से पीछे न थे । उनको अपने पापों और अपनी न्यूनताओं की इतनी ही प्रबल चेतना थी जितनी की तुलसीदासजी को ।

दूसरा पक्ष

"कौन गति करिहौ मेरी नाथ ।
हौं तो कुटिल, कुचील, कुदर्शन, रहत विषय के साथ ।।
दिन बीतत माया के लालच, कुल कुटुम्ब के हेत ।
सिगरी रैन नींद भरि सोवत, जैसे पसू अचेत ।।

—सूरसागर प्रथम स्कन्ध १२५

सूर ने विषय-वासना के सम्बन्ध में अपनी तुलना 'शूकर ग्रामी' से की है—'भरि-भरि द्रोह विषै को धावत, जैसे शूकर ग्रामी ।' पश्चात्ताप करते हुए उन्होंने सब अपने दोष गिनाए हैं । जो अकर्त्तव्य है वह किया और कर्त्तव्य है वह नहीं किया—

पश्चाताप

"आछौ गात अकारथ गार्‌यौ ।
करी न प्रीति कमल लोचन सों जनम जुवा ज्यों हार्‌यौ ।।
निसि-दिन विषय-विलासनि विलसत, फूटि गईं तव चार्‌यौ ।"

—सूरसागर प्रथम स्कन्ध १०१

अपने मन को उन्होंने बार-बार प्रबोधा है । उसको संसार से हटाकर परमार्थ में प्रवृत्त करने का प्रयत्न किया है—

प्रबोधन

"मन, तोसौं किती कही समुझाई ।
नंद-नंदन के चरन-कमल भजि, तजि पाखंड चतुराई ।।
सुख संपति, दारा सुत, हय गय, छूट सबै समुदाई ।
छन भंगुर यह सबै श्याम बिनु, अंत नहिं संग जाइ ।।"

—सूरसागर-प्रथम स्कन्ध ३१७

बार-बार वे अपने मन से कहते हैं—

"रे मन, छाँड़ि विषय कौ रँचिवौ ।
कत तू सुवा होत सेमर कौ, अंतहि कपट न बचिवौ ।।
अंतर गहत कनक कामिनि कौ, हाथ रहैगो पचिवौ ।
× × ×
सूरदास-प्रभु हरि-सुमिरन बिनु जोगी कपि ज्यौं नचिवौ ।।"

—सूरसागर-प्रथम स्कन्ध ५९

कंचन, कामिनी और विषय-वासना का उन्होंने उतना ही त्याग किया
विषय-वासना जितना संतों और भक्तों ने । सूरदासजी सच्चे वैष्णव
भक्तों की भाँति अपने पुरुषार्थ पर भरोसा नहीं करते हैं—

"करी गोपाल की सब होइ ।
जो अपनो पुरुषारथ मानत, अति झूठो है सोइ ।।"

इसीलिए भगवान की शरण में जाते हैं—

"सूरदास स्वामी करुनामय, स्याम चरन मन पोइ ।"

—सूरसागर-प्रथम स्कन्ध २६२

सूरदासजी अपने को विषय-वासना के कमलकोश में पाकर रात्रि से
छुटकारा पाने के लिए भगवत् कृपा के सूर्योदय की प्रार्थना करते हैं—

"सूर-मधुप निशि कमलकोष बस, करौ कृपा दिन भान ।"

—प्रथम स्कन्ध १००

शरणागति वे भगवान की शरण में एक दृढ़ भरोसा लेकर जाते हैं—

"अपुने कौं को न आदर देइ ?
ज्यौं बालक अपराध कोटि करै, मातु न मानै तेइ ।।

ते बेली कैसें दहियत हैं, जे अपनें रस भेइ।
श्री संकर बहु रतन त्यागि कैं, बिषहिं कंठ धरि लेइ॥
माता अछत छीर बिन सुत मरै, अजा-कंठ-कुच सेइ?
जद्यपि सूरज महापतित है, पतित पावन तुम लेइ॥"

—प्रथम स्कन्ध २००

वे भगवान की शरण में मिले हुए दैन्य और सख्य भाव की दृढ़ता से जाते हैं वहीं पर डटे रहने की बात कहते हैं—

"महाप्रभावल, मारिवे की सकुच नाहिं न मोहिं।
किए प्रन हौं पर्यौ द्वारै लाज प्रन की तोहिं॥
नाहिं काँची कृपा-निधि हौं, करौ कहा रिसाइ।
सूर तबहुँ न द्वार छाँड़ै, डारिहौ कढ़िराइ॥"

—प्रथम स्कन्ध १०६

सूरदास नन्द नन्दन और भगवान राम की ही शरण में गए हैं, अन्य देवताओं को तो उन्होंने रंक भिखारी और व्यापारी कहा है—

"और देव सब रंक भिखारी, त्यागे बहुत अनेरे।"

—प्रथम स्कन्ध १७०

"लियैं दियौ चाहें सब कोऊ, सुनि समरथ जदुराई।
देव सकल व्यापार परस्पर, ज्यौं पसु-दूध-बराई॥
तुम बिन और न कोउ कृपानिधि, पावै पीर पराई॥"

—प्रथम स्कन्ध १६५

सूरदासजी ने एक पद में हरि और हर की एकता स्थापित की है एक हरिहर सर्प-शैया पर सोने वाले तो दूसरे सर्पों को अंग-विभूषन बनाने वाले, एक नीलकण्ठ हैं तो दूसरे नील बदन हैं—

"हरि हर संकर नमो,
अहि सायी, अहि अंग-विभूषन, अमित दान बल विष हारी॥
नील कंठ, बर, नील कलेवर प्रेम परस्पर कृत हारी।"

—सूरसागर दशम स्कन्ध १७१

सूर ने जो अन्य देवताओं की बुराई की है उसमें अन्य देवताओं की

अनन्यता अपेक्षा भगवान कृष्ण के प्रति अनन्यता अधिक है किन्तु मर्यादा में बन्धे हुए तुलसीदासजी नाम की भी बुराई न करते।

सूर एक ही इष्ट देव के उपासक हैं। जिस प्रकार जहाज का पंछी चाहे जहाँ उड़कर घूम आवे किन्तु विश्राम उसको जहाज पर ही मिलता है उसी प्रकार सूरदासजी उपासना के लिए कहीं भी भटक लें, शरणागति के लिए भगवान कृष्ण के पास जाते हैं। वहीं उनको विश्राम मिलता है—

"मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै।
जैसे उड़ि जहाज को पंच्छी, फिरि जहाज पर आवै॥
× × ×
सूरदास प्रभु कामधेनु तजि, छेरी कौन दुहाव।'

—प्रथम स्कन्ध १६८

दास्य श्याम को छोड़कर अन्यत्र जाने में सूर को दुख होता है—

"मेरी तौ गति-पति तुम, अनतहिं दुख पाऊँ।
हौं कहाइ तेरौ, अब कौन कौ कहाऊँ॥"

—प्रथम स्कन्ध १६६

सूर को यदि सुख मिलता है तो श्याम के गुलाम कहलाने में—

"हमें नंद नंदन मोल लिए।
× × ×
सब कोउ कहत गुलाम श्याम कौ, सुनत सिरात हिए।
सूरदास कौं और बड़ौ सुख, जूठन खाइ जिए॥"

—प्रथम स्कन्ध १७१

यह पद चाहे महाप्रभु वल्लभाचार्य की शरण में जाने से पहले लिखा हो, चाहे पीछे, इस बात का परिचायक है कि सूर ने सख्य भाव को अपनाया है, पर दास्य भाव से लज्जित नहीं होते थे। वे अपने भगवान को सख्य के उपालम्भ दे लें—**'बेर सूर की निठुर भए प्रभु, मेरो कछू न सर्‌यो'**—किन्तु वे अपने दोषों के प्रति अचेत न थे। भगवान तो कृपा ही

करते हैं, जीव ही अपने अज्ञानवश उस कृपा से लाभ नहीं उठाता। यदि दिन में उलूक को सूर्य न दिखाई दे तो सूर्य का क्या दोष?—

'तुम्हरी कृपा गोपाल गुसाइँ, हौं अपने अज्ञान न जानत।
उपजत दोष नैन नहिं सूझत, रवि की किरनि उलूक न मानत॥
सब सुख निधि हरिनाम महा-मनि, सो पाएहुँ नाहिं पहिचानत।
परम कुबुद्धि, तुच्छ रस लोभी, कौड़ी लगि मग की रज छानत॥
सिव को धन, संतनि कौ सरबस, महिमाबेद पुरान बखानत।
इते मान यह सूर महासठ, हरि नग बदलि, विषय-विष आनत॥'

—प्रथम स्कन्ध ११४

तुलसी की भाँति सूर ने भी अपने इष्टदेव के शील, शक्ति और सौन्दर्य
शील रूपी दैवी गुणों का वर्णन किया है। आराध्य का गुणगान भक्ति का एक आवश्यक उपकरण है। शील के कुछ उदाहरण लीजिए:—

'प्रभु कौ देखौ एक सुभाइ।
अति-गम्भीर-उदार-उदधि हरि, जान सिरोमनि राइ॥
तिनका सौं अपने जन कौ गुन, मानत मेरु समान।
सकुचि गनत अपराध समुद्रहिं, बूंद तुल्य भगवान॥
बदन-प्रसन्न-कमल सनमुख ह्वै, देखत हौं हरि जैसें।
विमुख भए अकृपा न निमिषहूँ, फिरि चितयौं तौ तैसें॥'

—प्रथम स्कन्ध ८

ऐसा ही तुलसी ने अपने राम के विषय में कहा है।

'रहति न प्रभुचित चूक किये की। करत सुरति सयबार हिये की॥'

—बालकाण्ड ४५वें दोहे के बाद

पाण्डवों के राजसूय यज्ञ में श्री कृष्ण जी द्वारा अतिथियों के पैर धोए जाने की बात का बड़ी श्रद्धा के साथ उल्लेख किया है—

'जाकौ चरनोदक सिब सिर धरि, तीनि लोक हितकारी।
सोइ प्रभु पाण्डु सुतनि के कारण निज कर चरन पखारी॥'

—प्रथम स्कन्ध १५

उन्हीं श्री कृष्ण जी की शक्ति का वर्णन करते हुए सूर ने भगवान की

शक्ति बाल क्रीड़ाओं के साथ किए हुए पराक्रम पूर्ण कार्यों का उल्लेख किया है। यह सब भगवान के लोकरत्तक रूप से सम्बन्ध रखते हैं—

"अघ, बक, वृषभ, बकी, धेनु कहति, भव जलनिधि लैं उबारे।
संख चूड़, मुष्टिक, पुलंब अरु, तृनावर्त संहारे॥
गज चानूर हते दव नास्यौ, ब्याल मथ्यौ, भयहारे।"

—प्रथम स्कन्ध २७

श्री कृष्ण जी के सौन्दर्य के वर्णनों से तो सूरसागर भरा पड़ा है। उनके यहाँ उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं। ऐसे ही शील, शक्ति, सौन्दर्य आदि गुणों से विभूषित भगवान पर वे दृढ़ता के साथ

आर्त्तता

भरोसा करते हैं—'हमारे निर्धन के धन रहौ।' उन्हीं से वे अपने उद्धार की प्रार्थना करते हैं। द्रोपदी की आर्त्त पुकार में सूर के हृदय की भी पुकार सुनाई पड़ती है 'तुम्हरी कृपा बिनु कौन उबारे' 'निबाहो बाह गहे की लाज' इन शब्दों पर सूर की दीनता मुखरित हो उठी है। वे अपने को चारों ओर से घिरा हुआ पाते हैं। यद्यपि तुलसी विनय और आर्तता में बहुत बढ़े हुए हैं तथापि सूर भी उनसे पीछे नहीं हैं। वे भवसागर से बाहर जाना चाहते हैं और साङ्ग रूपक द्वारा अपनी दशा का वर्णन करते हैं।

"अब के नाथ, मोहिं उधारि।
मगन हौं भव-अंबुनिधि में कृपासिंधु मुरारि
नीर अति गंभीर माया, लोभ लहर तरंग
लिए जात अगाध जल कौं गहे ग्राह अनंग।"

—प्रथम स्कन्ध ९८

एक और रूपक द्वारा सूर ने अपनी ही विषम स्थिति को स्पष्ट किया

विषम-स्थिति

है। सिर पर पापों की गठरी ही उनको भवसागर में डुबाए दे रही है—

"अति प्रपंच को मोट बाँधि कै अपने सीस धरी ।
खेवनहार न खेवट मेरें, अब मो नाव अरी
सूरदास तव चरनन की आस लागि उबरी ।।"

आर्त होकर ही वे चिल्ला उठते हैं 'अब मैं नाच्यौ बहुत गुपाल··· सूरदास की सबै अविद्या दूर करौ नंदलाल' (दशम स्कन्ध १५३) इसीलिए वे भगवान के चरणों की शरण में जाना चाहते हैं और चिर शान्ति के लिए उत्सुक हैं—

"चकई री, चलि चरन सरोबर, जहाँ न प्रेम-वियोग
जहँ भ्रम-निसा होति नहि कबहूँ, सोइ सागर सुख जोग ।"

—प्रथम स्कन्ध ३७

उपसंहार

सूर में भक्ति के दोनों ही पक्ष (दास्य और सख्य) प्रबल हैं । दास्य-भाव जितना पुराना और दृढ़ हो जाता है उतना ही भय का सम्बन्ध कम होता जाता है । सूर के लीला-वर्णन में जो उनकी मानसिक स्थिति है वह सख्य की है और सूर सागर में लीला-वर्णन की प्रधानता होने के कारण उनकी सख्य भक्ति को प्रधानता दी जाती है । भक्ति चाहे दास्य की हो और चाहे सख्य की सूरदास जी पूरे भक्त थे । इसीलिए वे अपने भगवान से भक्ति की ही याचना करते हैं—

"अपनी भक्ति देहु भगवान ।
कोटि लालच जो दिखावहु, नाहिनै रुचि आन ।।"

२२

स्वतन्त्रता के उपासक—भूषण

यद्यपि हिन्दी में वीर रस की कविता का अभाव नहीं रहा है तथापि वीर रस में माता शारदा चरण पखारकर उनका श्रम दूर करने वालों में सभी स्वतन्त्रता के गायक नहीं हुए। वीरगाथाकाल में जो वीर-काव्य रचा गया वह या तो वैयक्तिक मान-रक्षा के लिये होता था या किसी रमणी का परित्राण कर उसके साथ विवाह करने के लिए 'मानो हि महतां धनम्'। जो मान राजपूतों का सर्वस्व था वही उनमें परस्पर वैमनस्य के बीज बोकर उनके पतन का कारण बना। उन दिनों मानापमान का मान-दण्ड बड़ा संकुचित था। वह व्यक्ति तथा छोटे-छोटे राज्यों की चार-दीवारियों में सीमित था। लोग अपनी-अपनी डफली पर अपना-अपना राग अलापना चाहते थे। क्षात्र-कर्म के नाम पर रुधिर की नदियाँ बहाई जाती थीं, रण-चण्डी का खप्पर अपने भाइयों के ही रुधिर से भरा जाता था। विवाह जैसे मंगल-कर्मों का उपोद्घात और उपसंहार रक्त-प्रवाहिनी रण-भेरी में होता था।

वीरगाथा काल के युद्ध

राजपूती रस्सी अधजली अवश्य हो गई थी परन्तु उसमें ऐंठ पूरी बाकी थी। यद्यपि उन दिनों विदेशी आक्रमणकारियों से भी युद्ध होते थे तथापि अधिकांश युद्धों में पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विताओं की झलक रहती थी। दिल्ली और कन्नौज प्रतिद्वन्द्विता के केन्द्र बने हुए थे। कवि लोग भी अपने आश्रय दाताओं से तादात्म्य कर अपने नमक की बात को निभाते ही थे किन्तु साथ ही पारस्परिक वैमनस्य की ज्वालाओं को कविता के हव्य से उसे और भी प्रदीप्त करते रहते थे। सारा वीरगाथा काल इस प्रकार के प्रति-द्वन्द्वितापूर्ण वातावरण से अवरुद्ध-सा हो रहा था, जरा-जरा सी बातों पर

तलवारें खिच जाती थीं, सती होने वाली पृथ्वीराज की बहिन बेला का दाहकर्म कहीं विपक्षी लोग न करदें, इसपर युद्ध छिड़ गया। बेला की मृत्यु का भयानक दृश्य भी प्रतिद्वन्द्विता और कुलाभिमान की अग्नि को क्षणिक विराम न दे सका, देखिए—

'गुस्सा होय के पृथ्वीराज तब
और तुरतै हुक्म दियो करवाय।
बत्तीं दै दिव तोपन में
इन पाजिन को देय उड़ाय।
झुके खलासी सब तोपन पर
तुरतै बत्ती दई लगाय।
वगी सलामी दोनों दल की
धुवना रह्यो सरग मँडराय।
तोपें छूटी दोनों दल की
रण में होन लगे घमसान।
अररर अररर गोला छूटे
कड़ कड़ करें अगनिया बान।
रिमझिम रिमझिम गोला बर्से
सननन परी तीर की मार।'

इस तरह के वर्णन वीर दर्प अवश्य पैदा करते थे किन्तु सरस्वती देवी इन देशवासियों की पारस्परिक फूट और मार-काट पर चार आँसू बहाकर ही ब्रह्मलोक को लौटती होंगी।

रीतिकाल में शृङ्गार का ऐसा प्राबल्य हुआ कि उसने वीर रस को आक्रान्त कर लिया था। राजा लोग मुसलमान आक्रमणकारियों का लोहा मान चुके थे। उनके मृतक प्रायः शरीरों के लिए वीर रस की रसायन भी शायद निष्फल रही—'निर्वाण दीपे किं तैल दानम्'—बुझे दीपक में तेल डालने से क्या लाभ? हार की मनोवृत्ति में दो ही मार्ग प्रलम्बनीय रहते हैं या तो अपनी सांस्कृतिक श्रेष्ठता प्रमाणित करना जैसा कि यूनान वालों ने

रीतिकाल में वीर रस

रोम शत्रों के साथ की थी अथवा विजेताओं के हास-विलास के समय जीवन में घुल-मिलकर अपनी हार को भूल जाना। पहली वृत्ति का परिचय हम को भक्ति-काल में मिलता है दूसरी का रीति काल में। राजा लोग विलासिता की मदिरा में अपने दुख को भुला देना चाहते थे। अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ की उदार नीति ने विद्रोह की भावना को कम कर दिया था। कवि लोग ऐसे ही, अशक्त राजाओं का गुणगान करने के लिये सरस्वती देवी का आवाहन करते थे किन्तु गोस्वामी तुलसीदास के शब्दों में 'गिरा लाग सिर धुन पछताना', की ही बात सार्थक होती थी।

बदला हुआ दृष्टिकोण

भूषण के समय औरंगजेब की अनुदार नीति ने हिन्दू राजाओं में हिन्दुत्व की भावना जाग्रत की और उसके तीन प्रबल विरोधी बने—दक्षिण में शिवाजी, बुन्देलखंड में छत्रसाल और पंजाब में सिख।

भूषण इसी नव जाग्रत हिन्दुत्व की भावना के, जो उस समय के लिए राष्ट्रीय भावना थी, वैतालिक बने। उनको अपनी ओजमयी वाणी के उपयुक्त आलम्बन भी मिल गया। शिवाजी सच्चे क्षत्रि थे जिन्होंने अपने वैयक्तिक लाभ की पर्वाह न कर अपने धर्म और जाति के लिए अपना जीवन अर्पण कर दिया। ऐसे राजाओं के यश-गान से सरस्वती देवी का श्रम सार्थक हुआ होगा, इस बात को तो भूषण ने स्वयं स्वीकार किया है। सुनिये—

'ब्रह्म के आनन ते निकसे ते
अत्यन्त पुनीत तिहूँ पुर मानी।
राम युधिष्ठिर के बरने
बालमीकहु व्यास के अंग सोहानी।
'भूषण' ज्यों कलि के कविराजन
राजन के गुन पाय नसानी।
पुन्य चरित्र सिवा सरजे सर
न्हाय पवित्र भई पुनि बानी।'

—भूषण-ग्रन्थावली (मिश्रबन्धु) २६०

यशसे

भूषण ने यद्यपि शिवा पर से बहुत दान-मान पाया था और शायद वे भी केशव की भांति राज स्तुति करते होंगे। क्योंकि कविवर भिखारीदासजी ने उन्हें संपत्ति वाले कवियों की ही श्रेणी में रखा है।

'एक लहैं तप के पुंजन के फल
ज्यों तुलसी अरु सूर गोसांई।
एक लहैं बहु सम्पत्ति केशव
भूषन ज्यों बलबीर बड़ाई।'

—काव्य-निर्णय (मंगलाचरण १०)

स्वतन्त्रता की लगन

किन्तु भूषण का मन उस समय की करुण दशा से द्रवित हुआ था। धन देने वाले तो और भी मिल जाते किन्तु भूषण, हिन्दुत्व के हिमायती शिवाजी के और छत्रसाल के दरबार में ही गये। यदि उनको स्वतन्त्रता की लगन न होती तो आस-पास के राजा-रईसों को छोड़कर सुदूर दक्षिण में न जाते। उन्होंने हिन्दुत्व का गढ़ ढहते देखा था और वास्तव में भूषण के सामने हिन्दू और मुसलमान का प्रश्न न था वरन् शासित और शासक एवं शोषित और शोषक का था। अकबर ने इस अन्तर को अपनी उदारनीति से न्यूनातिन्यून कर दिया था किन्तु औरंगजेब के समय में वह पार्थक्य और भी बढ़ गया था। तभी भूषण और शिवाजी का आविर्भाव हुआ। भूषण ने शिवाजी का स्तवन इसलिए नहीं किया कि उन्होंने उनको बहुत से हाथी दिये थे।

'एते हाथी दीन्हे मालमकरन्द जू के नन्द
जेते गनि सकति विरंच हू की न तिया।'

—(भूषण-ग्रन्थावली १०)

यह भी शिवाजी के गुणों में गणनीय बात थी किन्तु मुख्य बात यह थी कि—

"साहस अपार हिन्दुवान को अधार धीर,
सकल सिसौदिया सपूत कुल को दिया।
जाहिर जहान भयो साहिजू खुमान वीर,
साहिन को सरन सिपाहिन को तकिया।"

—भूषण ग्रन्थावली १०

भूषण पहले कवि थे जिन्होंने हिन्दुत्व की सामूहिक भावना को जन्म दिया। उन्होंने शिवा का इसीलिए आदर किया था। 'तुरकान मलिन कुमुदिनी करी हैं हिन्दुवान नलिनी खिलायो विविध विधान सों' (भू० ग्र० ६९) दल थम्भ को उन्होंने 'हिन्दुआन खम्भ गढ़पति' (भू० ग्र० १८९) कहा है

हिन्दुत्व की भावना

किन्तु भूषण की यह भावना संकुचित साम्प्रदायिक भावना नहीं थी। उन्होंने अकबर और शाहजहाँ की तारीफ की थी क्योंकि वे हिन्दुओं को चाहते थे, 'और पातसाहन के हुती चाह हिन्दुन की अकबर शाहजहाँ कहैं साख तब की।' उन्होंने कुरान और वेद की अलग-अलग मर्यादा रखी थी। 'बब्बर के तिब्बर हुमायूँ हद बांध गये दो में एक करी ना कुरान वेद ढब की।' (शिव बावनी २१) किन्तु औरंगजेब में अकबर और शाहजहाँ की-सी हिन्दुओं को चाह न थी। उसने दोनों के बीच की मर्यादा नहीं रखी। उसने दोनों को एक करना चाहा जब अत्याचार बढ़ गये और धर्म की स्वतन्त्रता न रही। शिवाजी को उन्होंने हिन्दू जाति के उद्धारकर्त्ता के रूप में देखा और स्तवन किया। भूषण ने दो-एक और स्थानों में बब्बर और अकब्बर की दुहाई दी है—'दौलत दिल्ली की पाय आलमगीर बब्बर, अकब्बर के विरद बिसारे हैं'। इन बातों से स्पष्ट हो जाता है कि भूषण को साम्प्रदायिक विरोध न था वरन् कुशासन का विरोध था।

शिवाजी और छत्रसाल ही ऐसे राजे थे जिन्होंने औरंगजेब की

प्रधानता नहीं स्वीकार की थी। अन्य और सब पुराने राजवंश औरंगजेब की शोषण नीति के शिकार बन चुके थे किन्तु शिवाजी उससे अछूते रहे। इस बात को भूषण ने एक कवि-समय का आधार लेकर बड़े सुन्दर ढंग से कहा है। भौंरा और सब फूलों पर जाता है चम्पा के पास नहीं जाता—

केतकी और चम्पा

"चम्पा तोमें तीन गुन रूप रंग अरु बास,
औगुन तो में एक है भौंर न आवत पास।"

भूषण ने इस औगुण को गुण बना दिया। और सब राजा रईसों को गुलाब, चमेली और मचकुन्द आदि के फूल कहा, औरंगजेब को भौंरा बताया और केवल शिवाजी को चम्पा कहा, सुनिए—

"कूरम कमल कमधुज है कदम फूल,
गौर है गुलाब राना केतकी बिराज है।
पाँडरि पँवार जुही सोहत है चन्द्रावत,
सरस बुन्देला सो चमेली साज बाज है।
'भूषन' भनत मुचकुन्द बड़गूजर हैं,
बघेले बसन्त सब कुसुम-समाज है।
लेइ रस एतेन को बैठि न सकत अहै,
अलि नवरंगजेब चम्पा सिवराज है॥"

—शिवा-बावनी १६

इस छन्द में राना को केतकी कहा है, क्योंकि केतकी थोड़ी काँटेदार होती है। वैसे वे राणा की भी अकर्मण्यता से दुखी थे। 'राना रह्यो अटल बहाना करि······' केवल शिवाजी अपने प्रण पर अटल रहे। 'अटल शिवाजी रह्यो दिल्ली को निदरि धीर धरि ऐंड़ धरि तेग धरि गढ़ धरि के।'

—शिवा बावनी

भूषण ने न तो अन्य कवियों की भाँति अपने आश्रयदाता की प्रेम-

लीलाओं का वर्णन किया और न वे अपने समय की शृङ्गारिक प्रवृत्ति में पड़े। अनुकरण करने को उनके भाई ही मौजूद थे।

लाज के रक्षक

उन्होंने तो शिवाजी की विजयों को भी लौकिक महत्त्व नहीं दिया वरन् हिन्दू-धर्म रूपी द्रुपद-तनया के उद्धार का साधन समझा, सुनिए—

"जाहु जनि आगे खता खाहु मलि थारो,
गढ़नाह के डरन कहे खान यों बखान कै।
'भूषन' खुमान यह सो है जेहि पूना माँहि,
लाखन में सासता खां डार्यो बिन मान कै।
हिन्दुवान की द्रुपदी की ईजति बचैवे काज,
झपटि विराटपुर बाहर प्रमान कै।
वहै है सिवाजी जेहि भीम ह्वै, अकेले मार्यो,
अफजल कीचक को कीच घमसान कै।"

—भूषण ग्रन्थावली ३३७

शिवाजी और औरंगजेब का बैर अकारण न था। वह इसलिए नहीं था कि वह मुसलमान था वरन् उसने हिन्दुओं को स्वधर्म में नहीं रहने दिया था—'खेद डारे देवी देव सहा मुहल्ला बाँके लाखन तुरुक कीन्हें छूटि गई तबकी। भूषन भनत भागो कासीपति विश्वनाथ······चारों वरन धर्म्म छाँड़ि, कलमा निवाज पढ़ि शिवाजी न होतो तौ सुनति होत सबकी।'

बैर का कारण

—शिवा-बावनी ३२

"कासी हू की कला जाती मथुरा मसीद होती,
शिवाजी न होतो तौ सुनत होत सबकी।"

—शिवा-बावनी ३३

हिन्दुओं की ही दुर्गति न थी उसने अपने परिवार के लोगों के साथ भी अन्याय किया था।

"किबले की ठौर बाप बादसाह साहजहाँ,
ताको कैद कियो मानो मक्के आगि लाई है।
बड़ो भाई दारा वाको पकरि कै कैद कियो,
मेहर हू नाहिं माँ को जायो सगो भाई है।
बन्धु तौ मुरादबक्स बादि चूक करिबे को,
बीच दै कुरान खुदा की कसम खाई है।
'भूषन' सुकवि कहै सुनौ नवरंगजेब,
एते काम कीन्हे फेरि पातसाही पाई है॥"
—शिवा-बावनी १४

भूषण ने शिवराज की प्रशंसा इसलिए की थी कि उन्होंने—'राजन की हद राखी तेग बल सिवराज देव राखे देवल स्वधर्म राख्यो घर में।"

भूषण ने अपने नायक की हवाई प्रशंसा नहीं की जो नाम बदल देने मात्र से किसी पर लागू हो सकती है। भूषण ने जो शिवाजी की प्रशंसा की है उसमें इतिहास अनुस्यूत है! सर जदुनाथ सरकार किन केड, चिट नीस जैसे इतिहासज्ञों ने भूषण से सामग्री ग्रहण की है। उस समय के प्रसिद्ध राजवंश, विख्यात गढ़ जैसे—बीजापुर, गोलकुण्डा, रामगढ़ आदि उस समय के गण्यमान्य सेनानायकों, जैसे आदिलशाह, अफजल खाँ, कारतलब खाँ, साइस्ता खाँ आदि आदि और ऐतिहासिक रणस्थलों का जैसे—सलहेरि, बीजापुर आदि का जैसा यथातथ्य वर्णन किया है वैसा, अन्य किसी कवि ने नहीं किया।

इतिहास की अनुकूलता

भूषण की यह विशेषता रही है कि उनके काव्य में इतिहास की अनुकूलता के साथ-साथ निर्देशित अलंकार का पूरा-पूरा निर्वाह हुआ है। उन्होंने जहाँ शत्रुओं की स्त्रियों का वर्णन किया है वहाँ यमक की चाह में थोड़े अनुदार हो गए हैं—'तीन बेर खातीं सो बीन बेर खातीं' —(शिवा-बावनी ८)।

अलङ्कारों का निर्वाह

किन्तु अधिकांश में मर्यादा का निर्वाह किया है। प्रतिनायक को हमेशा महत्ता दी है। यदि शिवाजी को 'सिंह' कहा है तो औरंगजेब को गजराज कहा है। एक स्थान में बिलकुल बराबर ही कह दिया है—

"सिंह की सिंह चपेट सहै गजराज
सहै गजराज को धक्का।"

—भूषण ग्रन्थावली १३३

भूषण की भाषा वीर रस के अनुकूल ही ओजमयी है। उसमें वीर साक्षात् मूर्तिमान हो जाता है। मालोपमा का उदाहरण ओजमयी भाषा लीजिए। इसमें जो व्यंजना है वह यही है कि शिवराज अन्धकार और अन्याय की शक्तियों पर विजय पाने आये थे।

"इन्द्र जिमि जंभ पर, बाड़व सुअम्भ पर,
रावन सदंभ पर, रघुकुलराज हैं।
पौन बरिबाह पर, संभु रतिनाह पर
ज्यों सहस्रबाहु पर राम द्विजराज हैं॥
दावा द्रुम-दंड पर, चीता मृग-झुण्ड पर,
'भूषन' वितुण्ड पर जैसे मृगराज हैं।
तेज तम-अंस पर, कान्ह जिमि कंस पर
त्यों मलिच्छ-बंश पर सेर सिवराज हैं॥"

(आल इण्डिया रेडियो दिल्ली पर प्रसारित एक वार्त्ता के आधार पर परिवर्द्धित।)

२३

सेनापति का प्रकृति-चित्रण

कविता हमारा शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कराती है। शेष सृष्टि में हम ही से हाड़-मांस-चाम के शरीर से आच्छादित चेतन और सुख-दुख, प्रेम, दया, क्रोध, आशा-निराशा की भावदशा से आन्दोलित और आकर्षण-विकर्षण और तटस्थ भाव के पात्र-स्वरूप मनुष्य आते हैं और उन्हीं के साथ सौम्य और विकराल रूपों में नित्य परिवर्तनशील

मानव और प्रकृति

वह प्रकृति जो हमारी क्रीडास्थली ही नहीं वरन् बहुत अंश में हमारी सहचरी भी दृष्टिगोचर होती है। साहित्य में भावों का प्राधान्य होने के कारण उसका मुख्य विषय तो मानव ही है किन्तु प्रकृति की भी उपेक्षा नहीं की जाती। बिना प्रकृति की रंगस्थली के मानव-समाज का नाटक अधूरा रहता है। इसलिए काव्य में प्रकृति का वर्णन मानव-क्रिया-कलाप की पृष्ठ-भूमि के रूप में तो होता ही है किन्तु कभी-कभी हम उस रंग-स्थली से मानव को अलग कर स्वयं उसकी ही शोभा से आकर्षित हो उसका वर्णन करने लगते हैं। पहले प्रकार के वर्णन को साहित्यशास्त्र की पारिभाषिक भाषा में उद्दीपन रूप से वर्णन करते हैं, और दूसरे प्रकार के विवरण को आलम्बन रूप से करते हैं। यह बात माननी पड़ेगी कि प्रकृति में मनुष्य का-सा ही आकर्षण और विकर्षण है। उसमें मानवी भावों के आरोप की भी पात्रता है। अति प्राचीन काल में तो मनुष्य उसमें मनोवेगों का आरोप ही नहीं करता था वरन् उसको दृढ़ विश्वास था कि उसके उग्र और सौम्य-रूप मनुष्य के से मनोरागों से प्रेरित हैं। दार्शनिक लोग भी उसमें उसी आध्यात्मिक सत्ता से ओत-प्रोत देखते हैं जो मनुष्य को भी अनुप्राणित और अनुशासित कर रही है। कवियों ने उसका वर्णन कभी तो शुद्ध सौन्दर्योपासक

के नाते उसके प्राकृतिक रूप में और कभी उसमें मानवीकरण करके किया।

संस्कृत कवियों का ध्यान प्रकृति की ओर कुछ अधिक गया है। उसका कारण भी है तपोवनों तथा हिन्दू धार्मिक जीवन के नित्य-कर्मों में हिन्दुओं का प्रकृति के साथ सहज सम्पर्क रहा है। संस्कृत कवियों के प्राकृतिक वर्णन बड़े उत्कृष्ट हैं किन्तु उनके वर्णन भी प्रकृति के उद्दीपनत्व से खाली नहीं। भवभूति के अधिकांश वर्णन जैसे—'एते ते एव गिरयो विरुवन्मयूरास्तान्येव मत्तहरिणानि आदि पूर्वानुभूति सुखों के साक्षीरूप होकर सम्बन्ध ज्ञान से उनकी स्मृति हरी कर देते हैं। कालिदास का 'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नागाधिराजः' वाले प्रसिद्ध श्लोक से आरम्भ होने वाला हिमालय का वर्णन बहुत मनोरम है किन्तु वहाँ हिमालय का वर्णन पार्वती-जनक के शरीर रूप में ही है, उसको मानवीकरण कहना तो ठीक न होगा क्योंकि कालिदास के मन में आरोप भावना न थी। वह वर्णन मानव या देवरूप में ही हुआ है। अठारहवें श्लोक में ही प्रकृति-चित्रण का पर्दा उठ जाता है, और मानव-का-सा चेतन-व्यापार आरम्भ होता है—पर्वतराज का विवाह हो जाता है—'मेनां मुनीनामपि माननीयामात्मानुरूपां विधिनोपयेमे।' वाल्मीकि आदि के वर्णन भी बहुत सुन्दर हैं किन्तु वे सब प्रसङ्गागत हैं। यह बात अवश्य माननी पड़ेगी कि संस्कृत कवियों के वर्णन विशुद्ध प्रकृति-प्रेम से प्रेरित न होते हुए भी प्रकृति से सूक्ष्म और सीधे सम्पर्क के द्योतक हैं। मानव अपने से बच नहीं सकता और यदि संस्कृत कवियों में प्रकृति का वर्णन मानव-सम्पर्क से ही कहा जाय तो उनकी कुछ गौरव-हानि नहीं होती।

रीतिकाल का प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण

विलास-वैभव की प्राचीन काल में भी कमी न थी किन्तु हिन्दुओं की धार्मिकता विशेषकर सरस्वती के उपासकों में प्रकृति से सम्पर्क बनाये रखती थी। मुसलमानी सभ्यता ने प्रकृति से सीधा सम्पर्क कुछ कम कर दिया था और विलास-वैभव की वैज्ञानिक व्यवस्था-सी हो चली थी। हमारे रीतिकाल के कवियों ने उसी वातावरण में आँखें खोली

थीं। उनको साहित्यशास्त्र का पाण्डित्य तो पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त हुआ ही था।

हार की मनोवृत्ति में दो ही बातें होती हैं—(१) अपनी श्रेष्ठता किसी दूसरे क्षेत्र में दिखाना, पूर्वजों का गुणगान करना तथा उनके पुण्य-प्रताप के बल-भरोसे भविष्य के स्वप्न देखना। (२) अथवा हास-विलास की मदिरा के प्याले में अपने दुख को डुबा देना। सेनापति भक्तिकाल और रीतिकाल के सन्धिकाल के कवियों में से हैं। इसीलिए उनमें धार्मिक और शृङ्गार और अलङ्कारप्रियता की उभयपक्षी मनोवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं—एक का परिस्फुटन रामभक्ति-सम्बन्धिनी कविताओं में हुआ, दूसरी का श्लेष-वर्णन, शृङ्गार-वर्णन और ऋतु-वर्णन सम्बन्धी रचनाओं में।

सेनापति ने ऋतु-वर्णन चार प्रकार से किया है। (१) उद्दीपन रूप से। (२) श्लेषादि आलङ्कारिक चमत्कार दिखलाने के लिए। (३) मानवीकरण करके। (४) आलम्बन रूप से। इनमें उद्दीपन रूप की प्रधानता है।

उद्दीपन रूप से वर्णन

अन्य उद्दीपनों की भाँति शृंगार के भी उद्दीपन दो प्रकार के होते हैं—एक मानवी और दूसरे प्राकृतिक या दैवी। मानवी उद्दीपनों में मुस्कराहट, भ्रूभङ्ग, गीत, वाद्य, दूती आदि प्राकृतिक में चंदन, चाँदनी, चोया, यमुनापुलिन, वंशीवट आदि। केशव ने तो मानवी उद्दीपन ही लिये हैं। मतिराम ने प्राकृतिक उद्दीपनों को इस प्रकार गिनाया है—

> "चन्द्र कमल चन्दन अगर, ऋतु बन बाग विहार।
> उद्दीपन शृङ्गार के, ये उज्ज्वल शृङ्गार॥"

सेनापति ने इनमें ऋतुओं को विशेष महत्त्व दिया है। सभी कवि इसको किसी-न-किसी अंश में महत्ता देते हैं। इसको आचार्यों ने (केशव ने भी कविप्रिया में) वर्ण्य विषयों में मानकर कवि कर्म का अंग समझा है। ऋतुओं का सम्बन्ध शृंगार के संयोग वियोगात्मक दोनों पक्षों से है। सेनापति ने संयोग-पक्ष कुछ अधिक लिखा है। वियोग-पक्ष भी अछूता नहीं है।

यह विशेषरूप से कृष्ण-सम्बन्धी पदों में दिखाई देता है। सेनापति

संयोग-पक्ष के संयोग-सम्बन्धी छन्दों का ऋतु वर्णन तत्कालीन विलास-वैभव की समाज से प्रभावित हैं। देखिए—

"प्रात उठि न्हाइबे कौं, तेलहि लगाइबे कौं,
मलि-मलि न्हाइबे कौं गरम हमाम है।
ओढ़िबे कौं साल, जे बिसाल हैं अनेक रंग,
बैठिबे कौं सभा, जहाँ सूरज कौं घाम है।।
धूप कौं अगर, सेनापति सोंधौ सौरभ कौं,
सुख करिबे की छिति अन्तर कौं धाम है।
आये अगहन, हिम-पवन चलन लागे,
ऐसे प्रभु लोगन कौं होत बिसराम है।।"

अब जरा ग्रीष्म-सम्बन्धी विलास-वैभव का चित्र देखिए—

"सुन्दर बिराजैं राज-मंदिर सरस, ताके
बीच सुख-दैनी, सैनी[1] सीरक उसीर की।
उछरैं सलिल, जल-जंत्र ह्वै बिमल उठैं,
सीतल सुगन्ध मन्द लहर समीर की।
भीने हैं गुलाब तन सने हैं अरगजा सौं,
छिरकी पटीर[2] नीर टाटी तीर-तीर की।
ऐसे बिहरत दिन ग्रीषम के बितवत,
सेनापति दम्पति मया तें रघुबीर की।।"

इसमें सेनापति ने शृङ्गार और वैभव-प्रियता के साथ रघुबरोपासना का भी परिचय दे दिया है। ऋतु वर्णन के इन चित्रों में ऋतुओं की कठिनाइयों पर विजय पाने के मानवकृत साधनों की प्रधानता है। सेनापति के मानवी वैभव के साज-सामान से स्वतन्त्र प्रकृति के वर्णन बड़े आकर्षक हैं, इनमें आलम्बनत्व की प्रधानता है। वर्षा का वर्णन देखिए—

---

१. श्रेणी। २. चन्दन।

"बरसत घन, गरजत सघन, दामिनि दिपै अकास ।
तपति हरी, सलफी करी, सब जीवन की आस ॥
सब जीवन की आस, पास नूतन तिन अनगन ।
सोर करत पिक-मोर, रटत चातक बिहंग गन ॥
गगन छिपे रबि-चन्द, हरष सेनापति सरसत ।
उमगि चले नद-नदी, सलिल पूरन सर बरसत ॥"

सेनापति की व्यापक दृष्टि सम्पन्न प्रभु लोगों तक ही सीमित नहीं रही वरन् जाड़ों में विशेष कष्ट उठाने वाले गरीब लोगों पर भी पड़ी है। देखिए—

"धूम नैनं बहैं, लोग आगि पर गिरे रहैं,
हिए सौं लगाई रहैं नैंक सुलगाइ कै।"

और लीजिए—

"आयौ जोर जड़कालौ, परत प्रबल पालौ,
लोगन कौं लालौ पर्यौ, जियैं कित जाइ कै।
ताप्यौ चाहैं बारि कर, तिन न सकत टारि,
मानौं हैं पराए, ऐसे भए ठिठराइ कै॥"

जो लोग शीत-काल में सुबह के वक्त कुछ काम करने को बाहर निकलते हैं वे सेनापति के सूक्ष्म निरीक्षण की दाद दिये बिना न रहेंगे।

संयोग के सुख की बातें कहीं-कहीं अश्लीलता की कोर तक पहुँच गई हैं।

वियोग-पक्ष

परम्परा के अनुसार वियोग शृंगार के अन्तर्गत ऋतु-वर्णन प्रायः गोपियों से सम्बन्धित है। कहीं, तमाल, रसाल आदि वृक्ष कुछ तो रूप-सादृश्य के कारण और कुछ पूर्वानुभूत सुखों के साह्चित्व के कारण विरह-वेदना को तीव्र कर देते हैं। देखिए—

"केतकि, असोक, नव चम्पक, बकुल कुल,
कौन धौं बियोगिनी कौं ऐसो बिकराल है।

सेनापति साँवरे की, सूरति की सुरति की,
सुरति कराइ करि डारत बिहाल है ।
× × ×
लाल है प्रबाल फूले देखत बिसाल, जऊ
फूले और साल पै रसाल उरसाल है ॥"

ऋतुओं का उद्दीपन से वर्णन अस्वाभाविक नहीं है । ऋतुओं का हमारे मन पर प्रभाव पड़ता है और मन का प्रभाव उनकी सौन्दर्यानुभूति में बाधक या साधक होता है । प्रकृति का उद्दीपन या आलम्बन रूप से वर्णन तभी हास्यास्पद हो जाता है जब उसमें कोरा शाब्दिक चमत्कार रह जाता है । ऐसे चमत्कार केशव में बहुतायत से हैं । सेनापति में उनकी कमी नहीं है किन्तु उनके छन्दों में शाब्दिक चमत्कार के साथ बिम्ब-ग्रहण भी पर्याप्त मात्रा में है । उनके वर्णन वास्तविकता लिये हुए हैं ।

श्लेष-चमत्कार

वैसे तो सेनापति ने स्थान-स्थान पर अलंकारिक चमत्कार दिखलाया है किन्तु कुछ छन्दों में वह विशेष रूप से प्रकट होता है, इसीलिए उनके कुछ छन्द श्लेष-सम्बन्धिनी पहली और ऋतु-वर्णन-सम्बन्धिनी तीसरी तरंग में समान रूप से पाये जाते हैं । एक में तो स्वयं सेनापति ही अपनी कविता की तारीफ किये बिना नहीं रह सके हैं, देखिए—

"देखें छिति अम्बर जलै है चारि ओर छोर,
तिन तरवर सब ही को रूप हर्‌यो है ।
× × ×
देखौ चतुराई सेनापति कविताई की जु,
ग्रीषम विषम वर्षा की सम कर्‌यो है ।"

'जलै' (जलता है, और पानी) और 'हर्‌यो' (हर लिया और हरा) के श्लेष चमत्कार के आधार पर ग्रीष्म और वर्षा की समानता स्थापित की गई है । इसमें कविता की चतुराई ही चतुराई है ।

सेनापति में शाब्दिक चमत्कार है किन्तु वह चमत्कार जब उनके कथन

की पुष्टि के रूप में आता है तब वह निरर्थक नहीं रहता है। देखिए नीचे के छन्द में शाब्दिक चमत्कार के साथ ज्योतिष की जानकारी चमत्कार को और भी चमका देती है।

"और की कहा है, सबिता हू सीत रितु जानि,
सीत कौं सतायो धन रासि में परत है।"

श्लेष के चमत्कार के साथ सेनापति ने यत्र-तत्र अतिशयोक्ति का भी सहारा लिया है किन्तु उनकी अतिशयोक्तियाँ कुछ-कुछ वास्तविकता का सहारा लिये हुए हैं। देखिए—

"कलप-सी राति, सो तौ सोए न सिराति क्योंहू,
सोइ सोइ जागे पै न प्रता पेखियत है।
सेनापति मेरे जान दिन हू तें राति भई,
दिन मेरे जान सपने में देखियत है॥"

दिन की बड़ाई का जो वर्णन उन्होंने किया है यह और भी सुन्दर है—

"सोई जागे जानै दिन दूसरो भयो है,
काल्हि की-सी करी भोरें भोर की कहत है।"

मानवीकरण

प्रकृति के मानवीकरण में प्रकृति के साथ मानव की भी प्रधानता रहती है। सेनापति में प्रकृति के मानवीकरण का कार्य कल्पना और शब्द-साम्य के कारण सहल हो गया है। बसन्त का यह रूप देखिए—

"धर्यौ है रसाल मौर सरस सिरस रुचि,
ऊँचे सब कुल मिले गनत न अन्त है।"

× × ×

"सेनापति धुनि द्विज साखा उच्चरत देखौ,
बनी दुलहिन बनी, दूलह बसन्त है॥"

आलम्बन रूप के वर्णनों के कुछ उदाहरण आ चुके हैं। ऋतुओं के

आलम्बन रूप के वर्णन

वर्णनों में कहीं तो उद्दीपनता स्पष्ट कर दी गई है और कहीं उसका लेश मात्र को भी उल्लेख नहीं है। वहाँ उद्दीपनत्व व्यञ्जित हो सकता है किन्तु हम उनको आलम्बन रूप से भी कह सकते हैं और वे अधिकांश में हैं भी। ऐसे ही वर्णनों में शुद्ध प्रकृति का ही रूप दिखाई देता है। सेनापति के वर्णन में हम को सूक्ष्म निरीक्षण और बिम्ब-ग्रहण तथा संश्लिष्ट योजना की शक्ति का परिचय मिलता है। वे सभी प्रकार के बादलों को एक लाठी से नहीं हाँकते। सावन और कुआर की वर्षा के बादलों का भेद नीचे के छन्दों में स्पष्ट है। श्रावण के बादलों की घटा काली और मण्डलाकार होती है तो क्वार के बादल जल से रिक्त, श्वेत और छिन्न-भिन्न होते हैं—सेनापति ने दोनों ही चित्र दिये हैं।

"सेनापति उनए नए जलद सावन के,
चारि हू दिसान घुमरत भरे तोइ कै।
सोभा सरसाने, न बखाने जात काहू भाँति,
आने हैं पहार मानौं काजर के ढोइ कै॥
घन सौं गगन छयौ, तिमिर सघन भयौ,
देखि न परत मानौं रबि गयौ खोइ कै।
चारि मास भरि स्याम निसा के भरम करि,
मेरे जान याही तैं रहति हरि सोइ कै॥"

इसके क्वार के बादलों की छटा की तुलना कीजिए—

"खंड खंड सब दिग-मंडल जलद सेत,
सेनापति मानौं सृङ्ग फटिक पहार के
अंबर अडंबर सौं उमड़ि घुमड़ि, छिन
छिछकै छछारे छिति अधिक उछार के॥
सलिल सहल मानौं सुधा के महल नभ,
तूल के पहल किधौं पवन अधार के।
पूरब कौं भाजत हैं, रजत से राजत हैं,
गग गग राजत गगन घन क्वार के॥"

इन दोनों वर्णनों में यद्यपि तुलनात्मक विरोध दिखाई देता है। एक जगह काजल के पहाड़ हैं तो दूसरी जगह स्फटिक के। तूल के महल में रूप और गुण साम्य पूरा-पूरा है। सावन में बादल छा जाते हैं और क्वार के खण्ड-खण्ड दिखाई देते हैं। सावन के बादलों को स्पष्ट रूप से भरे तोइ के कहा गया है। 'आने हैं पहार मानौं काजर के ढोइ कै'। ढोइ के क्रिया उनके बोझिलपने के अनुकूल है। क्वार के बादलों को 'पूरब कौं भाजत' कहा है। भाजना उनकी जल-शून्यता के अनुकूल क्रिया है।

इन वर्णनों से सेनापति के ऋतु-वर्णन की तीन विशेषताएँ स्पष्ट हो जाती हैं—

विशेषताएँ

(१) सेनापति के वर्णन अधिकांश में उद्दीपन रूप से हैं किन्तु आलम्बन के वर्णनों का अभाव नहीं है।

(२) इन वर्णनों में सूक्ष्म निरीक्षण के साथ बिम्ब-ग्रहण और संश्लिष्ट योजना है। इनमें केशव-का-सा परिगणन-मात्र नहीं है।

(३) ये वर्णन कल्पना से रंगीन और अलंकारों से सुसज्जित हैं। अलंकार और विशेषकर श्लेष तो सेनापति की विशेषता है ही लेकिन उन्होंने कल्पना की भी ऊँची उड़ान ली है। वर्षा के चार महीने देवताओं के सोते रहने की काव्यमय व्याख्या हम पहले ही देख चुके हैं—**'चारि मास भरि स्याम निसा के भरम करि, मेरे जान याही तैं रहत हरि सोइ कै'** कहने से वर्षा ऋतु के तमाधिक्य का सजीव चित्र उपस्थित हो जाता है। नल के पानी के ऊँचे उठने के सम्बन्ध में कवि की उत्प्रेक्षा देखिए—

> **"ऊरध गमन बारि, ताकी छबि कौं निहारि,**
> **सेनापति कछू बरनन कौं करत है।**
> **मति कोउ लरु बिनु सीच्यौं रहि गयौ होइ,**
> **ताहि फेरि सींचौं यह जीय मैं धरत है॥**
> **याते मानौं जल, जल-जंत्र के कपट करि,**
> **बाग देखिबे कौं ऊपर कौं उछरत है।"**

इस प्रकार हम देखते हैं कि सेनापति ने प्रकृति-वर्णन में केशव-का-सा

वर्णनों में कहीं तो उद्दीपनता स्पष्ट कर दी गई है और कहीं उसका लेश मात्र को भी उल्लेख नहीं है। वहाँ उद्दीपनत्व व्यञ्जित हो सकता है किन्तु हम उनको आलम्बन रूप से भी कह सकते हैं और वे अधिकांश में हैं भी। ऐसे ही वर्णनों में शुद्ध प्रकृति का ही रूप दिखाई देता है। सेनापति के वर्णन में हम को सूक्ष्म निरीक्षण और बिम्ब-ग्रहण तथा संश्लिष्ट योजना की शक्ति का परिचय मिलता है। वे सभी प्रकार के बादलों को एक लाठी से नहीं हाँकते। सावन और कुआर की वर्षा के बादलों का भेद नीचे के छन्दों में स्पष्ट है। श्रावण के बादलों की घटा काली और मण्डलाकार होती है तो क्वार के बादल जल से रिक्त, श्वेत और छिन्न-भिन्न होते हैं—सेनापति ने दोनों ही चित्र दिये हैं।

आलम्बन रूप के वर्णन

"सेनापति उनए नए जलद सावन के,
चारि हू दिसान घुमरत भरे तोइ कै।
सोभा सरसाने, न बखाने जात काहू भाँति,
आने हैं पहार मानौं काजर के ढोइ कै॥
घन सौं गगन छयौ, तिमिर सघन भयौ,
देखि न परत मानौं रबि गयौ खोइ कै।
चारि मास भरि स्याम निसा के भरम करि,
मेरे जान याही तें रहति हरि सोइ कै॥"

इसके क्वार के बादलों की छटा की तुलना कीजिए—

"खंड खंड सब दिग-मंडल जलद सेत,
सेनापति मानौं सृङ्ग फटिक पहार के
अंबर अडंबर सौं उमड़ि घुमड़ि, छिन
छिछकै छछारे छिति अधिक उछार के॥
सलिल सहल मानौं सुधा के महल नभ,
तूल के पहल किधौं पवन अधार के।
पूरब कौं भाजत हैं, रजत से राजत हैं,
गग गग राजत गगन घन क्वार के॥"

इन दोनों वर्णनों में यद्यपि तुलनात्मक विरोध दिखाई देता है। एक जगह काजल के पहाड़ हैं तो दूसरी जगह स्फटिक के। तुल के महल में रूप और गुण साम्य पूरा-पूरा है। सावन में बादल छा जाते हैं और क्वार के खण्ड-खण्ड दिखाई देते हैं। सावन के बादलों को स्पष्ट रूप से भरे तोइ के कहा गया है। 'आने हैं पहार मानौं काजर के ढोइ कैं'। ढोइ के क्रिया उनके बोझिलपने के अनुकूल है। क्वार के बादलों को 'पूरब कौं भाजत' कहा है। भाजना उनकी जल-शून्यता के अनुकूल क्रिया है।

इन वर्णनों से सेनापति के ऋतु-वर्णन की तीन विशेषताएँ स्पष्ट हो जाती हैं—

विशेषताएँ (१) सेनापति के वर्णन अधिकांश में उद्दीपन रूप से हैं किन्तु आलम्बन के वर्णनों का अभाव नहीं है।

(२) इन वर्णनों में सूक्ष्म निरीक्षण के साथ बिम्ब-ग्रहण और संश्लिष्ट योजना है। इनमें केशव-का-सा परिगणन-मात्र नहीं है।

(३) ये वर्णन कल्पना से रंगीन और अलंकारों से सुसज्जित हैं। अलंकार और विशेषकर श्लेष तो सेनापति की विशेषता है ही लेकिन उन्होंने कल्पना की भी ऊँची उड़ान ली है। वर्षा के चार महीने देवताओं के सोते रहने की काव्यमय व्याख्या हम पहले ही देख चुके हैं—'चारि मास भरि स्याम निसा के भरम करि, मेरे जान याही तैं रहत हरि सोइ कैं' कहने से वर्षा ऋतु के तमाधिक्य का सजीव चित्र उपस्थित हो जाता है। नल के पानी के ऊँचे उठने के सम्बन्ध में कवि की उत्प्रेक्षा देखिए—

"ऊरध गमन बारि, ताकी छबि कौं निहारि,
सेनापति कछू बरनन कौं करत है।
मति कोउ तरु बिनु सींच्यौ रहि गयौ होइ,
ताहि फेरि सींचौं यह जीय मैं धरत है॥
यातें मानौं जल, जल-जंत्र के कपट करि,
बाग देखिबे कौं ऊपर कौं उछरत है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि सेनापति ने प्रकृति-वर्णन में केशव-का-सा

कवि-कर्तव्य का पालन-मात्र ही नहीं किया है वरन् उनका हृदय इस कार्य में रमा है। उन्होंने शाब्दिक चमत्कार का आश्रय लिया अवश्य है किन्तु वे उसमें फँस नहीं गए हैं। शाब्दिक चमत्कार के बल पर उन्होंने उपवन नहीं रचे हैं। वे सेब और बेर शब्द मात्र लाकर प्रकृति-वर्णन की इतिकर्तव्यता नहीं समझ बैठते और न वे अर्जुन भीम के शब्द साम्य के आधार पर पंचवटी को पाण्डवों की प्रतिमा बना देते हैं—**'पांडव की प्रतिमा सम लेखो, अर्जुन भीम महामति देखो'**। न वे **'एला ललित लवंग पुंगीफल सोहैं'** कह कर नाम-परिगणन की प्रवृत्ति में पड़ते हैं। यदि ऐसा करते भी हैं तो अपने वस्तु-वर्णन को अलंकृत करने के लिए उनके नामों के पीछे वस्तुएँ रहती हैं। केशव ने रसिकप्रिया में तो ऋतु-वर्णन किया ही नहीं। कविप्रिया में जो वर्णन किये वे श्लेष प्रधान हैं। श्लेष में दो पक्षों को सम महत्त्व मिलने से दोनों का महत्त्व कम हो जाता है साथ ही उसमें उल्लास के स्थान में प्रयास दिखाई देता है।

तुलना

सेनापति ने लुओं का वर्णन किया है किन्तु ग्रीष्म के ही समय वर्णन में, बिहारी की भाँति माह-पूस में नहीं। कुछ वर्णनों में जैसे जेठ की दुपहरी के वर्णन में **'छाहौं चाहति छाँह'** पावस के रातद्यौस के अभेद में और पूस के दिनमान वर्णन में **'घरहि जँवाई लौं घट्यौ पूस दिनमान'** में बिहारी के वर्णन उनके से ही हैं। बिहारी में कहीं-कहीं चमत्कार का आधिक्य है किन्तु पूर्ववर्ती होने के कारण सेनापति को अधिक श्रेय दिया जायगा। सेनापति ने भी जायसी की भाँति प्रकृति को मानवी रूप दिया है किन्तु उसे बात-बात में मानव के साथ रुलाया-हँसाया नहीं। सेनापति के वर्णन जायसी और बिहारी की भाँति सिद्ध नहीं है वरन् वे उत्प्रेक्षा द्वारा सम्भावित मात्र है। वसन्त के मानवीकरण में जितना चमत्कार और निरीक्षण-कौशल विद्यापति ने दिखलाया है उतना सेनापति में नहीं है। वसन्त के जन्मोत्सव में धतूरे के फूल को शंख बजाने वाला कह कर विद्यापति ने अपने सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय दिया है, देखिए—**'कालहरकार धतूरा, नागकेशर,**

'कलि संख धुनि पूर'। सेनापति की कुछ उद्भावनाओं में विद्यापति की छाया भी दिखाई पड़ती है। 'आछे अलि अच्छा' और 'मधुकर माला आखर पांति' में बहुत कुछ साम्य है यह आकस्मिक ही हो किन्तु इसको देखकर हमारा मन इस अनुमान की ओर अवश्य दौड़ता है कि सेनापति ने विद्यापति की छाया ग्रहण की किन्तु इतने से सेनापति का मान नहीं घटता, फिर भी यह कहा जायगा कि प्रकृति-वर्णन में वे अद्वितीय हैं।

२४

भारतेन्दुजी का प्रकृति-वर्णन

भारतेन्दुजी पर भक्ति-काल और रीति-काल दोनों ही के प्रभाव थे, इस कारण उनका प्रकृति-चित्रण भी दोनों ही प्रवृत्तियों से प्रभावित है।

दोनों प्रभाव उन्होंने जहाँ कृष्ण-भक्ति में 'ब्रज की लता-पता मोहिं कीजै' की अभिलाषा प्रकट की है और जहाँ 'तरनि-तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाये। झुके कूल सों जल परसन हित मनहु सुहाये।।' द्वारा जमुना जी का स्तवन किया, वहाँ होली, वर्षा आदि के प्रसंग में उन्होंने प्रकृति का उद्दीपन रूप से वर्णन किया है। संयोग की चाँदनी रात में जमुना तीर का विहार और होली लीला अत्यंत सुखद बन जाती है। उनकी उपस्थिति जुगल जोड़ी का हर्षोल्लास और भी बढ़ा देती है। देखिये—

"आजु हरि खेलत रस-भरि सँग वृषभान-किसोरी।
पूनौ निसि डहडह उँजयारी बाँह बाँह में जोरी।।"

वही विरह-दशा में बसंत के सुहावने दृश्य भी पलाश बन में आग लगा देते हैं—

"बन में आग लगी है, फूले देखु पलास।
कैसे बचि है बाल वियोगिन देखि बसंत-विलास।।"

उद्दीपन रूप में वर्षाकालीन उद्दीपनों से विरह की विषम वेदना के बढ़ने का चित्र देखिये। इसको पढ़कर भ्रमर-गीत की गोपियों का विरह-वर्णन स्मरण हो आता है—

"हरि बिनु कारी बदरिया छाई।
बरसत घेरि-घेरि चहुँ दिसि तें दामिनि चमक अनाई।।"

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने और ऋतुओं का भी उद्दीपन रूप से वर्णन किया है। शिशिर ऋतु में विकसित फूलों की पृष्ठभूमि में राधा-कृष्ण के सुखद विहार का चित्र देखिये। इसमें जो फूल गिनाये गये हैं, वे ऋतु के अनुकूल ही हैं और भारतेन्दुजी के सूक्ष्म प्रकृति-निरीक्षण का परिचय देते हैं। देखिये—

"ऋतु सिसिर सुखद अति ही सुदेस। सूचित बसंत आवो प्रवेस ॥
मुकुलित कचनार मुठौर ठौर। बन दरसायें नव बौर बौर ॥
कहुँ-कहुँ पिक बोलें बैठि डार। मनु रितुपति के नव चोबदार ॥
चलि पवन सुखद छवि कहि न जाय। रहे जल लहराय आनंद बढ़ाय ॥
फूली अति ही सरसों सुहात। मानो मिलि मदन बसंत गात ॥
गेंदा फूले सब डार डार। मनु पाग पहिर ठाढ़ी कतार ॥
गूँजे भँवरा सब झोर झोर। आवेस भयो तन मदन-जोर ॥
लखि बिहरत जुगल लजाय मार। 'हरिचंद' हरषि गाई बहार ॥"

सूर की छाया

सूर की गोपियों की भाँति हरिश्चंद्र ने भी ब्रज की गोपिकाओं के नेत्रों से वर्षा की झड़ी लगवा दी है। इसको सूरदासजी के 'निस दिन बरसत नैन हमारे' वाले पद की याद आती है। देखिये—

"मो मन स्याम घटा-सी छाई।
बरसत है इन नैनन के मग, पिय बिनु बरसा आई ॥"

शिशिर और बसंत ऋतु का अलंकारिक रूप से भी भारतेन्दु ने अपनी एक राष्ट्रीय होली में वर्णन किया है—

"भई पतझार तत्व कहुँ नाहीं, सोई बसंत प्रगटो री।
पीरे मुख भई प्रजा दीन ह्वै, सोई फूली सरसों री ॥"

भक्ति-भावना से प्रेरित होकर जुगल-केलि-थल वृन्दाबन के संबन्ध में उन्होंने कहा है—

"षट ऋतु जहाँ रहें कर जोरी।"

उनके प्रकृति-चित्रण में हमको फूलों के नाम-परिगणन के साथ-साथ संश्लिष्ट योजना ही आचार्य शुक्ल जी के शब्दों में 'संश्लिष्ट योजना' की भी प्रकृति दिखाई पड़ती है। देखिये—

"जाही जुही केतकी कुरवक बकुल गुलाब निवारी।
फूले फूल अनेकन लपटत लहरत केसर क्यारी॥
लपटी लता तरोवर सों बहु फूलि फूलि मन भाई।
मनु मंडप में दुलहा दुलहिन रहे सेहरन लाई॥
कहुँ-कहुँ सघन तरोवर सों मिलि मंडल सुन्दर छायो।
पत्ररंध्र सों धूप चाँदनी मिलि कें लगत सुहायो॥"

इस छंद की अंतिम दो पंक्तियों में आचार्य शुक्ल जी के कथनानुसार—
"क्वचित्प्रकाशं क्वचिदप्रकाशं, नभः प्रकीर्णाम्बुधनं विभाति।"—
बाल्मीकि रामायण की उक्ति का आभास मिल जाता है। यहाँ पर पत्तों की छाया के बीच-बीच आये प्रकाश का वर्णन है। बाल्मीकि रामायण में बादलों के टुकड़ों के इकट्ठे और अलग हो जाने से जो प्रकाश और अप्रकाश का दृश्य उपस्थित हो जाता है, उसका वर्णन है।

आचार्य शुक्ल जी ने भारतेन्दु जी के ऊपर यह आरोप लगाया है—

शुक्ल जी का आरोप

"उन्होंने मनुष्य को सारी सृष्टि के बीच रखकर नहीं देखा; उसे उसी के उठाये हुए घेरे में रखकर देखा। मनुष्य की दृष्टि को उसके फैलाये हुए प्रपंचावरण से बाहर, प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र की ओर ले जाने का प्रयास उन्होंने नहीं किया।"

—'चिन्तामणि'

यद्यपि यह ठीक है कि 'नव उज्ज्वल जलधार हार हीरक सी सोहत' वाले गंगावर्णन में और 'तरनि-तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाये' वाले कालिंदी-वर्णन में वे शहरी घाटों के वातावरण को भुला नहीं सके थे, तथापि ऊपर दिये हुए उद्धरणों को देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि वे वनों की उन्मुक्त प्रकृति से प्रभावित नहीं हुए थे। शहर के वातावरण से

कवि का प्रभावित होना स्वाभाविक ही था। इसमें कोई लज्जा की बात भी नहीं, क्योंकि शहर भी तो 'शेष सृष्टि' के भीतर आते हैं, जिनसे 'रागात्मक सम्बन्ध' स्थापित करना कविता का पुनीत कार्य है किंतु यह कहना कि वे बँधे हुए घेरे से बाहर नहीं निकले, उनके साथ अन्याय होगा।

अलंकार विधान में

भारतेन्दुजी ने प्रकृति-चित्रण सूर की भाँति अलंकार-विधान में भी किया है और अन्योक्तियों में भी, वे प्रकृति के सुन्दर चित्र लाये हैं। अलंकार-विधान के तीन छोटे-छोटे उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

"मनु घन में घिरि दामिनि लपटी नीलहिं कंचन-बेली।
रस सिंगार में बिरह-लता सु तमालहिं पीत चमेली॥"

× × ×

"तापै फेंटा ललित लपेटा पँचरँग सोभित ऐसे।
साँवन साँझ विविध रँग बादर दामिनि चूमत जैसे॥"

× × ×

"आजु हरि-चंदन हरि-तन सोहै।
तरु तमाल पै साँझ धूप सम देखत तिहिं मन मोहै॥"

अलंकारों में प्रकृति-चित्रण का एक उदाहरण और देखिये—

"स्याम सरस मुख पर अति सोभित तनिक अबीर सुहाई।
नील कंज पर अरुन किरिन की मनहुँ परी परछाई॥"

दीपमालिका की दीप-प्रभा की भारतेन्दुजी ने शिशुमारचक्र (मगर के आकार का नक्षत्र समूह) से उत्प्रेक्षा दी है, जो बहुत फबती हुई है और उसमें उनके प्रकृति-सम्बन्धी विस्तृत ज्ञान का भी परिचय मिलता है। देखिये—

"मानो सिसमार चक्र उड़गन सह लसत गगन,
उदित मुदित पसरित दस दिसि उजालिका॥"

अन्योक्तियों के रूप में

दीनदयाल गिरि की तरह हरिश्चन्द्रजी ने उपदेशात्मक अन्योक्तियाँ तो कम लिखी हैं किंतु विरह-वर्णन में

प्राकृतिक दृश्यों का सहारा लेते हुए बड़ी सुन्दर अन्योक्तियाँ की हैं। उनमें से एक यहाँ दी जाती है—

"कबहुँक बागिन में, कुंजन निबारिन में,
इत उत बेलिन कों चौंक चितवत है।
कासन कपासन पै फिरत उदास कबौं,
पल्लवन बैठि-बैठि दिन रितवत है॥
'हरीचंद' बागन, कछारन, पहारन में,
जित तित पर्यो गुन नेह हितवत है।
सूखे-सूखे फूलन पै, तरुन मूलन पै,
मालती-बिरह औरि दिन रतवत है॥"

वर्णनों में स्वाभाविकता

साहित्य में पशु-पक्षी भी प्रकृति के अंग माने गये हैं। वे भी शेष सृष्टि के भाग हैं। भारतेन्दुजी ने गौओं, हरिणों तथा पक्षियों का अच्छा वर्णन किया है। गौओं पर मुरली का मोहक प्रभाव देखिए—

"लखौ सखि! इन गौवन कौ हाल।
ऐसी दसा पसुन की है जहँ हम तो हैं ब्रज-बाल॥
कृष्णचन्द्र के मुख सों निकसै जो बंसी की तान।
तो अमृत को पान करहिं ये ऊँचे करि-करि कान॥
बछरा थन मुख लाइ रहे नहिं, पीवत नहिं, तृन खात।
थन तें पय की धार बहत है, नैनन तें जल जात॥
इक टक लखत गोबिंदचंद कों, पलक परत नहिं नैन।
'हरीचंद' जहाँ पसु की यह गति, अबलन कों कित चैन॥"

'ऊँचे करि करि कान' और 'थन तें पय की धार बहत' में गौवों की प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय मिलता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रकृति-चित्रण के जितने प्रचलित प्रकार हैं, उन सबको भारतेन्दुजी ने सफलता से अपनाया है। आलम्बन रूप के चित्रण में रीति काव्य का अवश्य प्रभाव-सा है; वह प्रभाव अधिकांश

कवियों में है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि भारतेन्दुजी का प्रकृति-चित्रण भक्ति-काल और रीति-काल के कवियों-का-सा है। आजकल-का-सा-प्रकृति-चित्रण यदि भारतेन्दुजी में नहीं मिलता, तो इसको हम उनका दोष नहीं कह सकते हैं। कवि ने राष्ट्रीयता के क्षेत्र में पथ-प्रदर्शन किया उससे यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वह सभी क्षेत्रों में पथ-प्रदर्शन करता।

२५

भारतेन्दुजी की भक्ति-भावना और धार्मिक-विचार

यद्यपि भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने रीतिकाल के अवरुद्ध वातावरण में राज-भक्तिपूर्ण देश-भक्ति तथा समाज-सुधार के नये वातायन खोलकर हिन्दी साहित्य में एक नव प्राणद समीरण का संचार किया था

प्रभाव

तथापि वे स्वयं रीतिकाल और भक्तिकाल के प्रभावों से मुक्त न थे। किसी धारा की एक साथ इतिश्री नहीं हो जाती है। वह अपनी गति बिना अंजन के मालगाड़ी के डिब्बों की भाँति चलती ही रहती है। वह तो भारतेन्दु बाबू को साहित्यिक दाम प्राप्त हुआ, इसके अतिरिक्त उनके प्रेमी स्वभाव तथा उनके कुल की वैष्णवी परम्परा ने उनके हृदय में भक्ति-भावना को उद्दीप्त रखने में सहायता दी। उन्होंने अपनी उत्तरार्द्ध भक्तमाल में अपने पूज्य पिताजी को भी स्थान दिया है। उनके सम्बन्ध में वे लिखते हैं—

"गिरधरनदास कविकुल-कमल, वैश्यवंस भूषन प्रगट।
रामायन भागवत गरगसंहिता कथामृत॥
भाषा करि-करि रचे बहुत हरिचरित सुभाषित।
दान मान करि साधु भक्त मन मोद बढ़ायो॥
सब कुल-देवन मेटि एक हरि पन्थ दृढ़ायो।

—पृष्ठ २६५ पद १८८

गिरिधर भक्ति उनके रक्त-मज्जा का अंश बन गई थी।

भारतेन्दुजी वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित थे और वे अपनी सम्प्रदाय के सच्चे भक्त थे। उन्होंने अपनी उपासना के चार आधार

वल्लभ सम्प्रदाय

स्तम्भ माने हैं और उनको बराबर का स्थान दिया है। वे चार स्तम्भ हैं—'राधावल्लभ' कृष्ण, 'वल्लभी' राधा, 'वल्लभ' (आचार्य महाप्रभु और वल्लभताई वल्लभ सम्प्रदाय)—देखिए—

"राधावल्लभ, वल्लभी, वल्लभ, वल्लभताइ।
चार नाम वपु एक पद बन्दत सीस नवाइ॥"

—पृष्ठ २२३, दो० १

यह दोहा भारतेन्दुजी का 'वल्लभ' नाम से अगाध प्रेम प्रकट करता है। इनके अतिरिक्त सम्प्रदाय के अनुकूल ही उन्होंने मायावाद का विरोध किया है। श्री विट्ठलनाथ जी के स्तवन में उनको मायापत-तमत्तोम ग्रीष्म दिवाकर कहा है। और अन्य देवी देवताओं के प्रति उपेक्षा भाव रक्खा है। वे स्मार्तों की भाँति पंचदेवोपासक नहीं थे। जहाँ तुलसीदासजीने विनय-पत्रिका में सब देवताओं का स्तवन किया है, वहाँ सूरदासजी ने अपने ग्रन्थ का आरम्भ 'वन्दौ चरण-कमल हरि राई' से किया और अन्य देवों को रंक भिखारी कहा है। यही प्रवृत्ति भारतेन्दु में भी थी और फिर उनके प्रेमी स्वभाव ने तो उनके अक्खड़पन पर सान चढ़ा दी थी। उन्होंने अपने पिता के वर्णन में सब कुल-देव मेटने की बात कही है। वे कृष्ण के अनन्य थे और उनके प्रति अपना पूर्ण आत्म-समर्पण कर चुके थे।

भारतेन्दुजी के लिए कविता करना राधागोविन्द के स्मरण का बहाना ही न था—(आगे के सुकवि रीझि हैं तो कविताई न त, राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है।) वरन् उनके हृदय में भक्तों-

कृष्ण-भक्ति

की-सी लगन थी और उनमें सम्प्रदाय की भावनाएँ जीवन का अंग बन गई थीं। यही बात उनको रीति-कालीन कवियों से कुछ ऊँचा उठा देती है। उनमें अपने दोषों की एक तीव्र चेतना थी। यह भावना विषयी को भी भगवतोन्मुख कर देती है। भक्त और

विशेषकर वैष्णव भक्त अपने पुरुषार्थ के आधार पर नहीं वरन् भगवान् की कृपा के आधार पर ही अपना तरण-तारण चाहता है। सूर की भाँति भारतेन्दु में भी दीनता के साथ अक्खड़पन भी था। कृष्ण उनके सखा और प्रियतम थे। वे अपनी सद्गति के लिए उनसे अधिकार के साथ कह सकते थे और उनको मित्र का सा उपालम्भ दे सकते थे। उनकी भक्ति-भावना के ये तत्त्व उनकी सम्प्रदाय (पुष्टि मार्ग) के अनुकूल पड़ते थे। यहाँ हरिश्चन्द्रजी की भक्ति-भावना के पदों के कुछ अंश नीचे दिए जाते हैं—

"अहो हरि अपुने बिरुदहिं देखौ।
जीवन की करनी करुनानिधि
सपनेहु जानि अवरेखौ।
× × ×
'हरीचन्द' मम अवगुन तव गुन
दोउन को नहिं लेखौ॥"

—प्रेम प्रलाप पृष्ठ ६७७, पद १८

भगवान के साथ वे जीव को भी अनन्त बना देते हैं। यदि भगवान गुणों में अनन्त है तो जीव अवगुणों में। भारतेन्दुजी पापों को मनुष्य के लिए स्वाभाविक मानते हुए उनका भार भगवान की माया के ऊपर रखते हैं और वे अपने भगवान का उत्तरदायित्व बढ़ाकर सब कुछ उनकी कृपा पर ही निर्भर रखते हैं—

"कहो किमि छूटै नाथ सुभाव।
काम क्रोध अभिमान मोहसँग
लख्यो बन्यो बनाव॥
ताहू मैं तुव माया सिर पै
औरहु करत कुदाँव।
'हरीचन्द' बिनु नाथ कृपाके
नाहिन और उपाव॥"

—प्रेम प्रलाप पृष्ठ २७६, पद १२

अब जरा सूर-का-सा अक्खड़पन देखिए—

"जनन सों कबहूँ नाहि चली ।
सदा सर्वदा हारत आये जानत भाँति भली ।
कहा कियो तुम बलि राजा सों चतुराई न चली ॥

× × ×

हमसों हूँ हारत ही बनि है कबहूँ न जैहो जीत ।
तासों तारौ हरीचन्द को मानि पुरानी प्रीति ॥

—पृष्ठ २८०, पद ३०

भारतेन्दुजी की भक्ति में दीनता और अक्खड़पन के साथ दाम्पत्य भाव का सा विरहोन्माद भी है (यह विरह की भावना भगवत्साक्षात्कार की पहली सीढ़ी है) । महाप्रभु वल्लभाचार्य ने कहा है—

"क्लिश्यमानाञ्जनान दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत् ।
तदा सर्वं सदानन्दं हृदिस्थं निर्गतं बहिः ॥"

अर्थात् दुःख में पड़े हुए भक्तों को देखकर भगवान जब कृपायुक्त होते हैं तब वे हृदस्थ भगवान बाहर आकर दर्शन देते हैं । इसीलिए भारतेन्दुजी कभी तो मीरा के स्वर में गाने लगते हैं और कभी कबीर की भाँति सूली सेज पर दुःख प्रकट करते हैं—

"तुम बिनु तलपत हाय विपति बड़ी भारी हो ।
तुम बिनु कोउ नहिं मोर पिया गिरधारी हो ॥
तुम बिनु व्याकुल प्रान धरौं कैसे धीर हो ।
आय मिलो गर लगौ पिया बलबीर हो ॥"

कभी वे दाम्पत्य भाव से अपने प्रियतम को हृदय में छिपा रखना चाहते हैं—'पिय तोहि राखौंगी हिय में छिपाय', और कभी प्रियतम की निष्ठुरता देखकर खण्डिता नायिका की भाँति प्रियतम को उलाहना देते हैं। देखिए—,

"आज मेरे भोरहि जागे भाग ।
आए पिया तिया-रस-भीने खेलत दृग जुग फाग ॥

मंगल भयो भोर मुख निरखत
मिटे सकल निसि दाग ॥
'हरीचन्द' आओ गर लागो
साँचो करौ सोहाग ॥"

—प्रेम प्रलाप पृष्ठ २८७, पद ४३

स्वकीया खण्डिता प्रतीक्षा में सारी रात बिताकर भी पति का स्वागत करने को तैयार रहती है। इसका आध्यात्मिक अर्थ ही लिया जायगा।

भारतेन्दुजी ने भगवद्विरह को पूर्ण महत्ता दी है। उन्होंने भगवान से यही माँगा है कि संसार के चिनगारियों जैसे दुःख को छोड़कर सदा भगवान् के विरह में जलते रहें—

"तो सों और न कछु प्रभु जाचौं।
× × ×
विस्फुलिंग से जग-दुख तजि तव
विरह-अगिन तन ताचौं।"

—विनय प्रेम-पचासा पृष्ठ ५३६, पद ५

राधा की भक्ति में में वे राधा-वल्लभीय सम्प्रदाय के बहुत निकट

बल्लभी-भक्ति आ जाते हैं। वृन्दावन देवी राधाजी के लिए वे कहते हैं—

"अखिल विश्व-नायक पुरुषोत्तम
जा पद पंकज सेवी।
जगत आधारभूत परमातम
जिय आधार सो ताकी।"

किन्तु यह भावना उनके साम्प्रदायिक क्षेत्र से बाहर नहीं है—उन्होंने गोस्वामी बिट्ठलदासजी के स्तवन में कहा है 'अन्तरंग सखि-भाव स्वामिनी-दास्य वृन्दावन' तभी तो उन्होंने अपने को 'गुलाम राधारानी' के कहने में गर्व का अनुभव किया। वे सच्चे भक्तों की भाँति जुगल मूर्तिरूप-माधुर्य में छक जाना चाहते हैं—

"श्री राधे मोहि अपनो कब करिहौ।
जुगल-रूप-रस अमित माधुरी
कब इन नैननि भरिहौ।
कब या दीन-हीन निज जन पै
ब्रज कौ बास वितरिहौ।
'हरीचन्द' कब भव बूड़त तें
भुज धरि धाइ उबरिहौ॥"

—प्रेम फुलवारी पृष्ठ ५७७, पद १

तभी तो वे इस ब्रजवास की चाह में कहते हैं—'ब्रज की लता-पता मोहिं कीजै'। इस भावना में वे सूरदास के बहुत निकट पहुँच जाते हैं—'ऐसे ही बसिए ब्रज की बीथिन। साधुन के पनवारे चुनि-चुनि उदर जो भरिये सीतिन' (सूर)। भारतेन्दुजी ने चाहे इस पद की प्रेरणा सूरदासजी से ली हो किन्तु उसे निजी उत्साह के साथ अपनाया है—

"ब्रज की लता पता मोहि कीजै।
गोपी-पद-पंकज पावन की रज जामैं सिर भीजै॥
आवत जात कुञ्ज की गलियन रूप-सुधा नित पीजै।
श्री राधे राधे मुख यह बर 'हरीचंद' को दीजै॥"

—प्रेम-मालिका पृष्ठ ६५, पद ६७

श्री राधाजी की महत्ता बतलाते हुए वे कहते हैं—

"जै जै श्री बृन्द्रावन देवी।
जो देवन को देव कन्हाई सोऊ जा पद-सेवी॥"

—विनय-प्रेम-पचासा पृष्ठ ५३७, पद १

इसी प्रसंग में यह भी बतला देना आवश्यक है कि भारतेन्दु ने राधाकृष्ण की निकुञ्ज लीलाओं के अनेक पद गाये जिनमें भारतेन्दुजी की पूर्ण वैष्णवी भक्ति प्रकट होती है। राधा का प्रेम भी तन्मयता की पराकाष्ठा को पहुँच जाता है।

"राधे भई आपु घनश्याम ।"

—तन्मय-लीला पृष्ठ ६५६, पद २

गुरु भक्ति भक्ति-काल का व्यापक गुण रहा है। इसको सगुण और निर्गुण दोनों ही प्रकार के भक्तों ने अपनाया है।

बल्लभ और बल्लभताई

बल्लभ सम्प्रदाय में महाप्रभु बल्लभाचार्य को साक्षात् भगवान का अवतार मानते हैं। हरिश्चन्द्रजी ने भी ऐसा ही माना है—

"आजु प्रेम-पथ प्रगट भयो भुव-
जनमें श्रीवल्लभ पूरन काम।
कठिन काल कलि देख दया करि
आपुहि चलि आये द्विजधाम ॥
× × ×
आज घर-घर बजत बधाई।
द्विज-वपुलै नँद नन्दन प्रगटे
लक्ष्मण भट घर आई ॥"

—राग-संग्रह पृष्ठ ४८३, पद १३८

सम्प्रदाय के स्तवन में नीचे का पद-पठनीय है—

"चिर जीयो मेरी श्री वल्लभ कुल,
माया मत खर तिमिर दिवाकर,
प्रेम अमृतपथ रस सागर-पुल।
कलि खल-गन-उद्धरन रसिक-जन,
सरन-करन बिरहिन बिरहाकुल।

—प्रेम-प्रलाप पृष्ठ २८९, पद ५१

बौद्ध धर्म में भी दीक्षा लेते समय 'बुद्धं शरणं गच्छामि' के साथ 'धर्मं शरणं गच्छामि' और 'संघं शरणं गच्छामि' कहते हैं इसी प्रकार भारतेन्दुजी ने वल्लभताई का स्तवन किया है।

मायावाद का प्रतिवाद

भारतवर्ष में मायावाद का प्रभाव व्यापक रहा है। वैष्णव लोग भी इसके प्रभाव से बाहर नहीं रहे। गोस्वामी तुलसीदासजी ने 'रज्जौ यथाहेर्भ्रम' कहा है। परम रसिक वर कविवर बिहारीलाल ने मायावाद के प्रभाव में आकर 'यह जग काँचो काँच सो' कहा है किन्तु भारतेन्दुजी अपने वैष्णव सिद्धान्तों पर दृढ़ रहे। उन्होंने मायावाद का हर स्थान में खण्डन किया है। कविता में तो मायावाद का अनेकों स्थान में उल्लेख किया है—

"तूल मायावाद दहन-हित अग्नि वपु।"

× × ×

"कहौ अद्वैत कहाँ से आयो।
शिवोहं भाख सब लोग।
कहँ शिव कहँ तुम कीट अन्न के,
यह कैसो संजोग॥"

—सर्वोत्तम-स्तोत्र पृष्ठ ७१८, पद २४

भारत-दुर्दशा में भी भारत के पतन के कारणों में वेदान्त को भी बतलाया है—

"रचि कै मत वेदांत को, सब को ब्रह्म बनाय।
हिंदुन पुरुषोत्तम कियो, तोर हाथ और पाय॥"

और देखिए—

"वेदान्त ने बड़ा ही उपकार किया। सब हिन्दू ब्रह्म हो गये। ज्ञानी बनकर ईश्वर से विमुख हुए, रूक्ष हुए, अभिमानी हुए और इसी से स्नेह शून्य हो गये। जब स्नेह ही नहीं तब देशोद्धार का प्रयत्न कहाँ? बस, जय शंकर की।"

—भारत दुर्दशा

भारतेन्दुजी मायावाद के विरुद्ध साम्प्रदायिक कारणों से भी थे। भक्त अपने भगवान के साथ बराबरी नहीं करना चाहता। तुलसीदासजी ने भी पार्थक्य भावना रक्खी है 'रामचन्द्र चन्द्र तो चकोर मोहि कीजिये' किन्तु

उन्होंने मायावाद की बुराई नहीं की है। इतना ही नहीं वरन् संसार के प्रति अनास्था उत्पन्न करने के लिए उन्होंने मायावाद को प्रश्रय दिया है, और राजनीतिक कारणों से भी वे इसके विरुद्ध थे क्योंकि उनका ख्याल था कि उसके कारण अकर्मण्यता आ जाती है। यह वेदान्त का दुरुपयोग है। वेदान्त व्यवहार में संसार को सत्य मानता है।

अन्य देवी देवता

जैसा ऊपर कहा जा चुका है महात्मा सूरदासजी भी अन्य देवी देवताओं के प्रति उदासीन थे। यह बात दूसरे देवताओं के तिरस्कार करने के लिए इतनी नहीं थी जितनी कि अपने उपास्य के प्रति अनन्यता के लिए। तुलसी ने तो अन्य सब देवों की प्रार्थना करते हुए उनसे रामभक्ति का ही वर माँगा—'**बसहिं राम सिय मानस मोरे**' और इस प्रकार अनन्यता की रक्षा करली किन्तु वल्लभकुल में '**अन्यस्य भजनं तत्र स्वतोगमनमेव च**' अर्थात् दूसरे का भजन और वहाँ 'स्वतः गमन' भी वर्जित है। (देखिए श्री प्रभूदयालजी मीतल कृत सूर निर्णय पृष्ठ २५३)। वैसे तो गोस्वामी जी ने भी कृष्ण गीतावली लिख कर भी कृष्णजी के आगे यही कहा था कि '**तुलसी मस्तक तब नवै धनुष बाण लेहु हाथ**' यदि यह ठीक है तो बेचारे हरिश्चन्द्रजी को ही हम क्यों दोष दें। वे अपने भगवान पर पूर्ण भरोसा रखना चाहते थे। वे गङ्गा गये गङ्गादास और जमुना गये जमुनादास होने के विरुद्ध थे। उनमें शरणागति की भावना प्रबल थी। प्रपत्ति या शरणागति वल्लभ सम्प्रदाय का मूल क्षेत्र है। दीक्षा के समय भी शरणागति का पाठ पढ़ाया जाता है। इसी शरणागति भावना से वे कहते हैं—

> **"जिनके देव गुबरधन-धारी,**
> **ते औरहि क्यों मानै हो।"**
>
> —प्रेम प्रलाप पृष्ठ २७८, पद २२

२६

आधुनिक काव्य की दार्शनिक विचार-धारा

काव्य के तत्त्वों में यद्यपि भावतत्व को प्रधानता मिली है तथापि उसमें विचारतत्त्व को भी पर्याप्त महत्त्व दिया गया है। काव्य के विचार शुष्क विचार के रूप में नहीं उपस्थित किये जाते हैं वरन् उनमें भावना का रस मिलाकर उनको ग्राह्य बनाया जाता है। काव्य में कला-पक्ष के साथ हृदय और बुद्धि-पक्ष दोनों का ही संतुलन आवश्यक है। विचार के बिना भाव केवल साबुन के रंग-बिरंगे बबूलों की भाँति रह जाते हैं। विचार के बिना भाव अन्धे हैं और भाव के बिना विचार पंगु और शक्तिहीन रह जाते हैं। सांख्य शास्त्र के प्रकृति और पुरुष के अंध-पंगु न्याय से काव्य गतिशील होता है। विचार ज्ञानमय होने के कारण पुरुष के पर्याय हैं और भाव शक्तिमय होने के कारण प्रकृति के स्थानापन्न हैं।

भाव और विचार

हमारे कवियों ने अधिकांश में भारतीय विचार-धारा का आश्रय लिया है किन्तु वर्तमान भारत पूर्व और पश्चिम के विचारों का मिलन-बिन्दु रहा है। योरोप के कुछ विचार तो भारतीय परम्परा से मेल खाते थे और उन्होंने उनको पुष्ट भी किया और कुछ स्वतन्त्र तेल और पानी की तरह अलग रहे। प्राचीन परम्पराओं में तो शाङ्कर वेदान्त और वैष्णव भक्ति मूलक द्वैतता अथवा अद्वैतता और अद्वैतता का समन्वय रहा। वैष्णव सम्प्रदायों में वल्लभाचार्य और रामानुजाचार्य का प्रभाव अधिक रहा है। शैव आगम यद्यपि कम पढ़े गये तथापि काशी में उनका भी प्रभाव रहा। राष्ट्रीय भावना ने बौद्धधर्म को कुछ अधिक पोषण दिया। कुछ तो बौद्ध धर्म का दुःखवाद तत्कालीन

युग के प्रभाव

परिस्थितियों से उत्पन्न निराशावाद से अधिक मेल खाता था और बौद्ध धर्म के नाते चीन, जापान और एशियायी देशों से हमारा घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो जाने की सम्भावना हो जाती है। धार्मिक क्षेत्र में अद्वैतवाद की पुष्टि करने वालों में रामकृष्ण परमहंस, अरविन्द घोष, स्वामी विवेकानन्द और रामतीर्थ प्रमुख हैं। ब्रह्म समाज ने भी उपनिषदों की अद्वैत विचारधारा को अग्रसर किया। स्वामी दयानन्द ने द्वैतवाद क्या त्रैतवाद का समर्थन किया। उन्होंने ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों को स्वतन्त्र माना।

इन देशी प्रभावों के अतिरिक्त हेगिल का आध्यात्मिक सर्वात्मवाद और मार्क्स का भौतिक द्वन्द्वात्मक तर्कवाद हमारे शिक्षित युवक मन को आकर्षित करता रहा है (प्रगतिवाद में मार्क्सवाद का ही प्रभाव है)। काव्य में तत्त्वज्ञान की इसलिए और भी आवश्यकता पड़ती है कि जीवन-दर्शन भी तत्त्वज्ञान पर आधारित रहता है। कबीर, जायसी, सूर, तुलसी यहाँ तक कि रीतिकालीन देव और बिहारी तक के काव्य में एक दार्शनिक अन्तःस्रोत बहता है। अब हम दर्शन की कुछ मूल समस्यायें लेकर देखेंगे कि उनके सम्बन्ध में हमारे कवियों ने क्या दृष्टिकोण रखा है।

जगत का अस्तित्व

शाङ्कर वेदान्त के सिद्धान्त का मूल सूत्र यह है—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः' मध्यकाल में तो शाङ्कर मायावाद की ऐसी तूती बोली कि बिहारी जैसे वैष्णव कवि भी मायावाद के बहाव में बह गये। वे लिखते हैं—

"मैं समुझ्यौ निरधार, यह जग काँचो काँच सो।
एकै रूप अपार, प्रतिबिम्बत लखियतु जहाँ॥"

किन्तु नवयुग के प्रारम्भ में ही भारतेन्दुजी ने मायावाद के विरुद्ध अपना मत प्रकट किया। महाप्रभू वल्लभाचार्य को मायावाद की रुई के लिए अग्नि बतलाय—

"तूलमायावाद दहन हित अग्नि वपुः"

सच्चे वैष्णव भक्तों की भाँति शाङ्कर वेदान्त की दोनों भित्तियों का खण्डन

कर भारतेन्दुजी ने उसको भारत की दुर्दशा का कारण बतलाया—

"रचि के मत वेदान्त को, सब को ब्रह्म बनाय।
हिन्दुन पुरुषोत्तम कियो तोरि हाथ और पाँव ॥"

भक्ति-भावना के कारण उन्होंने अद्वैतवाद को भी एक विडम्बना-मात्र कहा है—

"कहो अद्वैत कहाँ से आयो,
शिवोऽहं भाखत सब लोग।
कहँ शिव और कहँ कीट अन्न के,
यह कैसो संयोग ?"

द्विवेदी युग के आरम्भ में पं० श्रीधर पाठक ने भी जगत को सचाई-सार माना है। जगत को सचाई-सार मानने के कई कारण हैं, कुछ तो वैष्णवता और कुछ पाश्चात्य भौतिकवादी प्रभाव जो प्राकृतिक शक्तियों को अधिक महत्त्व देते हैं। इसके अतिरिक्त बढ़ती हुई राष्ट्रीयता की भी यह माँग थी कि संसार को सत्य माना जाय। संसार को मिथ्या मान कर सांसारिक अभ्युदय के लिए प्रयत्नशील होने की प्रेरणा कम हो जाती है। यद्यपि स्वामी शङ्कराचार्य ने जगत को व्यावहारिक सत्ता मानी है तथापि आधुनिक युग का मनीषी परमार्थ और व्यवहार में अन्तर करना पसन्द नहीं करता। संसार को सत्य मान कर ही उसके प्रति आस्था हो सकती है। आधुनिक कविगण संसार को सत्य और वास्तविक मानते हैं।

छायावाद प्रकृति का चेतन आधार लेकर चला है। प्रकृति में मानवी भावों का तभी आरोप हो सकता है जब यह माना जाय कि प्रकृति और मानव में एक ही आत्मा व्याप्त मानी जाय। छायावाद के दो उन्नायकों, प्रसाद और पन्त की कविता सर्वात्मवाद के भावों से अनुप्राणित है। प्रसाद ने विश्व को शिव रूप देखा है। उन पर शैव अद्वैतवाद का प्रभाव है।

जगत चेतन स्वरूप है

उन्होंने प्रारम्भ में ब्रजभाषा में कविता की थी। उसका एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है—

"अहो लखो यह विश्वेश्वर की सृष्टि अनूप।
विश्वरूप तिन मांहि विराजत लखि सबही रूप॥
यह विराट संसार तासु प्रकट रूप है।
या में अंगन की आभा राजत अनूप है॥"

—प्रेम राज्य

वे आनन्दवादी थे। 'रसो वै सः' वे सारे जगत को आनन्दमय देखते थे और उसमें चित्तशक्ति के प्रसार का अनुभव करते थे किन्तु बौद्ध धर्म के प्रभाव से और वैसे भी उसकी परिवर्तनशीलता के मानने वाले थे—

"चिति का स्वरूप यह नित्य जगत।
वह रूप बदलता है शत शत॥
कण विरह मिलनमय नित्य निरत।
उल्लास पूर्ण आनन्द सतत॥"

—कामायनी (दर्शन सर्ग)

वे परमाणुओं को आकर्षण-विकर्षण से पूर्ण और सतत नृत्यशील मानते हैं। विज्ञान भी आजकल के अणु-परमाणुओं में सौरमण्डल-की-सी गति मानता है।

शिव का आनन्दमय स्वरूप जो उनके नृत्य में अभिव्यक्त होता है, सारे विश्व में व्याप्त है। नृत्य जगत में व्याप्त ईश्वरीय साम्य का प्रतीक है। 'शिव संहिता में' बतलाया गया है कि एक ही आनन्दमय सत्ता सारे संसार में व्याप्त है, उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है—

"एकः सत्ता पूरितानन्दरूपः पूर्णोव्यापी वर्त्तते नास्ति किञ्चित।"

—शिव संहिता १।१६१

संसार में आह्लाद की व्याप्ति के कारण वह भगवान की लीला के रूप में परिणित हो जाता है। सारा विश्व, सूर्य, चन्द्र और तारे उसी शिव नृत्य के फलस्वरूप अस्तित्व में आते हैं। देखिए—

"लीला का स्पन्दित आह्लाद,
वह प्रभा पुञ्ज चितमय प्रसाद,

आनन्दपूर्ण ताण्डव सुन्दर,
झरते ये उज्ज्वल श्रम सीकर,
बनते तारा हिमकर दिनकर,
उड़ रहे धूल कण से यह भूधर;
संहार सृजन के युगल वाद,
गतिशील अनाहत हुआ नाद।"

—कामायनी (दर्शन सर्ग)

संहार और सृजन उन्हीं के चरण-विक्षेप का फल है। यह नृत्य अनाहतनाद (शब्द ब्रह्म) का ही गतिमय रूप है। यह सारा सर्ग जगत में चित्त शक्ति के लहराते हुए आनन्द का काव्यमय निरूपण है। श्वेताश्वेतर उपनिषद् में रुद्र को सब लोगों का अपनी शक्तियों द्वारा शासक, पालक और संहारक बतलाया गया है, देखिए—

"एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः
य इमान लोकान ईशत ईशनीभिः।
प्रसङ्जनास्तिष्ठिति संचुकोयान्तकाले
संसृज्य विश्वाभुवनानि गोपाः॥"

—श्वेताश्वेतर ३-२

पण्डित सुमित्रानन्दन पन्त भी सारे सौरमण्डल को एक ही चित्तशक्ति का प्रकाश और प्रसार मानते हैं। प्रसाद जी में यही शक्ति कुछ साम्प्रदायिक (शैव) रूप धारण कर लेती है किन्तु उसके ऊपर का साम्प्रदायिकता का आवरण हटाने पर उसी व्यापक ब्रह्म की आनन्दमयी चेतना के दर्शन होते हैं। पन्तजी के विचार किसी सम्प्रदाय से प्रेरित नहीं हैं—

"चिन्मय प्रकाश से विश्व उदय,
चिन्मय प्रकाश में विकसित, लय!
रवि, शशि, ग्रह, उपग्रह, ताराचय
अग जग प्रकाशमय है निश्चय!

चित् शक्ति एक रे जगज्जननि,
धृत ज्योति योनि में लोकाशय,
पलते उर में नव जगत सतत,
होते जग जीर्ण उदर में क्षय !"

—सौरमण्डल (पल्लविनी पृष्ठ २२१)

तैत्तरेय उपनिषद में लिखा है कि जिसमें से सब भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिसमें जीवित रहते हैं, जिसमें जाकर विलीन हो जाते हैं उसे ही तू ब्रह्म जान—

"यतोवा इयानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति,
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति ।।"

—तैत्तरेय ३।१

जो लोग वर्तमान युग की कविता में भौतिकवाद ही देखते हैं उनके लिए ऊपर के उद्धरण नेत्रोन्मीलक होंगे । प्रगतिवाद ने भौतिकवाद को सिद्धान्त रूप से अपनाया है किन्तु उसकी काव्यमय अभिव्यक्ति अधिक नहीं हुई है । विकासक्रम में चेतनवादी चेतन का हाथ देखते हैं किन्तु मार्क्सवादी विकासवाद में भौतिक आवश्यकताओं और प्रकृति के अन्ध प्रयोगों को मान्यता देते हैं ।

पन्तजी जड़ में ही चेतन के बीज निहित पाते हैं, जड़ जड़रूप से चेतन को नहीं जन्म देता है वरन् उसमें चेतन का बीज निहित रहता है जो जड़ के बन्धनों को तोड़कर बाहर आता है—

"बन्दी उसमें जीवन अंकुर
जो तोड़ निखिल जग के बंधन
पाने को है जो सत्व मुक्ति,
जड़ निद्रा से जग बन चेतन ।"

—सृष्टि (आधुनिक कवि, पृष्ठ ६५)

यह व्यापक रूप से तो नहीं कहा जा सकता कि आधुनिक सब ही कवि जगत को सच्चा मानते हैं किन्तु ये उसे चेतन-

मायावाद

स्वरूप अथवा चेतन का परिणाम अथवा विवर्त मानते

हैं। निरालाजी मायावाद की ओर अधिक झुके हैं— संसार माया है, नश्वर है—

"भेद का मायावरण, दुस्तर तिमिर घोर-जड़ावर्त
प्रमाणित तरंग-भंग···
स्पृहावृत जंगमता—
नश्वर संसार
सृष्टिपालन, प्रलय-भूमि
दुर्दम अज्ञान राज्य
मायाकृत 'मैं' का परिवार—
अस्तित्व जीवन का महामोह"

—जागरण

द्वैत और अद्वैत

द्वैत-अद्वैत के सम्बन्ध में कुछ मतभेद अवश्य है किन्तु जब सारे विश्व को ही चेतनाधार मान लिया जाता है फिर द्वैत के लिए कम गुञ्जाइश रह जाती है किन्तु अद्वैतता की भी कई श्रेणियाँ हैं। कुछ तो अद्वैतता में भी व्यक्तित्व का बना रहना मानते हैं और कुछ कबीर की भाँति बूँद और समुद्र का सा पूर्ण एकीकरण और विलीनता भाव मानते हैं। किन्तु वैष्णवता और पश्चिमी ईसाई दर्शनों के प्रभाव से द्वैतता का अंश अधिक रहता है। कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने 'निर्गुण तू तो अखिल गुणों का बास-बसेरा' कह कर सगुण की स्थापना की और उन्होंने 'दासोऽहम्' की तन्मयता को ही 'सोऽहम्' कहा—

"अब भी एक प्रश्न रहा कोऽहं ?
कहूँ कहूँ जब तक दासोऽहं
तब तन्मयता कह उठी कि सोऽहं।"

—झंकार

प्रिय प्रवास की राधा में भी वैयक्तिक प्रेम तन्मयता के कारण जगत प्रेम में परिणत हो जाता है। पन्त में अद्वैतता की ओर अधिक झुकाव है—

"एक छवि के असंख्य उडगन,
एक ही सब में स्पन्दन;
× × ×
हमारे काम न अपने काम
नहीं हम जो हम ज्ञात;
अरे निज छाया में उपनाम
छिपे हैं हम अपरूप;"

—नित्यजगत

निराला में द्वैत और अद्वैत दोनों के अलग-अलग स्तर हैं। पंचवटी में हमको द्वैत और अद्वैत दोनों ही अपने-अपने स्थान में मिलते हैं—लक्ष्मण का दृष्टिकोण सेवा और भक्ति का है, उसमें साधना का द्वैतभाव है और राम के दृष्टिकोण में सिद्धि का ऐक्य-भाव है। लक्ष्मणजी कहते हैं—

"मुक्ति नहीं जानता मैं, भक्ति रहे काफी है
सुधाधर की कला में अंशु यदि बनकर रहूँ मैं—
तो अधिक आनन्द है,
यदि होकर चकोर कुमुद नैश गन्ध—
पीता रहूँ सुधा इन्दु सिन्धु से बरसती हुई
तो सुख मुझे अधिक होगा
इसमें सन्देह नहीं—
आनन्द बन जाना हेय है
श्रेयस्कर आनन्द पाना है"

कविवर रत्नाकर ने भी अपने उद्धवशतक में गोपियों द्वारा विलीनता के भाव का खण्डन कराया है—

"जैहै बनि-बिगरि न बारिधता बारिधि की,
बूँदता बिलैहै बूँद बिबस बिचारी की।"

रामचन्द्रजी ऊँचे स्तर पर पहुँच कर एकता और मुक्ति का पक्ष लेते हैं। वे कहते हैं—

"डूब गया अहंकार अपने विस्तार में—
टूट गये सीमा बन्ध—
छूट गया जड़-पिण्ड—
× × ×
स्थित में आनन्द में चिरकाल जाल मुक्त
ज्ञानाम्बुधि वीचि रहित।"

'तुम और मैं' में ब्रह्म और जीव का सम्बन्ध दिखाई देता है जिसमें यह भाव प्रकट होता है कि तरङ्ग समुद्र की है न कि समुद्र तरङ्ग का है। इसमें वैष्णव भावना भी आ जाती है।

"तुम तुङ्ग हिमालय-शृङ्ग
और मैं चञ्चल गति सुर सरिता
× × ×
तुम दिनकर के रवि किरण जाल
मैं सरसिज की मुस्कान
× × ×
तुम प्राण और मैं काया"

इस कविता में तुम और मैं के कई सम्बन्ध दिखाये गये हैं।

महादेवी में भी एकता के साथ द्वैतता मिलती है। महादेवी और प्रसाद दोनों पर वेदान्त के साथ बौद्ध दर्शन का भी पूरा प्रभाव है। वे संसार को भगवान का विराट रूप मानती है—

"आलोक तिमिर सित असित चीर,
सागर गर्जन रुन-झुन मंजीर।
× × ×
रवि शशि तेरे अवतंस लोल
सीमन्त जटित तारक अमोल
× × ×
अप्सरि तेरा नर्तन सुन्दर"

पूर्ण एकता का आभास नीचे के गीत में दिया जाता है—

"बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ।

× × ×

दूर तुम से हूँ अखण्ड सुहागिनी भी हूँ॥

× × ×

तार भी आघात भी झंकार की गति भी।
पात्र भी, मधु भी, मधुप भी, मधुर विस्मृत भी
अधर भी हूँ और स्मिति की चाँदनी भी हूँ॥"

महादेवीजी जीव की सीमाओं पर गर्व करती हैं। वे ससीम की सीमाओं में ही असीम के दर्शन करती हैं—

"विश्व में यह कौन सीमा हीन है
हो न जिसकी खोज सीमा में मिला
क्या तुम ही सर्वज्ञ एक महान हो?"

महादेवीजी का दुखवाद और 'नीर भरी बदली' की सी विनाश-शीलता बौद्ध धर्म की देन है।

किन्तु इसी के साथ अभेद में भेद भी लगा हुआ है आजकल का युग व्यक्तिवाद का युग है। व्यक्ति अपने को बिलकुल खो नहीं सकता है।

"मैं तुम से एक, एक है जैसे रश्मि प्रकाश
मैं तुम से हूँ भिन्न, भिन्न ज्यों घन में तड़ित-विलास॥"

प्रसाद की समरसता में भी व्यक्तित्व के साथ अभेद है। समरसता में मित्र और दम्पत्ति की सी द्वैतता में भी एकता का आनन्द रहता है—

"जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम्।
मित्रयोरिव दम्पत्यो जीवात्मपरमात्मयोः"

आज कल की कविता निवृत्ति की अपेक्षा प्रवृत्ति की ओर अधिक झुकी है। यद्यपि 'ले चल भुलावा देकर मेरे नाविक' के से पलायनवाद की प्रवृत्ति छायावाद में रही है तथापि वह स्थायी नहीं बनी।

प्रवृत्ति निवृत्ति स्वयं प्रसादजी की फुटकर कविताओं में तथा कामायनी

मे सात्विक प्रवृत्तिओ की प्रबल प्रेरणा है । मनु देव सृष्टि की विफलता के कारण पलायनवादी बन गया था । श्रद्धा उसका ध्यान जीवन मे व्याप्त आनन्द और उल्लास की ओर आकर्षित कर उसमे जीवित रहने और कर्म करते रहने की प्रवृत्ति जाग्रत करती है । मनु का नैराश्य देखिये—

"किन्तु जीवन कितना निरुपाय !
लिया है देख नहीं संदेह ।
निराशा है जिसका परिणाम,
सफलता का वह कल्पित गेह ।।"

—श्रद्धा सर्ग

श्रद्धा कहती है—

"कहा आगन्तुक न सस्नेह,
अरे तुम इतने हुए अधीर ।
हार बैठे जीवन का दॉव
जीतते मरकर जिस को वीर ।
और यह क्या तुम सुनते नहीं,
विधाता का मगल वरदान—
"शक्तिशाली हो विजयी बनो"
विश्व में गूँज रहा जय गान ।
डरो मत अमृत सन्तान,
अग्रसर है मंगलमय वृद्धि;
पूर्ण आकर्षण जीवन केन्द्र,
खिची आवेगी सकल समृद्धि ।"

'नैराश्यं परमं सुखं' वाले हतोत्साह करने वाले सिद्धान्तों के विरुद्ध यह आशावादी संदेश देश के लिये आवश्यक है । भगवान के मंगलमय वरदान में विश्वास रखकर ही हम दुनिया के संघर्ष में आगे बढ सकते हैं ।

आधुनिक कविता मे दुखवाद की प्रवृत्ति अवश्य है किन्तु आशावाद भी पर्याप्त मात्रा में है । देखिये निराला जी का गीत—

"रूखी री यह डाल, वसन वासन्ती लेगी।"

आजकल के युग में गीता के निष्काम कर्म को अपनाया है। बन्धन में ही मुक्ति देखने की बड़ी सुन्दर अभिव्यक्ति कवीन्द्र रवीन्द्र में हुई है—

बन्धन में मुक्ति

"वैराग्य साधने जे मुक्ति से आमार नय,
असंख्य बन्धन माझे हे आनन्दमय! लभिव मुक्तिस्वाद।"
—गीतांजलि

पन्तजी भी दूसरों के लिये तपने और जलने का उपदेश देते हुए बन्धन में ही मुक्ति के दर्शन करते हैं—

"तपरे मधुर मधुर मन
विश्व वेदना में तप प्रतिपल
× × ×
तेरी मधुर मुक्ति ही बन्धन
गंध हीन तू गंध युक्त बन"

गुप्तजी बन्धनों को स्वार्थ हित नहीं चाहते पर 'बन्धन ही क्या स्वार्थ हेतु समुचित हैं?' वे बन्धनों में ही मर्यादा देखते हैं। अपने बन्धन में दूसरों की मुक्ति है। सारा कर्तव्य-शास्त्र अपने अधिकारों को सीमित रखने में ही है—

"जनपद के बन्धन मुक्ति-हेतु हैं सब के,
यदि नियम न हो, उच्छिन्न सभी हो कब के।"

समन्वयवाद भारतीय संस्कृति का एक सर्वमान्य अंग है। समन्वयवाद वर्तमान कविता में ओत-प्रोत है। प्रसाद और पन्त दोनों ही सुख-दुख का समन्वय चाहते हैं—

समन्वयवाद

"हो उदासीन दोनों से सुख-दुख से मेल कराये।
ममता की हानि उठाकर दो रूठे हुए मनाये॥"
—प्रसाद

सुख और दुःख का द्वन्द्व ममता के ही कारण उपस्थित होता है।

यदि ममता और अहंकार न रहे तो सुख-दुख का भी द्वन्द्व छूट जाय—

"सुख दुख के मधुर मिलन से
यह जीवन हो परिपूरन,
फिर घन में ओझल हो शशि,
फिर शशि से ओझल हो घन !"

—पन्त

घन दुख का प्रतीक है और शशि सुख का। महादेवी दुख को ही सुख मान लेती हैं। समरसता का सिद्धान्त भी समन्वयवाद का ही साम्प्रदायिक रूप (बुरे अर्थ में नहीं) है। कामायनी में इस समरसता का सिद्धान्त बड़े स्पष्ट शब्दों में मुखरित हुआ है उसमें हृदय और मस्तिष्क भावना और बुद्धि का समन्वय है। श्रद्धा अपने पुत्र को इड़ा को सौंपती हुई कहती है—

"यह तर्कमयी तू श्रद्धामय,
तू मननशील कर कर्म अभय;
इसका तू सब सन्ताप निचय
हरले, हो मानव भाग्य उदय,
सब की समरसता कर प्रचार,
मेरे सुत सुन मा की पुकार।"

—दर्शन सर्ग

बौद्धिक ज्ञान जहाँ तर्क में उलझ जाता है वहाँ हृदय का प्रातिभ ज्ञान (Intuition) एक साथ सत्य के दर्शन कर लेता है। श्री मद्भगवद्गीता में भी कहा है 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्' कामायनी में इसी का कथात्मक निरूपण है। श्रद्धा के ही सहारे मनु को शिव के दर्शन हुए हैं।

कामायनी में अधिकार और अधिकारी, पुरुष और नारी सबकी समरसता का निर्देश किया गया है। जड़ चेतन, जीव ब्रह्म सबकी तात्विक समरसता का नैतिक रूप अधिकारी और अधिकृत की समरसता में मिलता है। इस समरसता का अभाव ही दुनिया के संघर्ष का मूल है। आनन्द समरसता में ही है क्योंकि समरसता में पूर्णता है। पूर्णता ही भूमा है और भूमा ही सुख

और आनन्द है। भूमा की व्यापक स्थिति में एक के अतिरिक्त और कुछ नहीं दिखाई देता है। उपनिषदों में कहा है—

"यो वे भूमातत्सुखम्"

"विषमता की पीड़ा से व्यस्त,
हो रहा स्पन्दित विश्व महान्,
यही दुख सुख विकास का सत्य
यही भूमा का मधुमय दान।
नित समरसता का अधिकार,
उमड़ता कारण जलधि समान;
व्यथा से नीली लहरों बीच,
बिखरते सुख मणिगण द्युतिमान !"

विषमता ही जगत की पीड़ा का कारण है। समरसता में विषमता जाती रहती है और दुख की कालिमा से सुख की उज्ज्वल मणियाँ निकलने लगती हैं। अन्त में बतलाया गया है कि ज्ञान इच्छा और क्रिया के समन्वय से त्रिपुरारि शिव के दर्शन होते हैं—

"स्वप्न स्वाप, जागरण भस्म हो,
इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे।"

इस प्रकार आधुनिक कविता तत्वज्ञान की गुत्थियों के साथ जीवन का एक दर्शन देती है जिसमें जीवन की वास्तविकता के साथ लड़कर विजय पाने का एक आशा-भरा सन्देश है

२७

कामायनी की भावमूलक व्याख्या

वर्तमान युग में मानव को अपने बल और दौर्बल्य की आत्मचेतना हो गई है। वह अपने दौर्बल्य पर भी गर्व करता हुआ अपने पतन में उत्थान के बीज निहित पाता है। कामायनी इसी आत्म-चेतना से लिखा हुआ महाकाव्य है। इसके सुरम्य कथा-सूत्र में मानव सभ्यता का इतिहास एवं मानव मनोवृत्तियों का सांकेतिक विवरण सम्बद्ध है जो कि उसके काव्य-कुसुम के रसपूर्ण चित्रित सौन्दर्य में एक दिव्य सौरभ का आमोद प्रदान करता है।

मानव की आत्मचेतना

इस महाकाव्य के नायक हैं आदि पुरुष वैवस्वत मनु जो कि जलप्लावन के पश्चात् देवताओं की ध्वस्त सृष्टि में से बच रहे थे और जिनके देवत्व का दम्भ जर्जरित हो गया था।

मनु का सजीव चित्र

"आज अमरता का जीवित हूँ
मैं वह भीषण जर्जर दम्भ,
आह सर्ग के प्रथम अंक का
अधम पात्रमय-सा विष्कम्भ॥"

—चिन्ता सर्ग, पृष्ठ १८

मनु जिस रूप में हिमगिरि पर दिखाई देते हैं वह चिन्ताकुल होने पर भी पूर्णतया स्वस्थ और पौरुषमय है। मनु का जैसा स्वस्थ पुरुष-सौन्दर्य प्रसादजी ने अंकित किया है वैसा अन्यत्र बहुत कम देखने को मिलता है।

"अवयव की दृढ़ मांस-पेशियाँ
ऊर्जस्वित था वीर्य्य अपार;

स्फीत शिरायें, स्वस्थ रक्त का
होता था जिनमें संसार।
चिन्ता-कातर वदन हो रहा
पौरुष जिसमें ओत-प्रोत;
उधर उपेक्षामय यौवन का,
बहता भीतर मधुमय स्रोत।"

—चिन्ता सर्ग, पृष्ठ ४

इस काव्य में फल प्राप्ति मनु को होती है किन्तु श्रद्धा के ही सहारे। वही उसको चिन्ता के जीवन से आनन्द-लोक तक पहुँचाती है। इसीलिए उसी के नाम पर पुस्तक का नामकरण हुआ। एकाकी मनु चिन्ताकातर था और उसमें एक प्रकार के श्मशान-वैराग्य के रूप में देव सभ्यता की उच्छृङ्खल विलासिता की प्रतिक्रिया परिलक्षित होती है।

चिन्ता

"प्रकृति रही दुर्जेय, पराजित
हम सब थे भूले मद में;
भोले थे, हाँ तिरते केवल
सब विलासिता के नद में।
वे सब डूबे; डूबा उनका
विभव, बन गया पारावार।
उमड़ रहा था देव सुखों पर
दुःख-जलधि का नाद अपार।"

—चिन्ता सर्ग, पृष्ठ ८

ऐसी पराजय की मनोवृत्ति में चिन्ता के सिवाय और कौनसी वस्तु स्थान पा सकती है! जब हृदय में उत्साह होता है तब चिन्ता नहीं रहती। मनु अपने पुरुषत्व के अभिमान में चिन्ता को दूर हटाना चाहते हैं।

"बुद्धि, मनीषा, मति, आशा, चिन्ता
तेरे हैं कितने नाम!

अरी पाप है, तू जा, चल, जा,
यहाँ नहीं कुछ तेरा काम ।।

—चिन्ता सर्ग, पृष्ठ ६

बुद्धि और चिन्ता का साहचर्य

बुद्धि और चिन्ता का चाहे ऐक्य न हो किन्तु साहचर्य अवश्य है। क्योंकि जहाँ चिन्ता होती है वहाँ ऊहापोह में बुद्धि का प्रयोग अवश्य होता है जैसा कि आचार्य शुक्लजी ने लिखा है, यह बुद्धिवाद के विरोध का प्रथम संकेत है।

मनु का नैराश्य

मनु को फिर पराजय-वृत्ति घेर लेती है और वे इस संसार से भागना चाहते हैं। वे अपनी चेतना पर विस्मृति का आवरण डालने के लिए उत्सुक हो जाते हैं। ठीक वैसे ही जैसे कोई निराश व्यक्ति अफीम खाकर या तो हमेशा के लिए या थोड़े काल के लिए चेतना का अन्त कर देना चाहता है। देखिए मनु कैसी बलवती विकलता का परिचय देते हैं—

"विस्मृत आ, अवसाद घेर ले
नीरवते ! बस चुप कर दे;
चेतनता चल जा, जड़ता से
आज शून्य मेरा भर दे।"

—चिन्ता सर्ग, पृष्ठ ६

आशापूर्ण आस्तिकता

यह दशा मनुष्य की चिरकाल तक नहीं रह सकती। तूफान के पश्चात् शान्ति का समय आता है, विषाद और चिन्ता से पूर्ण कराल रात्रि के पश्चात् अरुणोदय हुआ और उसी के साथ प्रकृति का पट पलटा—उसकी भीषणता सौम्य रूप धारण करने लगी और मनु के हृदय में आस्तिकतामूलक कौतूहल की जाग्रति हुई। दुख और सुख के सन्धिकाल तक आस्तिकता, पश्चाताप और वैराग्य का बाहुल्य रहता है। वैसे भी प्राकृतिक सौन्दर्य के दर्शन से रहस्य-भावना की जाग्रति स्वाभाविक है।

"वह विराट् था हेम घोलता
नया रंग भरने को आज;
कौन ? हुआ यह प्रश्न अचानक
और कुतूहल का था राज ॥

—आशा सर्ग, पृष्ठ २४

× × ×

हे विराट् ! हे विश्वदेव ! तुम
कुछ हो ऐसा होता भान,
मन्द गम्भीर धीर स्वरसंयुत
यही कर रहा सागर गान।"

—आशा सर्ग, पृष्ठ २६

प्रभात की मधुरिमा में प्रकृति के सौम्य रूप को देखकर मनु के मन में जीवनेच्छा की आशा और उत्साह का उदय होता है और उसी के साथ जीवनेच्छा का भी।

जागृति

"जीवन ! जीवन ! की पुकार है
खेल रहा है शीतल दाह;
किसके चरणों में नत होता
नव प्रभात का शुभ उत्साह।
मैं हूँ, यह वरदान सदृश क्यों
लगा गूँजने कानों में !
मैं भी कहने लगा, 'मैं रहूँ'
शाश्वत नभ के गानों में।"

—आशा सर्ग, पृष्ठ २७

जीवनेच्छा के साथ मनु के हृदय का विषाद जो अभी तक पूरी तौर से दूर नहीं हुआ था कुछ उग्र हो उठता है। जीवन, केवल जीवन शिला का-सा अस्तित्व-मात्र कुछ अर्थ नहीं रखता। जीवन पूर्णता चाहता है। निरुद्देश्य एकाकी जीवन विषाद की अग्नि

विषाद की पुनरावृत्ति

को प्रज्वलित कर देता है और मनु सोचने लगते हैं—

"तो फिर क्या मैं जिऊँ और भी—
जीकर क्या करना होगा ?
देव ! बता दो, अमर वेदना
लेकर कब मरना होगा ?"

—आशा सर्ग, पृष्ठ २८

मनु को सूनापन अखर रहा था। उनके मन में भी एकोऽहम् बहुस्याम की

सात्विक कर्म

चाह थी। और इसी चाह से प्रेरित हो वे सोचते थे—

"जैसे हम हैं बचे हुए;
क्या आश्चर्य और कोई हो
जीवन लीला रचे हुए।
अग्निहोत्र अवशिष्ट अन्न कुछ
कहीं दूर रख आते थे;
होगा इससे तृप्त अपरिचित
समझ सहज सुख पाते थे।
दुख का गहन पाठ पढ़कर अब
सहानुभूति समझते थे;"

—आशा सर्ग, पृष्ठ ३२

ठीक है 'जाके पाँय न फटे बिवाई, सो का जाने पीर पराई'—यह है परार्थ सात्विक कर्म। इससे श्रद्धा की प्राप्ति होती है।

बहुत प्रतीक्षा तथा अपने मन को सुलाने वाले प्रेम की सुध करने के पश्चात् मनु को श्रद्धा की आवाज सुनाई दी। सौन्दर्य उपासना के लिए

श्रद्धा का आगमन

प्रेम की जाग्रति आवश्यक है। मनु जिस आवाज को सुनने को तैयार हो गये थे वही उनके कानों में आई। आवाज ही चिन्ता-मग्न पुरुष को आकर्षित कर सकती है फिर तो सौन्दर्य-दर्शन के लिए नेत्र खुल जाते हैं। नेत्र खुलते ही श्रद्धा की नयनाभिराम मूर्ति भी सामने आई जिसका वर्णन

प्रसादजी ने इस प्रकार किया है—

"नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग;
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ-बन बीच गुलाबी रंग।"

—श्रद्धा सर्ग, पृष्ठ ४६

नील वस्त्र चिरस्थायी प्रेम का प्रतीक होता है क्योंकि नील रंग बार-बार धोने से भी हलका नहीं पड़ता। सूर ने भी राधा को नीली फरिया पहनाई है। श्रद्धा भावुकता की मूर्ति है, कला और सौन्दर्य की प्रतीक है। वह गंधर्व देश में कला का ज्ञान प्राप्त करके आई थी।

"भरा था मन में नव उत्साह
सीख लूँ ललित कला का ज्ञान।"

—श्रद्धा सर्ग, पृष्ठ ५१

श्रद्धा ने मनु को आशा, उत्साह और कर्मण्यता का सन्देश दिया। श्रद्धा के उदय होते ही आशा का संचार होने लगता है। श्रद्धा में जो विश्वास की मात्रा रहती है वही उत्साह का कारण बनती है।

प्रवृत्ति का उपदेश श्रद्धा के मुख से प्रसादजी जीवन-मीमाँसा का भी उद्घाटन कराकर मन को निराशाजन्य पलायनवाद से विरत कर जीवन का आनन्द लेने की ओर प्रवृत्त करते हैं—

"जिसे तुम समझे हो अभिशाप,
जगत की ज्वालाओं का मूल;
ईश का वह रहस्य वरदान
कभी मत जाओ इसको भूल;
विषमता की पीड़ा से व्यस्त
हो रहा है स्पंदित विश्व महान्;
यही दुख सुख विकास का सत्य
यही भूमा का मधुमय दान।"

—श्रद्धा सर्ग, पृष्ठ ५३-५४

दुख ही सुख के विकास का कारण होता है। हमको जीवन उसको पूर्णता में ग्रहण करना चाहिए। दुखों को छोड़कर अमिश्रित सुख नहीं मिल सकता। भूमा पूर्णता का ही नाम है। 'भूमा वै सुखम्' दुख ही जीवन के मूल्यतम रत्नों को प्रकाश में लाता है—

"व्यथा से नीली लहरों बीच
बिखरते सुख मणि गण द्युतिमान।"

—श्रद्धा सर्ग, पृष्ठ ५४

मनु पलायनवाद की ओर जाता है। श्रद्धा उसको जीवन-संग्राम की ओर ले जाती है। प्रसादजी ने अपने नाटकों में नारी को महत्त्व दिया है। पुरुष-प्राधान्य के बहुत से काव्य लिखे जा चुके हैं, नारी-प्राधान्य के काव्य से हमें विचलित नहीं होना चाहिए। किरातार्जुनीय में द्रौपदी ने ही पाण्डवों को प्रोत्साहन दिया था और राजपूत रमणियाँ भी पुरुषों को युद्ध के लिए सुसज्जित करती रही हैं किन्तु यहाँ श्रद्धा ने सुसज्जित करने से कुछ अधिक काम किया है। उसने मनु को निराशा के गर्त से निकाल कर जीवन में प्रवेश कराया है। मनु कहते हैं—

"किन्तु जीवन कितना निरुपाय
लिया है देख नहीं सन्देह
निराशा है जिसका परिणाम
सफलता का वह कल्पित गेह।"

—श्रद्धा सर्ग, पृष्ठ ५४

जीवन का महत्त्व

श्रद्धा तप की अपेक्षा जीवन को महत्त्व देती है और आकांक्षापूर्ण आशा आल्हाद की ओर मनु का ध्यान आकर्षित करती है। जीवन तिरस्कार की वस्तु नहीं। श्रद्धा का उत्साहपूर्ण उत्तर सुनिये—

"कहा आगन्तुक ने सस्नेह—
'अरे तुम इतने हुए अधीर!
हार बैठे जीवन का दाँव,

जीतते मरकर जिसको वीर।

तप नहीं केवल जीवन सत्य

करुण यह क्षणिक दीन अपसाद;"

—श्रद्धा सर्ग, पृष्ठ ५५

श्रद्धा मनु के लिए अपये हृदय का द्वार खोलकर दया, माया, ममता आदि रत्नों को उसे भेंट करती है—

समर्पण

"दया, माया, ममता लो आज,

मधुरिमा लो, अगाध विश्वास;

हमारा हृदय रत्न निधि स्वच्छ"

—श्रद्धा सर्ग, पृष्ठ ५७

जीवन का उल्लास और आशावाद जितना हमको कामायनी के वचनों में मिलता है उतना इस युग में बहुत कम दृष्टिगोचर होता है। इस युग के निराशावाद के लिए यह एक औषधि रूप है—

"विश्व की दुर्बलता बल बने,

पराजय का बढ़ता व्यापार

हँसाता रहे उसे सविलास

शक्ति का क्रीड़ामय संचार।"

—श्रद्धा सर्ग, पृष्ठ ५९

"शक्ति के विद्युत्कण, जो व्यस्त

विकल बिखरे हैं, हो निरुपाय;

समन्वय उसका करे समस्त,

विजयिनी मानवता हो जाय।"

—श्रद्धा सर्ग, पृष्ठ ५९

श्रद्धा के इस आत्म-समर्पणमय वीरता के सन्देश के पश्चात् काम ने एक दूरागत ध्वनि के रूप में आकर अपना परिचय देते हुए कन्यादान की रसम भी अदा कर दी।

काम द्वारा श्रद्धा का परिचय

"हम दोनों की सन्तान वही
कितनी सुन्दर भोली-भाली;
रंगों ने जिनसे खेला हो
ऐसे फूलों की वह डाली।
जड़ चेतनता की गाँठ वही
सुलझन है भूल-सुधारों की।
वह शीतलता है शान्तिमयी
जीवन के उष्ण विचारों की।"

—काम सर्ग, पृष्ठ ७७

सरसरी तौर से देखने पर श्रद्धा का काम की दुहिता होना कुछ संदिग्ध-सा प्रतीत होता है किन्तु यदि हम काम को उसके शुद्ध और व्यापक रूप में लेते हैं तो यह सन्देह दूर हो जाता है। संसार

काम का शुद्ध रूप में काम एक आदि-प्रेरक शक्ति है। 'काममयं एवायं पुरुषः', लोकैषणा, वित्तैषणा और पुत्रैषणा सब इसी के विविध रूप हैं। जीवन की आकांक्षा (The will to live) भी इसका नामान्तर है। काम में ही भाव का मूल है। कलाओं का भी इसी से सम्बन्ध है। चौसठ कलाओं का विवरण हमको काम-सूत्रों में मिलता है। काम आकांक्षा है रति उसकी तृप्ति है। आकांक्षा की तृप्ति श्रद्धा को जन्म देती है।

काम के पश्चात् वासना का उदय होता है। वासना काम का ही व्यक्त रूप है। काम और वासना मनुष्य की इच्छा शक्ति के ही रूपान्तर हैं। वासना के आते ही मनु का मन सौन्दर्य-प्रवण हो जाता

वासना का उदय है और कामायनी के पालित पशु के प्रति ईर्ष्या जाग्रत हो जाने पर भी वह श्रद्धा को आत्मसमर्पण कर देता है—

"मैं तुम्हारा हो रहा हूँ' यही सुदृढ़ विचार;
चेतना का परिधि बनता घूम चक्राकार।"

—वासना सर्ग, पृष्ठ ८९

सौन्दर्य के विषयी-प्रधान (Subjective) और विषय-प्रधान (objective) दोनों ही पक्ष हैं। बिहारी ने इन दोनों पक्षों का उद्‌घाटन 'रूप रिझावन हार वह ये नयना रिझवार' इस दोहार्ध में किया है। वासना उसके विषयी-प्रधान पक्ष को पुष्ट करती है और लज्जा उसके विषय-प्रधान पक्ष को बल देती है। लज्जा वासना की अतिशयता के ऊपर एक आवश्यक 'ब्रेक' का भी काम करती है। कामायनी में लज्जा के इन दोनों धर्मों की ओर संकेत किया गया है—

सौन्दर्य के दो पक्ष

"मैं उसी चपल की धात्री हूँ
गौरव महिमा हूं सिखलाती;
ठोकर जो लगने वाली है
उसको धीरे से समझाती।"

—लज्जा सर्ग, पृष्ठ १०२

मनु श्रद्धा के वचनों का उल्टा अर्थ लगाकर पशुबलि के काम्य कर्म में प्रवृत्त हो जाते हैं और इसमें असुरों के पुरोहित किलात और आकुलि उनके सहायक बनते हैं। पशुबलि होती है, पाशविकता की वृद्धि के लिए। मेरी समझ में दोनों ओर के आत्म-समर्पण के बाद यह काम्य कर्म का व्यापार कुछ असंगत सा लगता है। श्रद्धा को पुरोडाश और सोमपान कराना आवश्यक था। पशुबलि का विरोध प्रसादजी के प्रकाम्य विषयों में से था, शायद इसीलिए उसके वर्णन करने का मोह ये संवरण न कर सके हों। यह बलिकर्म श्रद्धा के पालित पशु के प्रति मनु के ईर्षालु मन की प्रेरणा से हुआ हो या पूर्व संस्कारों की प्रबलता से, जो कुछ भी हो यह कुछ अप्रासङ्गिक-सा लगता है।

सकाम कर्म

मनु अपने आदर्श स्वभाव में चित्रित नहीं हुए हैं। प्रसादजी यथार्थ-वादी हैं। मनु का चरित्र नैतिक बन्धनों से ही न हो साधारण मनुष्य के रूप में दिखाया गया है। पहले उनको श्रद्धा के पालित पशु के प्रति ईर्ष्या हुई थी, अब अपने ही भावी पुत्र

ईर्ष्या का अंकुर

के प्रति । मनु देव-सृष्टि के अबाधित अधिकारों के संस्कार लेकर आये थे और शायद वे घर में बँधकर नहीं बैठना चाहते थे।

मातृ-भार से दबी हुई श्रद्धा का केतकी गर्भ सा पीला मुँह और आँखों में भरा स्नेह उनको अधिक आकर्षण न दे सका 'A thing of beauty is not a joy for ever' की बात उपस्थित हो गई थी। श्रद्धा उनके मृगया कर्म का भी विरोध करती थी। वह मृगया के आगे खेती की अवस्था को पहुँच गई थी। स्त्रियाँ सदा रक्षा का प्रतीक रही हैं। श्रद्धा के भावी वात्सल्य और मनु के दूसरे को न सहन करने वाले प्रेम में संघर्ष हो उठता है।

"यह जीवन का वरदान, मुझे
दे दो रानी अपना दुलार !
केवल मेरी ही चिन्ता का
तव चित्त वहन कर रहे भार।"

—ईर्ष्या सर्ग, पृष्ठ १४८

मनु का अहं इतना बढ़ा हुआ है कि वह अपने बिना श्रद्धा को सुखी नहीं देख सकता। पुत्र और पति की प्रतिद्वन्द्विता का उल्लेख आजकल के मनोविश्लेषण शास्त्र में आता है किन्तु यहाँ पर यह पूर्णतया व्यक्त हो गया है—

"तुम फूल उठोगी लतिका सी
कंपित कर सुख सौरभ तरंग;
मैं सुरभि खोजता भटकूँगा
वन-वन बन कस्तूरी कुरंग।"

—ईर्ष्या सर्ग, पृष्ठ १५३

मनु वहाँ से चले जाते हैं किन्तु श्रद्धा से पृथक होते ही उनको पश्चाताप और विषाद घेर लेता है। वे अपने को नियति-चक्र का शिकार पाते हैं।

नियति-चक्र यह भी प्रसादजी के अभिमत विषयों में से है—

"इस नियति नटी के अति भीषण अभिनय की छाया नाच रही
खोखली शून्यता में प्रति पद असफलता अधिक कुलाँच रही
पावस रजनी में जुगनूगण को दौड़ पकड़ता मैं निराश
उन ज्योति कणों का कर विनाश।"

—इड़ा सर्ग, पृष्ठ १५८

मनु को श्रद्धा के छोड़ने के लिए काम भी बहुत फटकारता है 'तुम भूल गये पुरुषत्व मोह से कुछ सत्ता है नारी की' और शाप भी देता है।

इड़ा का आकर्षण

यहाँ पर मनु श्रद्धा के हृदय-पक्ष से हट कर इड़ा के बुद्धि-पक्ष की छाया में आते हैं। इड़ा सारस्वत देश, जो बुद्धि का प्रतीक है और जिसमें देवताओं और दानवों का युद्ध हो चुका है, की रानी है। यह कर्म और विचार की अधिष्ठातृ देवी है। उसका रूप ही तर्कमय और ज्ञानमय था—

"बिखरीं अलकें ज्यों तर्क जाल

× × ×

वक्षस्थल पर एकत्र धरे संसृति के सब विज्ञान ज्ञान
था एक हाथ में कर्म कलश वसुधा जीवन रस सार लिये
दूसरा विचारों के नभ को था मधुर अभय अवलम्ब दिये।"

—इड़ा सर्ग, पृष्ठ १६८

इड़ा मनु को सारस्वत देश का राज करने को कहती है। इड़ा के साथ रहने से मनु की अध्यक्षता में विज्ञान-प्रधान सभ्यता का विकास होता है।

सभ्यता की तीन श्रेणियाँ

कामायनी में सभ्यता की तीनों श्रेणियाँ आ जाती हैं। स्वयं मनु मृगया वाली सभ्यता के पोषक थे। श्रद्धा कृषि और पशु-पालन की सभ्यता के पक्ष में थी। इड़ा के संयोग से मनु, विज्ञानप्रधान सभ्यता के जन्मदाता बने। बुद्धि के साथ उनको वैभव भी मिला, उसमें दैव-कोप हुआ। मनु वैभव से ही सन्तुष्ट न थे। वे स्वयं इड़ा पर अधिकार जमाना चाहते थे।

बुद्धि का दुरुपयोग विनाश का कारण बनता है। मनु की प्रजा विद्रोह

करने लगी और युद्ध छिड़ गया। मनु अपनी दी हुई वैज्ञानिक सभ्यता का अहसान जतलाते हैं। उनकी प्रजा उस सभ्यता का तिरस्कार कर उत्तर देती है—

विद्रोह

"हम संवेदन शील हो चले यही मिला सुख,
कष्ट समझने लगे बना कर निज कृत्रिम दुख!
प्रकृति शक्ति तुमने यन्त्रों से सब की छीनी,
शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर झीनी!"

—संघर्ष सर्ग, पृष्ठ १६६

इस उत्तर में गांधीवाद के सरल प्राकृतिक जीवन का पक्ष लिया है। मनु संग्राम में आहत होकर मूर्छित हो जाते हैं।

श्रद्धा इस सब व्यापार को स्वप्न में देख चुकी थी। वह अपने पुत्र मानव को साथ लेकर मनु की खोज में चल दी। श्रद्धा सारस्वत देश में पहुँचकर इड़ा को मनु की विफलता पर सहृदयतापूर्ण विचार करती हुई पाती है। मनु श्रद्धा और कुमार को देखकर कृतज्ञता से भर गये और उससे इड़ा की छाया से बाहर ले जाने के लिए कहने लगे। मनु को श्रद्धा का महत्व और उसके प्रेम का मूल्य प्रतीत होने लगा—

श्रद्धा का पुनरागमन

"नहीं पा सका हूँ मैं जैसे
जो तुम देना चाह रही,
क्षुद्र पात्र! तुम उसमें कितनी
मधु धारा हो ढाल रही।
सब बाहर होता जाता है
स्वगत उसे मैं कर न सका,
बुद्धि तर्क के छिद्र हुए थे
हृदय हमारा भर न सका॥"

—निर्वेद सर्ग, पृष्ठ २२८

यहाँ पर फिर हृदयवाद की विजय होती है किन्तु मनु मोह के बन्धन में अधिक नहीं रहना चाहते थे।

वे रात्रि में ही भाग निकले। उनके हृदय में पराजय की लज्जा और बदला लेने की अशक्तता काम कर रही थी। श्रद्धा के संयोग हो जाने पर मनुष्य संघर्ष में प्रवृत्त नहीं हो सकता।

सुबह उठते ही श्रद्धा, इड़ा और कुमार तीनों ही मनु की खोज में निकलते हैं। इड़ा अपने को सबसे अधिक अपराधिनी समझती थी।

इड़ा का पश्चाताप

उसने रास्ते में पश्चाताप भरे शब्दों में श्रद्धा से क्षमा याचना की। श्रद्धा ने इड़ा को उसकी न्यूनता बतलाई—

"श्रद्धा बोली, बन विषम ध्वान्त !
सिर चढ़ रही ! पाया न हृदय,
× × ×
जीवन धारा सुन्दर प्रवाह,
सत, सतत, प्रकाश सुखद अथाह;
ओ तर्कमयी ! तू गिने लहर,"

—दर्शन सर्ग, पृष्ठ २४१

'सिर चढ़ि' में अभिधा और लक्षणा के अर्थों का बड़ा सुन्दर समन्वय हुआ है। बुद्धि मस्तिष्क में रहती है। यहाँ पर प्रसादजी ने जीवन-मीमांसा का एक सिद्धान्त श्रद्धा के मुख से कहलाया है। जीवन के रहस्य की प्राप्ति ब्योरे (Detail) में पड़कर नहीं मिलती। जीवन को उसकी पूर्णता में व्यापक दृष्टि के साथ देखने में हम रस ले सकते हैं। लहरों के गिनने की अपेक्षा हमको उसके पूर्ण प्रवाह का आनन्द लेना चाहिए।

श्रद्धा ने यद्यपि इड़ा को फटकार बतलाई थी तथापि वह उसका महत्त्व जानती थी। सच्चा श्रद्धावान विरोध नहीं कर सकता। वह गुण-

समरसता

ग्राहक होता है। इसीलिए कामायनी अपने कुमार को इड़ा के साथ कर देती है। वह जानती थी कि दोनों के साथ रहने में दोनों का ही नहीं वरन् सारी मानव-जाति का कल्याण है।

"हे सौम्य ! इड़ा शुचि का दुलार,
हर लेगा तेरा व्यथा भार;
यह तर्कमयी तू श्रद्धामय,
तू मननशील कर कर्म अभय;
इसका तू सब सन्ताप निचय,
हर ले, हो मानव भाग्य उदय;
सब की समरसता कर प्रचार,
मेरे सुत ! सुन माँ की पुकार।"

—दर्शन सर्ग, पृष्ठ २४४

श्रद्धा भी कर्म के विरुद्ध नहीं है किन्तु वह विषमता उत्पन्न करने वाले कर्म नहीं चाहती। वह सब प्राणियों की समरसता की इच्छुक है। समरसता शैव दर्शन का शब्द है। शैव्य अद्वैतवादी दर्शन है। अद्वैतवाद में विषमता को स्थान नहीं।

इड़ा और मानव को विदा करके, श्रद्धा ने मनु को नदी के एकान्त कूल पर लेटा हुआ पाया। श्रद्धा उनको सहारा और प्रोत्साहन दे उस उच्च शिखिर पर ले जाती है जहाँ महा हिम का धवल हास श्रद्धा का सहारा उल्लसित होकर स्वयं नृत्य करते हुए नटराज की मूर्ति बन रहा था। बिना श्रद्धा के मनुष्य को भगवान् के दर्शन नहीं मिलते और दर्शन मिलकर ही रहस्य का उद्घाटन होता है, हृदय की ग्रन्थि खुल जाती है और आनन्द की प्राप्ति होती है।

मनु के चरण शिथिल हो जाने पर भी श्रद्धा उन्हें और भी उच्च भूमि समन्वय की ओर पर ले जाती है। वहाँ मनु को तीन विन्दु दिखाई दिए—

"त्रिदिक विश्व, आलोक विन्दु भी
तीन दिखाई पड़े अलग थे;
त्रिभुवन के प्रतिनिधि थे मानो
वे अनमिल थे किन्तु सजग थे।"

—रहस्य सर्ग, पृष्ठ २६१

ये विन्दु इच्छा, क्रिया और ज्ञान के थे। ये अलग-अलग थे। इच्छा का रंग तो भावमूलक होने के कारण लाल था। कर्म का रंग कठिन लोह-शृङ्खला से सम्बन्ध होने के कारण काला और ज्ञान का रंग श्वेत कहा है। यही स्वर्ण, लोह और रजत के रंग हैं। श्रीमद्‌भागवत में मय दानव तीन के रथों का उल्लेख है। वे रथ सोने, चाँदी और लोहे के थे। वे इतने बड़े थे कि पुर से दिखलाई पड़ते थे—'स निर्माय पुरस्तिस्रो हेमीरौप्यायसी विभुः' इसी से ज्ञान, इच्छा और क्रिया के वृत्तों को मिल जाने को त्रिपुरदाह कहा है।

इच्छा लोक — श्रद्धा इच्छा लोक का इस प्रकार परिचय देती है—

"वह देखो रागारुण है जो
ऊषा के कन्दुक सा सुन्दर;
छायामय कमनीय कलेवर
भावमयी प्रतिमा का मन्दिर।"

—रहस्य सर्ग, पृष्ठ २६२

"चिर-वसन्त का यह उद्‌गम है
पतझर होता एक ओर है;
अमृत हलाहल यहाँ मिले हैं
सुख दुख बँधते, एक डोर हैं।"

—रहस्य सर्ग, पृष्ठ २६५

कर्मलोक — कर्म-लोक का नीचे के शब्दों में परिचय दिया गया है—

"कर्म-चक्र सा घूम रहा है
गह गोलक, बन नियति प्रेरणा;
सबके पीछे लगी हुई है
कोई व्याकुल नयी एषणा।
श्रममय कोलाहल, पीड़न मय
विकल प्रवर्त्तन महायन्त्र का;
क्षण भर भी विश्राम नहीं है
प्राण दास है क्रिया तन्त्र का।"

—रहस्य सर्ग, पृष्ठ २६६

ज्ञान लोक — ज्ञान-क्षेत्र के विषय में श्रद्धा मनु को इस प्रकार बतलाती है—

"प्रियतम ! यह तो ज्ञान क्षेत्र है
सुख दुख से है उदासीनता;
यहाँ न्याय निर्मम, चलता है
बुद्धि चक्र, जिसमें न दीनता।"

—रहस्य सर्ग, पृष्ठ २६९

"यहाँ प्राप्य मिलता है केवल
तृप्ति नहीं, कर भेद बाँटती;
बुद्धि, विभूति सकल सिकता सी
प्यास लगी है ओस चाटती!"

—रहस्य सर्ग, पृष्ठ २७०

भाव-लोक में सब सुख दुख एक साथ बँध जाते हैं। कर्म लोक में नियति-चक्र चलता है जिसमें मनुष्य परवश हो जाता है किन्तु अपनी मूढ़ता के कारण अपने को कर्ता मानता है (कर्ताऽहं मन्यते)।

भाव लोक

"अन्ध प्रेरणा से परिचालित
कर्ता में करते निज गिनती।"

—रहस्य सर्ग, पृष्ठ २६८

ज्ञान में भेद और विवेक रहता है। यहाँ पर ब्योरे की ओर ज्यादह ध्यान दिया जाता है। यहाँ प्राप्य मात्र मिलता है किन्तु भावलोक की सी तृप्ति नहीं। यद्यपि इड़ा में ज्ञान और कर्म का योग दिखाया गया था और श्रद्धा में भाव और कर्म का तथापि यहाँ पर उनको अलग दिखाकर तीनों के पृथक और स्वतन्त्र रहने की अपूर्णता बतलाई गई है। समन्वय की आवश्यकता तभी समझ में आती है जब उनके पृथक रहने का दोष समझ में आ जाय।

"ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है
इच्छा क्यों पूरी हो मन की;

एक दूसरे से न मिल सके
यह विडम्बना है जीवन की।"

—रहस्य सर्ग, पृष्ठ २७२

श्रद्धा भी यद्यपि भावनावृत्ति है तथापि जिस अंश में तीनों के समन्वय के लिए भावना की आवश्यकता है उस अंश में वह अलग रखी गई है।

श्रद्धा का अस्तित्व चमत्कारिक

समन्वय कराने वाला कोई अलग ही होता है। मनुष्य श्रद्धामय होकर दोनों का समन्वय कर सकता है और तीनों के समन्वय में ही आनन्द और कल्याण की प्राप्ति होती है, श्रद्धा की स्मिति-रेखा से तीनों बिन्दु मिल जाते हैं—

"महा ज्योति रेखा सी बनकर
श्रद्धा की स्मिति दौड़ी उनमें;
वे सम्बद्ध हुए फिर सहसा
जाग उठी थी ज्वाला जिनमें।"

—रहस्य सर्ग, पृष्ठ २७३

"स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म हो
इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे;
दिव्य अनाहत पर निनाद में
श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे।"

—रहस्य सर्ग, पृष्ठ २७३

मधु श्रद्धा के साथ अकेले नहीं रह पाते। फिर तो पूर्ण समन्वय न होता। इड़ा भी वहाँ मानव तथा अपनी प्रजा समेत आ जाती है। उनके

पूर्ण समन्वय

साथ एक वृषभ भी था जो धर्म का प्रतीक है। धर्म को साथ लेकर हम आनन्द के लोक में पहुँच सकते हैं। आनन्द-लोक को प्राप्त कर धर्म अनावश्यक हो जाता है। वहाँ उसका उत्सर्ग कर दिया जाता है। वहाँ पहुँचकर इड़ा ने श्रद्धा के आगे सिर झुका दिया था यही हृदयवाद और बुद्धिवाद का समन्वय है—

"भर रहा अंक श्रद्धा का
मानव उसको अपना कर;
था इड़ा शीश चरणों पर
वह पुलक भरी गद्गद् स्वर—"

—आनन्द सर्ग, पृष्ठ २८६

वैर का शमन

मनु ने भी उदारतापूर्वक इड़ा से अपना वैर भाव दूर कर दिया और कहने लगे—

"हम अन्य न और कुटुम्बी
हम केवल एक हमीं हैं;
तुम सब मेरे अवयव हो
जिसमें कुछ नहीं कमी है।
शापित न यहाँ है कोई
तापित पापी न यहाँ है;
जीवन वसुधा समतल है
समरस है जो कि जहाँ है।"

—आनन्द सर्ग, पृष्ठ २८७-२८८

"सब भेद भाव भुलवा कर
दुख सुख को दृश्य बनाता;
मानव कह रे! 'यह मैं हूँ'
यह विश्व नीड़ बन जाता!"

—आनन्द सर्ग, पृष्ठ २८६

आनन्द की झलक

जहाँ ऐसे उदार भावों की जागृति हो जाय वहाँ जीवन में आनन्द ही आनन्द दिखाई पड़ता है। सारी प्रकृति एक अलौकिक आल्हाद से स्पन्दित हो जाती है। उस दशा को प्रसादजी ने इस प्रकार वर्णन किया है—

"चिरमिलित प्रकृति से पुलकित
वह चेतन पुरुष पुरातन;

निज शक्ति तरङ्गायित था
आनन्द-अम्बु-निधि शोभन !"

आनन्द सर्ग, पृष्ठ २८६

"मांसल सी आज हुई थी
हिमवती प्रकृति पाषाणी;
उस लास रास में विह्वल
थी हँसती सी कल्याणी।

× × ×

समरस थे जड़ या चेतन
सुन्दर साकार बना था;
चेतनता एक विलसती
आनन्द अखण्ड घना था।"

—आनन्द सर्ग, पृष्ठ २९४

प्रसादजी ने वर्तमान रहस्यवाद के सम्बन्ध में कहा है कि इसमें अपरोक्ष अनुभूति समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा अहं का इदं से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न है। उपर्युक्त पँक्तियों में अहं और इदं का समन्वय है और उसी के साथ जड़ और चेतन की समरसता तथा उससे उत्पन्न होने वाले आनन्द का उद्घाटन। कामायनी का अन्तिम दृश्य रहस्यवाद का अच्छा उदाहरण है।

प्रसादजी शैव मत के अनुयायी थे जिसमें आनन्द को विशेष महत्व दिया गया है। प्रसादजी का कथन है कि आर्य लोग आनन्दवाद के मानने वाले थे। उनके हृदय में जीवन का उल्लास था जो यज्ञों में उद्वेलित हो उठता था। जो आर्य लोग इस आनन्दवाद से सहमत न हो सके वे व्रात्य कहलाये। वे तर्कवाद की ओर गये और आशावादी बने।

रहस्यवाद की व्याख्या कामायनी के समझने में प्रसादजी के रहस्यवाद शीर्षक लेख से दिया हुआ नीचे का उद्धरण विशेष रूप से सहायक होगा—

"उपनिषद् में आनन्द की प्रतिष्ठा के साथ प्रेम और प्रमोद की भी कल्पना हो गई थी जो आनन्द सिद्धान्त के लिए आवश्यक है। इस तरह जहाँ एक ओर भारतीय आर्य व्रात्यों में (जिनमें बौद्ध, जैन आदि सम्मिलित हैं) तर्क के आधार पर विकल्पात्मक बुद्धिवाद का प्रचार हो रहा था वहाँ प्रधान वैदिक धारा के अनुयायी आर्यों में आनन्द का सिद्धान्त भी प्रचारित हो रहा था। वे कहते थे—'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुते न' (मुण्डक)।

'नैषा तर्केण मतिरा मने' या (कठ) आनन्दमय आत्मा की उपलब्धि विकल्पात्मक विचारों और तर्कों से नहीं हो सकती।

कामायनी में आर्यों के इसी मान्य सिद्धान्त की स्थापना की गई है। इस आनन्दवाद में तप द्वारा इन्द्रियों को कष्ट देने की आवश्यकता नहीं और न मन के निग्रह की क्योंकि शैवागमों के अनुयायी सारे विश्व को शिवमय मानते हैं फिर मन शिव को छोड़ कर जायगा कहाँ बाहर-भीतर आनन्दघन शिव के अतिरिक्त दूसरा कौन-सा स्थान है।

शैवमत

इस प्रकार कामायनी में प्रसादजी के सभी मान्य सिद्धान्तों का समावेश हुआ है और इसमें उनकी कला की अन्तिम परिणति है।

२८

आँसू की प्रेम-मीमांसा

प्रसादजी का आँसू नाम का छोटा-सा काव्य अपने आकार की लघुता एवं घनीभूत पीड़ा की रसमयी अभिव्यक्ति के कारण भौतिक आँसू का ही प्रतिरूप है। आँसू की भाँति इसके आदि में विषम वेदनामयी जलन है और अन्त में ममत्व-परत्व के द्वन्द्वों से ऊँचा उठाकर सुख-दुख का मेल कराने वाली उपेक्षा-पूर्ण मंगलमयी शान्ति की रसवृष्टि है।

परस्परानुकूलता

आँसू विरह-प्रधान काव्य है किन्तु इसका विषय वर्तमान विरह नहीं है वरन् इसका सम्बन्ध विगत विरह की मधुस्मृति तथा उसकी ज्वाला को उपशमन करने वाली जीवन-मीमांसा से है। कष्ट की वर्तमान अवस्था में रस नहीं रहता, वह लौकिक अनुभव की ही कोटि में आता है। वर्ड्सवर्थ ने कविता को विगत मनोरागों का सावकाश स्मरण कहा है—'Poetry is emotion recollected at leasure'। यह विरह स्मृतिपरक होने के कारण कम तीव्र नहीं है क्योंकि अभिलाषाएँ इन स्मृतियों को जागरित कर तीव्रता प्रदान करती रही हैं। इस प्रकार इस विरह-निवेदन में वास्तविकता और स्मृति दोनों का ही सम्मिश्रण है।

स्मृति का आधार

"अभिलाषाओं की करवट,
फिर सुप्त व्यथा का जगना
सुख का सपना हो जाना
भीगी पलकों का लगना।"

—अष्टम संस्करण, पृष्ठ ११

पूर्वानुभूत सुख एवं विरह-जन्य दुख की स्मृतियाँ मिलकर कवि के मन पर एक गहरा प्रभाव डालती हैं और वही घनीभूत पीड़ा अपने क्लिष्ट अर्थ को सार्थक करती हुई (केन्द्रीभूत और मेघस्वरूप) आँसू के रूप में बरस पड़ती है—

"जो घनीभूत पीड़ा थी
मस्तक में स्मृति सी छाई
दुर्दिन में आँसू बनकर
वह आज बरसने आई।"

—पृष्ठ १४

यहाँ तो स्मृति उपमान रूप में ही आई है किन्तु इस काव्य का उदय स्मृतियों से ही हुआ है। वे स्मृतियाँ मिलन और विरह से सम्बन्ध रखती हैं और प्रकाशमयी हैं। वे जलन की भी स्मारक हैं और मिलन की भी।

"बस गई एक बस्ती है
स्मृतियों की इसी हृदय

—पृष्ठ ९

× × ×

इस ज्वालामयी जलन के
कुछ शेष चिन्ह हैं केवल
मेरे उस महामिलन के।"

—पृष्ठ ९

अग्नि और चन्द्रिका

आँसू में केवल विरह-निवेदन ही नहीं है और न इसका अंत भौतिक मिलन में है वरन् इसमें एक जीवन मीमांसा और तत्त्व चिंतन भी है जिसके आलोक में वेदना वैयक्तिक बन्धनों से मुक्त होकर एक दिव्य आभा धारन कर लेती है और कवि-सौन्दर्य के एक मानसिक आदर्श में मग्न होकर एक उपेक्षामय शान्ति प्राप्त करता है। इस प्रकार आँसू के लौकिक और अलौकिक दोनों ही पक्ष हैं।

प्रसादजी ने केवल उस अन्तर्ज्वाला के ही दर्शन नहीं कराये हैं जो विश्वमन्दिर के मणिदीप सदृश तारकों की झिलमिल छाया में भी निरन्तर जलती रहती है वरन् उस चन्द्रिका की भी ललित-कलित झाँकी दिखलाई है जो कामना द्वारा इस अग्नि को प्रदीप्त रखती है—

"सौन्दर्य सुधा बलिहारी
चुगता चकोर अंगारे।"

—पृष्ठ ४३

प्रसादजी ने सौन्दर्य-सम्पन्न प्रेम-पात्र के साथ मिलने के उस पीयूष प्रभाव का भी जो जीवन को सरसता प्रदान करता है, दिग्दर्शन कराया है।

प्राचीन ढंग

प्रसादजी ने उस सौन्दर्य का वर्णन कुछ-कुछ प्राचीन कवियों के ढंग का ही किया है, देखिए—

"उज्ज्वला स्नान कर आये
चन्द्रिका पर्व जैसी
उस पावन तन की शोभा
आलोक मधुर थी ऐसी!"

—पृष्ठ २४

इस पद्य में हमको तुलसीदासजी के 'जो छवि सुधा पयोनिधि होई। परम रूप मय कच्छप सोई॥' से प्रारम्भ होने वाले रूपकमय सौन्दर्य-वर्णन का वर्तमानकालीन रूप मिलता है।

सार्थक अलंकार

इस सौन्दर्य के वर्णन में प्रसादजी ने अलंकारों का जो प्रयोग किया है वह उनके हृदय की भावना और उमङ्ग का द्योतक है। देखिए—

"लावण्य-शैल राई सा
जिस पर वारी बलिहारी
उस कमनीयता कला की
सुषमा थी प्यारी-प्यारी।"

लावण्य-शैल को राई बनाकर एक विरोध का ही चमत्कार नहीं उत्पन्न किया है वरन् उसके प्रयोग को सार्थक बना दिया है। नजर से बचाने के लिए राई-नौन उतारा जाता है। प्रसादजी ने अपने प्रेम-पात्र के वर्णन में जिन अलङ्कारों का प्रयोग किया है वे बड़े ही सार्थक हैं।

प्रसादजी ने कहीं-कहीं किसी अंग के वर्णन में रीतिकालीन कवियों का अनुकरण किया है। साथ ही परम्पराभुक्त उपमानों की अनुपयुक्तता दिखला कर एक प्रकार का आद्भुत्य और चमत्कार भी उत्पन्न कर दिया है। देखिए—

अनुपयुक्तता

"विद्रुम सीपी सम्पुट में
मोती के दाने कैसे ?
है हंस न, शुक यह, फिर क्यों
चुगने को मुक्ता ऐसे ?"

—पृष्ठ २३

हमारा उद्देश्य प्रसादजी के अलंकार-विधान पर प्रकाश डालना नहीं है वरन् यह कि ऐसे वर्णनों को देखकर प्रश्न होता है कि प्रसादजी के आँसू का आलम्बन कोई हाड़, मांस, चाम का लौकिक व्यक्ति है अथवा उस लौकिक व्यक्ति का अस्तित्व केवल अलंकारिक है और उसके द्वारा अलौकिक प्रेम-पात्र की ओर संकेत किया गया। ऐसे वर्णन तथा कुछ और वर्णनों को (जैसे—'बाँधा था विधु को किसने इनकाली जंजीरों से') देखते हुए यह कहना कठिन है कि आँसू का आलम्बन भौतिक नहीं है। इसके विपरीत कुछ ऐसे भी उदाहरण हैं जिनसे अलौकिक की ओर संकेत है। देखिए—

आलम्बन

"छायानट छवि परदे में
सम्मोहन वेणु बजाता
संध्या कुहुकिनि अञ्चल में
कौतुक अपना कर जाता।"

"उस अलस उषा में देखूँ
अपनी आँखों का तारा।"

—पृष्ठ ६७

कुछ लोगों ने जैसे रामकुमार वर्मा ने आँसू का आलम्बन वास्तविक माना है और प्रोफेसर नगेन्द्र ने कवि की वासना का प्रतीक रूप। किन्तु आँसू के पढ़ने से मालूम होता है कि इसका आलम्बन तो वास्तविक व्यक्ति ही था फिर विफल वेदना के कारण उसका निराकरण होकर वह सौन्दर्य का आदर्शमात्र रह गया है और विरह भी ममता शून्य होकर मङ्गलमय हो जाता है। नीचे की पंक्तियों में व्यक्तित्व की ओर स्पष्ट संकेत है। देखिए—

वास्तविक व्यक्ति

"प्रतिभा में सजीवता-सी
बस गई सुछवि आँखों में
थी एक लकीर हृदय में
जो अलग रही लाखों में।

—पृष्ठ २०

सांसारिक प्रेम यदि खिलवाड़ नहीं है तो उससे व्यक्ति का ही मान होता है। विरह भी व्यक्ति का ही होता है। विरह ही निर्व्यक्तीकरण की ओर ले जाता है। उद्धव गोपियों को ब्रह्म में मन लगाने का उपदेश देकर उनके आलम्बन का निर्व्यक्तीकरण करना चाहते थे लेकिन यह नहीं हो सका। प्रसादजी का निर्व्यक्तीकरण आत्मचिन्तन का फल है। वैसे भी स्त्री और पुरुषों की भावना की मात्रा में अन्तर रहता है।

आँसू में हम भावना और चिन्तन का एक सुखद सम्मिश्रण पाते हैं। भावना चिन्तन के अधीन हो अपनी पूर्ति करती दिखाई देती है। आँसू में प्रसादजी के तीन व्यक्तित्व—प्रेमी, कवि और दार्शनिक—मिले हुए हैं। उनका कवित्व प्रेमी के विरह को बल देता है फिर जब वह विरह चारों ओर भटका लेता है तब उनका कवि दार्शनिक और प्रेमी का मेल कराकर उसे विश्व

भावना और चिन्तन

मण्डल की ओर ले जाता है।

प्रसादजी की प्रेम-पद्धति की पृष्ठभूमि में सर्वेश्वरवाद है। वे

सर्वेश्वरवाद का आधार अपने लौकिक प्रियतम में भी ईश्वर की ही विभूति देखते हैं—

"गौरव था, नीचे आए
प्रियतम मिलने को मेरे।
मैं इठला उठा अकिंचन,
देखे ज्यों स्वप्न सवेरे।"

—पृष्ठ १७

व्यक्ति और कवि के सहयोग की बात का आभास हमको नीचे की

व्यक्ति और कवि पंक्तियों में मिलता है—

"मैं अपलक इन नयनों से
निरखा करता उस छवि को
प्रतिभा डाली भर लाता
कर देता दान सुकवि को।"

—पृष्ठ १८

पहली दो पंक्तियों में व्यक्ति की ओर संकेत है अन्तिम दो पंक्तियों में प्रतिभा द्वारा कवि की ओर संकेत है।

कवि ने मिलन के आनन्द को भी द्विगुणित कर दिया और विरह पर भी शान चढ़ा दी।

प्रसाद नाम के व्यक्ति का प्रियतम चला जाता है। उसके आने और चले जाने के प्रभाव को कवि एक छन्द में कह देता है। उसने जो उपमान चुने हैं वे आश्रय और आलम्बन दोनों से ही सम्बन्ध रखते हैं।

विरह की मनोदशा 'मादकता से आए तुम, संज्ञा से चले गए थे' (पृष्ठ ३३)। प्रियतम स्वयं मद भरा था और आश्रय पर उसका प्रभाव भी मादकता-का-सा था। वे और उनके जाने से आश्रय संज्ञा शून्य हो गया मानो वे स्वयं उसकी संज्ञा-स्वरूप थे। मादकता के आने पर संज्ञा का

चला जाना स्वाभाविक है । उसके चले जाने से सारा दृश्य पलट जाता है, 'बिनु गुपाल बैरिन भई कुन्जैं' की बात हो जाती है—

"जल उठा स्नेह, दीपक-सा,
नवनीत हृदय था मेरा
अब शेष धूम रेखा से
चित्रित कर रहा अँधेरा।"

—पृष्ठ ३०

"नीरव मुरली, कलरव चुप
अलिकुल थे बन्द नलिन में
कालिन्दी बही प्रणय की
इस तममय हृदय पुलिन में।"

—पृष्ठ ३१

जहाँ चाँदनी थी वहाँ अंधकार हो गया। स्वर्गगंगा का स्थान कालिन्दी ने ले लिया और वह भी तममय हृदय-पुलिन में बहती है। विरह-विह्वला करुणा से प्रेम का रंग छूटता नहीं है वरन् और भी गहरा हो जाता है। इस सम्बन्ध में कवि कहता है—

"अब छुटता नहीं छुड़ाए
रँग गया हृदय है ऐसा
आँसू से धुला निखरता
यह रंग अनोखा कैसा।"

—पृष्ठ ३७

'ज्यों-ज्यों बूड़े श्याम रंग त्यों-त्यों उज्ज्वल होय' की बात तो नहीं है किन्तु रंग पक्का होने के कारण निखरता ही है, फीका नहीं पड़ता है।

विरह की इस विषम वेदना में कवि विश्व से परिचय प्राप्त कर लेता
खोज है। इसमें कवि का दृढ़ निश्चय और उसकी
प्रयत्नशीलता का परिचय मिलता है—

"चमकूँगा धूल कणों में
सौरभ हो उड़ जाऊँगा
पाऊँगा कहीं तुम्हें तो
ग्रह-पथ में टकराऊँगा ।"

—पृष्ठ ४३

वह चारों ओर भटक आता है, भटकने पर भी कहीं कूल-किनारा नहीं मिलता है। विश्राम की कहीं झलक भी दिखाई नहीं देती—

"वेदना विकल फिर आई
मेरी चौदहों भुवन में
सुख कहीं न दिया दिखाई
विश्राम कहाँ जीवन में ?"

—पृष्ठ ५३

कल्पना का सहारा कवि की कल्पना व्यक्ति को सहारा देती है। वह रोई हुई आँखों में ही निद्रा द्वारा सुख-स्वप्नों में अथवा कवि के काल्पनिक लोक की अलौकिक सुषुमा के रसास्वादन में आशा की किरण की झलक पाता है—

"उच्छ्वास और आँसू में
विश्राम थका सोता है
रोई आँखों में निद्रा
बनकर सपना होता है।"

—पृष्ठ ५३

फिर स्वर्ग-गंगा कालिन्दी और तम का स्थान ले लेती है और उनमें श्वेत कमल खिलने लगते हैं। श्वेतता आशावाद का प्रतीक है। यही प्रसादजी की प्रतीकात्मक शैली है।

विस्मृति इस विश्राम और स्वप्न का सुख लेने के लिए विस्मृत की मदिरा आवश्यक है। यही विस्मृति और उपेक्षा प्रसादजी की अमृतधारा है। कामायनी में मनु भी निराश हो विस्मृति का आह्वान करते

है। देखिए—

"विस्मृति समाधि पर होगी
वर्षा कल्याण जलद की।
—पृष्ठ ५५

× × × ×

संध्या हो सर्ग प्रलय की
विच्छेद मिलन फिर होगा।"
—पृष्ठ ५६

यह विस्मृति अंतिम नहीं है। यदि अन्तिम होती तो वह मृत्यु का पर्याय हो जाती। कवि अपने हृदय की ज्वाला को भी ज्वाला का महत्व जाग्रत रखना चाहता है। उसको यह मानवता का सौभाग्य चिह्न (रोली) कहता है और उसमें वह मानवता के कलुष के शमन की आशा देखता है—

"जीवन सागर में पावन
बड़वानल की ज्वाला-सी
यह सारा कलुष जलाकर
तुम जलो अनल बाला सी।"
—पृष्ठ ६१

ज्वाला का शान्त होना, प्रगति का चिह्न है। वेदना के पावन प्रभाव को प्रसादजी स्वीकार करते हैं। वह जीवन को गति देने के लिए आवश्यक है। इसके साथ एक जीवन-मीमांसा का भी अनुपान है जो विस्मृति की औपत्ति से कहीं अधिक महत्व रखता है और वह सर्वथा भारतीय संस्कृति के अनुकूल भी है।

इस मीमांसा के दो अंग हैं एक प्रेमपात्र का निर्व्यक्तीकरण (जिसका उपदेश उद्धव ने गोपियों को दिया था) और ममत्व का त्याग इस मीमांसक प्रसाद का, दार्शनिक व्यक्ति का सहायक होता है। जैसा जीवन मीमांसा ऊपर कहा गया है, प्रसादजी के प्रेम का आधार

सर्वेश्वरवाद है। वे निराशा से ध्वंस चिता से अपने में सोई हुई विश्वात्मा को जगाते हैं और फिर जीवन में रस लेकर विश्वमंगल की कामना करते हैं। देखिए—

"जिसके आगे पुलकित हो
जीवन है सिसकी भरता
हाँ मृत्यु नृत्य करती है
मुसक्याती खड़ी अमरता।।"

—पृष्ठ ६४

"वह मेरे प्रेम विहँसते
जागो, मेरे मधुवन में
फिर मधुर भावनाओं का
कलरव हो इस जीवन में।।"

—पृष्ठ ६४

अपनी सौन्दर्य-पिपासा की तृप्ति के लिए कवि एक काल्पनिक आदर्श काल्पनिक आदर्श उपस्थित कर लेता है। उसी की मानसिक पूजा में वह मग्न हो जाना चाहता है—

"जिसमें इतराई फिरती
नारी - निसर्ग - सुन्दरता
छलकी पड़ती हो जिसमें
शिशु की उर्मिल निर्मलता।"

—पृष्ठ ६८

शिशु की निर्मलता को मिलाकर सौन्दर्यवासना को सात्विक बना दिया है। उसी को वे अपनी मानव-पूजा का प्रतीक बनाना चाहते हैं। देखिए—

"मेरी मानस पूजा का
पावन प्रतीक अविचल हो।"

—पृष्ठ ६८

इस मीमांसा का दूसरा अंग है ममत्व के त्याग द्वारा सुख-दुःख का मेल। यह अहंकार ही तो दुख का कारण है। इसके त्याग से दुःख सुख नहीं रहता। कवि जीवन में दुःख-सुख को मिला ममत्व का त्याग हुआ मानता है। तुलसीदासजी ने भी इसी संसार में पाप-पुण्य दिनरात का संमिश्रण माना है। कवि मन में सुख दुःख को मिले हुए प्रेम के साथ मन मन्दिर में सोते हुए देखता है—

"लिपटे सोते थे मन में
सुख दुख दोनों ही ऐसे
चन्द्रिका अँधेरी मिलती
मालती कुञ्ज में जैसे।"

—पृष्ठ ४८

किन्तु बाह्य-जगत् में दुःख और सुख का कुछ संघर्ष दिखाई देता है। दुःख पृथ्वी के ही बाँट पड़ा है। कवि दुख को संसार दुख-सुख का संघर्ष में व्याप्त देखता है और पृथ्वी में दुःख का आरोप भी करता है। सागर का खारी पानी उसके आँसुओं का ही पुञ्जीभूत रूप है—

"नीचे विपुला धरणी है
दुख भार वहन सी करती
अपने खारे आँसू से
करुणा सागर को भरती।"

—पृष्ठ ४८

दुःख और सुख के सम्बन्ध में अभिलाषाओं और वास्तविकता में अन्तर दिखाई पड़ता है। 'धरणी दुख माँग रही है, आकाश छीनता सुख को'। जब आकाश सुख को छीन लेता है तब दुःख को अपनाने के सिवाय रह ही क्या जाता है? सुख के लिए भी कवि दुःख को आवश्यक समझता है। एक दुःख दूसरे के सुख का कारण बन जाता है—

"उनका सुख नाच उठा है
यह दुख-द्रुम-दल हिलने से
शृङ्गार चमकता उनका
मेरी करुणा मिलने से।"

—पृष्ठ ५०

करुणा की अपेक्षा

दुःख आवश्यक है। सौन्दर्य के लिए भी करुणा की अपेक्षा है। दुःख भी तीव्रता और कटुता ममता के ही कारण है। जब कवि यह गाता है कि 'घर-घर में दिवाली है मेरे घर में अँधेरा' तब इस विवेचना के कारण उसका अहंभाव ही होता है। यदि यह अहंभाव मिट जाय तब दुःख की तीव्रता और कटुता जाती रहती है—

"हो उदासीन दोनों से
दुख सुख से मेल करायें
ममता की हानि उठाकर
दो रूठे हुए मनाएँ।"

—पृष्ठ ५०

आँसू का आरम्भ वेदना से होता है और अन्त अश्रु-हास से मिली हुई जीवन को हरियाली देने वाले वर्षों से होता है। इसके काव्य के आदि में प्रेम का लौकिक पक्ष है और अन्त में उसके अलौकिक रूप की झाँकी मिलती है। लेकिन उसको वहाँ तक पहुँचने में निराशा

उपसंहार

और वेदना का पथ पार करना पड़ता है। लौकिक प्रेम का अनुभव अलौकिक प्रेम को मानवता प्रदान करता है। कवि अपने अहंकार की हानि कर उस रसभूमि सृष्टि में पहुँच जाता है, जहाँ आनन्द ही आनन्द है। इसी अवस्था की कल्पना करता हुआ आशा करता है—

"हे जन्म-जन्म के जीवन
साथी संसृति के दुख में

पावन प्रभात हो जावे
जागो आलस के सुख में
जगती का कलुष अपावन
तेरी विदग्धता पावे
फिर निखर उठे निर्मलता
यह पाप पुण्य हो जावे ॥"

—पृष्ठ ७४

२९

पन्तजी की उत्तरा का युग सन्देश

भाव और विचार

यद्यपि कविता को रसात्मक वाक्य कहा गया है तथापि उसमें कोरी शक्कर के शर्बत का मिठास मात्र नहीं, उसमें फलों के रस के पौष्टिक तत्त्व भी रहते हैं। रस में पानी की तरह की ही शक्ति नहीं होती वरन् उसमें पोषक तत्त्वों का सार और संजीवनी शक्ति भी रहती है। नवीन कविता में भावुकता अवश्य है किन्तु उसमें विचारों की प्रेरणा बढ़ती जाती है। कुछ लोग विचारों को कविता के लिए भार-स्वरूप समझते हैं किन्तु आज का कवि उन विचारों को कल्पना और कला के पर देकर जड़ भार होने से बचाए रखता है। विचारों का गुरुभार भी स्वप्नों की भाँति हलका बन जाता है और विचारों का भार प्राचीन काल के जड़ अलङ्कारों के भार से कहीं अधिक मधुर और श्रेयस्कर है। मनुष्य में हृदय और मस्तिष्क दोनों रहते हैं। आज का कवि हृदय की सरसता के साथ विचार की भी पौष्टिक सामग्री देता है। इसी को अपने यहाँ कान्ता-का-सा प्रेम-पूर्वक उपदेश कहा है। साहित्य '**हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः**' को सुलभ बनाता है—वह श्रेय को प्रेय रूप देता है। श्रेय और विचार से खाली साहित्य खोखला और सारहीन है, वह कोरी खाँड का भी नहीं सक्रीन का शर्बत है और विचारपूर्ण साहित्य सद्य, शुद्ध और गुणकारक सात्त्विक वनोषधियों से बना हुआ पौष्टिक अवलेह है।

श्री सुमित्रानन्दन पन्त उन्हीं विचारक कवियों में से हैं जिन्होंने युग की

समस्याओं का अध्ययन कर उनको अपने काव्य में मुखरित किया है। वे भारत के नवजागरण से प्रभावित हुए हैं। उन्होंने भारत के आध्यात्मिक मिशन को पहचाना है और उसको पश्चिम के जीवन-सौष्टव का पूरक माना है। उन्होंने प्राची के अरुणोदय में भू के तम-नाश की सम्भावना देखी है।

प्राची का अरुणोदय

"पश्चिम का जीवन-सौष्ठव हो विकसित विश्व तन्त्र में वितरित,
प्राची के नव आत्मोदय से स्वर्ण द्रवित भू तमस तिरोहित॥"
—स्वर्ण किरण

पन्तजी वीणा और पल्लव की कविताओं में तो सौन्दर्योपासक के रूप में आते हैं किन्तु उस वाह्य सौन्दर्य में भी एक नित्य जगत् की ओर संकेत है। पन्तजी लिखते हैं—'वीणा काल के प्राकृतिक सौन्दर्य का सहवास पल्लव की रचनाओं में भावना के सौन्दय की माँग बन गया है, प्राकृतिक रहस्य की भावना ज्ञान की जिज्ञासा में परिणत हो गई है।' परिवर्तन शीर्षक कविता में दार्शनिक चिन्तन का सूत्रपात होता है। उसमें अनित्य में नित्य और अनेकता में एकता देखने और स्थैर्य के प्रति विद्रोह की भावना की झलक मिलती है। युगान्त में नित्य सत्य की भावना और भी मुखरित हो उठती है और उसमें कवि जीवन के भीतर नित्य जगत के सौन्दर्य को देखने लगता है—

वीणा काल का प्राकृतिक सौन्दर्य

"सुन्दर जीवन का क्रम रे सुन्दर सुन्दर जन जीवन"

'ज्योत्स्ना' में उनके विचार और भी स्पष्ट होते हैं और उसमें विचार की द्विविध धारा के दर्शन मिलते हैं—एक समदिक्वर्तिनी जो अपने चारों ओर देखती है (इसमें भेद-बुद्धि अधिक रहती है) और दूसरी उर्द्धगामिनी, जो ऊपर उठ कर देखती है, इसमें ऐक्य और आध्यात्मिकता का प्राधान्य रहता है। इन दोनों धाराओं का नवीन सामाजिकता (मानवता) में समन्वय हुआ है।

दो धाराएँ

पहली प्रवृत्ति (समदिकता) का विशेषीकरण युगवाणी और ग्राम्या में मिलता है, दूसरी का दर्शन उनके स्वर्ण-साहित्य में, अर्थात् स्वर्णधूलि और स्वर्णकिरण में। इन दोनों पुस्तकों में भी समन्वय-बुद्धि उनके साथ रही है। वे लिखते हैं—ग्राम्या और युगवाणी में यदि ऊर्ध्व मानों का सम धरातल पर समन्वय हुआ है तो स्वर्णकिरण और स्वर्णधूलि में समतल मानों का ऊर्ध्व धरातल पर। उत्तरा में इन धाराओं का संगम है, इस संगम में दोनों धाराओं को पूर्ण महत्व मिला है।

उत्तरा को समझाने के लिए सबसे अच्छी व्याख्या पन्तजी द्वारा लिखी हुई भूमिका है—'तसनीफ रा मुसनिफ नेको कुनद बयां' अर्थात् कृति की व्याख्या स्वयं लेखक ही अच्छी तरह कर सकता है। पन्तजी की भूमिका का सार इस प्रकार है।

प्रगतिवाद के सम्बन्ध में पन्तजी लिखते हैं—'ये आलोचक अपने संस्कृतिक विश्वासों में मार्क्सवादी ही नहीं, अपने राजनीतिक विश्वासों में कम्युनिस्ट भी हैं। मैं मार्क्सवाद की उपयोगिता एक व्यापक समतल सिद्धान्त की तरह स्वीकार कर चुका हूँ किन्तु सांस्कृतिक दृष्टिकोण से उसके रक्तक्रान्ति और वर्गयुद्ध के पक्ष को मार्क्स के युग की सीमाएँ मानता हूँ।'

प्रगतिवाद के सम्बन्ध में विचार

कहने का तात्पर्य यह है कि वे मार्क्सवाद के समता के लक्ष्य को मानते हैं किन्तु मार्क्सवाद ने जो वर्गयुद्ध (पूँजीपतियों और सर्वहारा का युद्ध) और रक्तक्रान्ति का प्रचार किया है उनको वे मार्क्स के युग की सीमाएँ मानते हैं। पन्तजी मार्क्सवाद के जनतावाद को बाह्य रूप मात्र समझते हैं। उसकी पूर्ति वे भारतीय दर्शन के एकात्मवाद की अन्तर्दृष्टि से करना चाहते हैं और वर्ग संघर्ष और रक्तक्रान्ति को आवश्यक नहीं समझते हैं। वे गांधीवाद के अहिंसात्मक साधनों को अधिक महत्व देते हैं।

भारतीय दर्शन के सम्बन्ध में योगी अरविन्द और परिव्राजक विवेकानन्द से अधिक प्रभावित हैं इस सम्बन्ध में पन्तजी के विचार उनकी भाषा में नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

मानववाद

"अपने युग को मैं राजनीतिक दृष्टि से जनतन्त्र का युग और सांस्कृतिक दृष्टि से विश्व मानवता या लोक मानवता का युग मानता हूँ।...मेरा दृढ़ विश्वास है कि केवल राजनीतिक, आर्थिक हलचलों की बाह्य सफलताओं द्वारा ही मानव जाति के भाग्य (भावी) का निर्माण नहीं किया जा सकता। इस प्रकार के सभी आन्दोलनों को परिपूर्णता प्रदान करने के लिए संसार में एक व्यापक सांस्कृतिक आन्दोलन को जन्म लेना होगा जो मानव-चेतना को राजनीतिक, आर्थिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक सम्पूर्ण धरातलों में मानवीय सन्तुलन तथा सामञ्जस्य स्थापित कर आज के जनवाद को विकसित मानववाद का स्वरूप दे सकेगा।"

पन्तजी प्रगतिवाद की मान्यताओं के साथ वर्ग-युद्ध को भारत के लिए अनावश्यक और हानिकारक समझते हुए भी एक आवश्यक बुराई के रूप में स्वीकार करने को तैयार हो सकते हैं किन्तु सुधार और जागरण के प्रयत्नों को भी जिनको प्रगतिवाद प्रतिगामी, सामन्तशाही और पूँजीवाद का छल तथा शराब की-सी अस्वस्थ मादकता उत्पन्न करने का साधन समझता है, अपनाने को उत्सुक है। वे कवि और अन्तर्द्रष्टा हैं। वे कोलाहल और विक्षोभ को जनजीवन के सङ्गीत में बदलना चाहते हैं। उनका विश्वास है कि...'विक्षोभ के आर्तनाद तथा क्रान्ति की क्रुद्ध ललकार को मनुष्यता की पुकार में बदला जा सकता है एवं क्रान्ति के भीतरी पक्ष को भी सचेष्ट कर उसे परिपूर्ण बनाया जा सकता है...मैं जनवाद को राजनीतिक संस्था या तन्त्र के वाह्य रूप में ही न देख कर भीतरी प्रजात्मक मानव चेतना के रूप में भी देखता हूँ। मैं युग संघर्ष का एक सांस्कृतिक पक्ष भी मानता हूँ जो जनयुग की धरती से ऊपर उठकर उसकी ऊपरी (उच्च) मानवता की चोटी को अपने फड़कते हुए पंख से स्पर्श करता है' वे जनवाद प्रतिपादित साम्य-वाद की समता को क्रान्तिमय स्टीम रोलर से नहीं लाना चाहते हैं, उसमें जनवाद भी दब-सा जाता है वरन् उच्च मानवता के आदर्शों से उसे सम्पन्न और सरस बनाना चाहते हैं। वे लोक-संगठन के साथ मनः संगठन भी चाहते हैं 'मेरा विनम्र विश्वास है कि लोक-संगठन तथा मनः संगठन एक

दूसरे के पूरक हैं, क्योंकि एक ही युग-चेतना के बाहरी और भीतरी रूप हैं।'

आजकल का युग यन्त्र युग है, तभी यन्त्र की अंधवृत्तियाँ अपना घातक चक्र चलाती है रहती हैं। पन्तजी यन्त्र का मानवीकरण चाहते हैं। उनको इस बात का दुःख है कि हम अभी यन्त्र का मानवीकरण नहीं कर सके हैं, उसे मानवीय तथा मानव का वाहन नहीं बना सके हैं, वही हम पर प्राधिपत्य किये हुए है।

यन्त्र का मानवीकरण

वे मार्क्सवादियों की भाँति आध्यात्मिकता को भौतिकता का परिमार्जित प्रतिबिम्ब नहीं मानते हैं। उनका कथन है कि वे लोग (मार्क्सवादी) समतल का ऊर्ध्वगामिनी वृत्तियों से सामञ्जस्य न करने के कारण ही इस भ्रान्ति में पड़ गये हैं। वे समतल भूमि के यथार्थ और उर्ध्वगामिनी वृत्ति के आदर्श को एक ही अव्यक्त चेतना के दो छोर मानकर दोनों को आवश्यक समझते हैं। पन्तजी पूर्ण समन्वयवादी हैं। वे आदर्श और यथार्थ का ही समन्वय नहीं चाहते वरन् वैयक्तिकता और सामाजिकता का भी समन्वय चाहते हैं। इसी प्रकार वे एकता और विविधता का सामञ्जस्य चाहते हैं। वे लिखते हैं —

मार्क्सवाद में सामञ्जस्य का प्रभाव

"एकता का सिद्धान्त अन्तर्मन का सिद्धान्त है, विविधता का सिद्धान्त बहिर्मन तथा जीवन के स्तर का, दूसरे शब्दों में एकता का दृष्टिकोण उर्ध्व दृष्टिकोण है और विभिन्नता का समदिक्'। ऊर्ध्व और समदिक् दोनों ही दृष्टियों का वे आदर करते हैं और सत्य का अंग मानते हैं 'इस धरती के जीवन को मैं सत्य का क्षेत्र मानता हूँ, जो हमारे लिए मानवीय सत्य है' किन्तु वे इसमें सीमित नहीं रहना चाहते हैं। वे ऊपर और नीचे का समन्वय चाहते हैं 'राजनीति का क्षेत्र मानव जीवन के सत्य के सम्पूर्ण स्तरों को नहीं अपनाता, वह हमारे जीवन का धरती पर चलने वाला समतल चरण है; हमें अपने मन तथा आत्मा के शिखरों की ओर चलने वाले एक ऊर्ध्व

सञ्चरण की भी आवश्यकता है जो हमारे ऊपर के वैभव को धरती की ओर प्रवाहित कर समाज के राजनीतिक आर्थिक ढाँचे को शक्ति, सौन्दर्य, सामञ्जस्य तथा स्थायी लोक कल्याण प्रदान कर सके।' इसी ऊपर-नीचे के समन्वय को वे मानवीय संस्कृति मानते हैं।

पन्तजी उर्ध्वगामिनी वृत्ति को अरविन्द के दर्शन में मूर्तिमान देखते हैं, 'श्री अरविन्द को मैं इस युग की अत्यन्त महान तथा अतुलनीय विभूति मानता हूँ। उनसे अधिक व्यापक, ऊर्ध्व तथा अतल स्पर्शी व्यक्तित्व, जिनके जीवन दर्शन में अध्यात्म का सूक्ष्म बुद्धि अग्राह्य सत्य, नवीन ऐश्वर्य तथा महिमा में मण्डित हो उठा है, मुझे दूसरा कहीं देखने को नहीं मिला'। पन्तजी ईश्वरवादी भी हैं 'आपको व्यक्ति और विश्व के साथ ही ईश्वर को भी मानना चाहिए, तब उसके व्यक्ति और विश्वरूपी संचरणों को ठीक-ठीक ग्रहण कर सकेंगे।'

श्री अरविन्द की देन

पन्तजी ने युग-संघर्ष को देखा है और उसके भीतर से निकलने वाली मानव चेतना के भी दर्शन किए हैं। उसी चेतना को काव्य रूप देना वे कवि का कर्त्तव्य समझते हैं।

सही दृष्टिकोण

"आज के संक्रान्ति-काल में मैं साहित्य स्रष्टा एवं कवि का यही कर्तव्य समझता हूँ कि वह युग-संघर्ष के भीतर जो नवीन लोक-मानवता जन्म ले रही है, वर्तमान कोलाहल के बधिर पट से आच्छादित मानव-हृदय के मंच पर जिन विश्व निर्माण, विश्व एकीकरण की नवीन सांस्कृतिक शक्तियों का प्रादुर्भाव तथा अन्तः क्रीडा हो रही है, उन्हें अपनी वाणी द्वारा अभिव्यक्ति देकर जीवन-संगीत में झंकृत कर सके।" पन्तजी की उत्तरा का इसी दृष्टिकोण से अध्ययन करना चाहिए। पन्तजी की दृष्टि व्यापक है, वे क्षुद्र ब्योरों में नहीं जाते। वर्तमान असन्तोष के आवरण में जो व्यापक मानवता की वृत्तियाँ काम कर रही हैं उनका वे उद्घाटन करना चाहते हैं। वे वृक्षों की गिनती न कर वन के व्यापक सौन्दर्य को देखते हैं।

उत्तरा में उनकी उत्तरकालीन कविताओं का संग्रह है और इसकी गति

उत्तर या ऊर्ध्वगामिनी है। इस पुस्तक में नवीन युग के दृष्टिकोण की घोषणा की गई है—

नाम की सार्थकता

"बदल रहा अब स्थूल धरातल,
परिणत होता अब सूक्ष्म मनस्तल,
विस्तृत होता बहिर्जगत्
विकसित अंतर्जीवन अभिमत।" —उत्तरा

इस नवयुग में भौतिकवाद की स्थूल मान्यता बदल रही है। विज्ञान के लिए जड़ भूत पदार्थ जड़ नहीं रहे हैं। वे शक्ति-प्रेरित स्पन्दनों के केन्द्र बन गये हैं। भौतिकता से जगत मानसिकता की ओर जा रहा है। वहिर्जगत भी संकुचित नहीं रहा है और उसके विस्तार में ही अभीष्ट अन्तर्जीवन का विकास हो रहा है। इसी की अभिव्यक्ति के लिए इस पुस्तक का निर्माण हुआ है। कवि युग के कोलाहल और क्रन्दन से, जो समतल भूमि की भे बुद्धि से प्रभावित है, अनभिज्ञ नहीं है। वह युग विषाद, युग छाया और युग संघर्ष में उसकी अभिव्यक्ति करता है किन्तु साथ ही उसमें एक आध्यात्मिक भावना भी भर रहा है। कोलाहल आन्तरिक करुणा का उद्दीपन बन जाता है—

युग-विषाद आन्तरिक करुणा का प्रेरक

"गरज रहा उर व्यथा भार से
गीत बन रहा रोदन"

—युग विषाद

यहाँ तक युग विषाद की अभिव्यक्ति है किन्तु यह आन्तरिक करुणा के जाग्रत करने के लिए ही है।

'आज तुम्हारी करुणा के हित कातर धरती का मन' युग की वास्तविकता से प्रेरित दुख की छाया को कवि इस प्रकार प्रकाशित करता है—

"दारुण मेघ धरा घहराई, युग संध्या गहराई।
आज धरा प्रांगण पर भीषण झूल रही परछाई॥"

विगत युग की समाप्ति

किन्तु साथ ही युग की समाप्ति का भी संकेत है—

"तुम विनाश के रथ पर आओ,
गत युग का हत शव ले जाओ,
गीध टूटते, श्वान भूकते,
रोते शिवा (गीदड़) विदाई !"

—युगछाया

नये युग के आगमन की पद-झङ्कार भी तीसरे बन्ध में सुनाई पड़ती है—

"मनुज रक्त से पंकिल युग पथ
पूर्ण हुए सब दैत्य मनोरथ,
स्वर्ग रुधिर से अभिषिक्त अब,
नवयुग की अरुणाई ।"

—युगछाया

राक्षसों के मनोरथ युद्धों में पूर्ण हो गये। युग दानव आपसी फूट में मर जायँगे और मनुष्य और देवता एक हो जायँगे। इसमें मनुष्य के देवत्व की ओर संकेत है। 'कट मर जायँगे युग दानव, सुर नर होंगे भाई।' यद्यपि इसकी वास्तविकता के लिए यही कहना पड़ेगा कि 'हिनोज दिल्ली दूरस्त' तथापि संसार में प्रयत्न इस ओर भी जारी है। उन्हीं प्रयत्नों को हमें बल देना है। कवि-दृष्टि से शोषक और शोषित का भेद भी वाह्य माना गया है।

शोषक-शोषित वाह्य चेतना के प्रतीक

"शोषक है इस ओर उधर है शोषित,
वाह्य चेतना के प्रतीक जो निश्चित।"

—युग संघर्ष

मानवता की विजय में विश्वास

विश्व में जो घृणा और द्वेष-प्रेरित क्रान्ति का चक्र चल रहा है उसकी ओर भी सचेत करते हैं—

"नृत्य कर रही क्रान्ति रक्त लहरों पर,
घृणा द्वेष की उठीं आँधियाँ दुस्तर।

कौन रोक सकता उद्वेग प्रलयंकर,
मर्त्यों की परवशता, मिटते कट मर ॥"

—युग संघर्ष

किन्तु कवि का आशावाद और मानवता की अन्तिम विजय का दृढ़ विश्वास उसका साथ नहीं छोड़ता है। नये युग में धनिक और श्रमिकों का भेद मिट जायगा और खोखला तर्कवाद भी शान्त हो जायगा और नव-निर्माण की शक्तियाँ काम करने लगेंगी इस मानवता के आगे विद्युत और अणु की घातक शक्तियाँ भी नत मस्तक हो जायँगी—

"रक्त पूत अब धरा: शान्त संघर्षण,
धनिक श्रमिक मृत: तर्कवाद निश्चेतन।
सौम्य शिष्ट मानवता अन्तर्लोचन
ऊषा-मौन करती धरती पर विचरण।

× × ×

विद्युत अणु उसके सम्मुख अवनत फन,
वसुधा पर अब नव सृजन के साधन;
आज चेतना का गत वृत्त समापन,
नूतन का अभिवादन करता कवि मन।"

—युग संघर्ष

प्राचीन चेतना का युग समाप्त हो जाता है और कवि नवीन चेतना का स्वागत करता है। देश को इसी आशावाद की आवश्यकता है, इस नूतन मानवता के लाने और भू को स्वर्ग बनाने में भारत का भी हाथ होगा। हमारे अधिकांश कवियों का ध्यान नव भारत की न्यूनताओं की ओर ही अधिक गया है। वह भी एक पक्ष है किन्तु राष्ट्रोत्थान के लिये हम को भारत आध्यात्मिक मिशन की भी चेतना होनी चाहिए। पन्त ने उस चेतना को जाग्रत कर एक नये आत्मसम्मान की भावना भरी है।

नवीन चेतना का स्वागत

"उठे जूझने विश्व समर में दुर्धर,
लोक चेतना के युग शिखर भयंकर।
विश्व सभ्यता रुग्ण हृदय में,
व्याप्त हलाहल भीषण।
अमृत मेघ भारत क्या छिड़केगा,
न प्राण संजीवन।"

—जागरण गान

कवि मानवता के नव आदर्शों को जगाकर भारत को ऊर्ध्व संचरण की ओर ले जाना चाहता है और इस देश में भू के स्वर्ग को चरितार्थ करने को उत्सुक है। हमको ऐसे ही स्वप्नद्रष्टाओं की आवश्यकता है। आज के स्वप्न कल की वास्तविकता में परिणत हो जायेंगे—

उर्ध्व सञ्चरण की ओर

"विश्व मन : संगठन हो रहा विकसित,
नव जीवन संचरण ऊर्ध्व, भू विस्तृत,
नव्य चेतना केतु फहराता,
सत रंग द्रवित दिगन्तर;
आदर्शों के पोत बढ़ रहे,
पार अतल भव सागर।
स्वर्ग भूमि पर भारत,
जन मन धरणी सुन्दर;
अन्तर ऐश्वर्यों से मण्डित,
मानव हो देवोत्तर।"

—उद्‌बोधन

वे भारत को भीतर के अर्थात् आध्यात्मिक सौन्दर्य से सुसज्जित देखना चाहते हैं। आदर्शों की नाव को वे आगे बढ़ते हुए भवसागर को अर्थात् जीवन की कटुताओं और संघर्षों को पार करते हुए देखते हैं। भारत के उत्थान में ही मानवता का उत्थान है। भारत स्वयं उठेगा और संसार को उठायगा। यह स्वप्न

नवीन सौन्दर्य बोध

अवश्य है किन्तु ये स्वप्न ही भू के पंकिल पगों में पर लगाकर ऊर्ध्व-गति देते हैं । 'मिट्टी के पैरों से भव क्लान्तजनों को स्वप्नों के चरणों पर चलना सिखलाता' कवि का गीत विहग एक मिशन लेकर आता है। वह नश्वर में जो शाश्वत की ज्योति है उसका प्रकाश भू पर वितरित करता है। खण्डहरों पर वह नये प्रभात का आलोक डालता है। कवि की गीतमय दृष्टि लोपों के संहार से दूषित मानव बुद्धि को एक नवीन सौन्दर्य-बोध कराकर उन्मुक्त प्रकृति के खुले हुए बनों को स्वच्छन्दता से लहराने वाली दृश्यावली के शोभामय वक्ष का रूप-दर्शन करावेगी और भेदों से विमोहित बुद्धि को एकात्मवाद की एकता परक दृष्टि प्रदान करेगी—

"युग के खडहल पर डाल सुनहली छाया,
मैं नव प्रभात के नभ में उठ मुस्काता।
जीवन पतझर में जनमन की डाली पर,
मैं नव मधु के ज्वाला पल्लव सुलगाता।
× × ×
जर्जर मन के भेदों में सोई मति को,
मैं आत्म एकता में अनिमेष जगाता।
तम-पंगु, बहिर्मुख जग में बिखरे मन को,
मैं अन्तर सोपानों पर ऊर्ध्व चढ़ाता।"

—गीत विहग

हमारी साधारण बुद्धि हम को भेदों की ओर ले जाती है। जिनसे संघर्ष बढ़ता है। वह बाह्य दृष्टि है। हमारी अन्तर्दृष्टि अर्थात् हमारा प्रतिभ ज्ञान हमको एकता के स्वर्ग में ले जाता है। उसी एकता समन्वित दृष्टि से हमारे भेद मिट जाते हैं और भू पर ही स्वर्ग अवतरित हो जाता है। हमारे जगत में जहाँ विनाश की प्रवृत्तियाँ चल रही हैं वहाँ एकता का भी स्रोत बह रहा है। यही स्रोत हमारे लिए स्वर्ग का दूत है। कवि का यही कर्तव्य है कि इस एकता के स्रोत को निरावरण कर उसमें मानव मन को

ऐसोन्मुखी अन्तर्दृष्टि

अवगाहन करावे। स्वर्ग के सन्देश को जन-जीवन में अवतरित करके भू को स्वर्ग बना दे। कवि एकता के अन्त: स्रोत को प्रकाश में ले आता है और उनको अपने मनोभावों के रूप में व्यक्त करता है।

"मैं स्वर दूतों को बाँध मनोभावों में,
जन जीवन का नित उनको अंग बनाता।
मैं मानव प्रेमी, नव भू स्वर्ग बसाकर,
जन धरणी पर वेदों का विभव लुटाता।"

—गीत विहग

पुस्तक की अनेकों कविताओं में भू की कटुता पर छाए हुए स्वप्नों की स्वर्णिम छाया स्वर्णिम छाया का आभास मिलता है।

स्वप्नों की कली टूट कर अन्धकार में झड़ जाती है किन्तु फिर भी कवि का अदम्य आशावाद उसका साथ नहीं छोड़ता है।

"यग स्वप्नों की साँझ सुनहली,
बिखरी भू पर टूट ज्यों कली;
जन विषाद में डूब मौन
मुरझाली, रज तम में मौन।"

—स्वप्न कांत

संसार में जो भलाई और सतोगुण का स्रोत है जिसको हम ईश्वर भी कह सकते हैं, वह सदा अपने उन्नयन कार्य में अपराजित रहता है, विश्व का विकास क्रम जारी रहता है और युगों के कटु अन्तर को काल की कराल दंष्ट्राओं से ध्वस्त करता रहता है। संसार उसी सतोगुणी शक्ति के बल पर जीवित रहता है।

"जब जब घिरता तमस अपरचित,
विश्व शक्तियाँ होती अपहृत,
तुम चिर अपराजित रह लाते
जग में स्वर्ण युगान्तर।"

—स्वप्न कांत

वह शक्ति नव मानवता का रूप धारण कर संसार में आती है।

"आने को अब वह रहस्य क्षण,
तुम नव मानव मन कर धारण,
पीस रहे दंष्ट्रा कराल बन,
युग युग के कटु अन्तर।"

—स्वप्न कांत

इसमें भगवद्गीता के विराट रूप दर्शन में आये हुए 'वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्रा करालानि भयानकानि' की क्षीण छाया है।

संसार को स्वर्ग बनाने के लिए संसार के दुखों को भगवान के अर्पण करना अर्थात् उसको व्यापक दृष्टि से देख कर उनका उचित मूल्याङ्कन आवश्यक है और उसी के साथ आत्मदान भी। तभी

व्यापक दृष्टि

इस संसार के हृदय के घाव भर सकते हैं। अपने आत्मदान से ही हम संसार की विषमताओं को दूर कर सकते हैं। विषमता तभी दूर होगी जब हम त्याग की वृत्ति धारण करेंगे। दूसरों का धन हड़पने और अपने सुख-भोग को अधिकाधिक बढ़ाने से संसार की विषमताएँ दूर नहीं हो सकतीं वरन् वे बढ़ेंगी ही। भू के विषाद का गर्जन आवश्यक है। आन्दोलन और संघर्ष के अस्तित्व को और उसकी सार्थकता को कवि स्वीकार करता है किन्तु भू विषाद गर्जन के साथ मानवता की नव चेतनता का आगमन भी आवश्यक समझता है। बाहर का संघर्ष और भीतर की कटुता और पीड़ा भगवान की सात्विकता से सन्तुलन प्राप्त कर एक नवीन उन्नयन का रूप धारण कर लेंगी—

"तुम्हें करूँ जन मन दुख अर्पण
आत्मदान दे भरूँ धरा व्रण,
भू विषाद गर्जन से, उर में
बरसे नव चेतन कण!
जो बाहर जीवन से घर्षण
जो भीतर कटु पीड़ा का क्षण,

वह तुम में सन्तुलन ग्रहण कर
बने उन्नयन नूतन ।"

—जगत घन

इसके लिए मनुष्य में सहृदय दृष्टि चाहिए। उसे उर के वातायन (खिड़कियाँ) खोल देना आवश्यक है। हमारी संकीर्णता के कारण ही ईश्वर के सात्विक संदेश को हमारे हृदय तक नहीं पहुँचने देती। इसलिए हम में ग्राहकता अपेक्षित है।

"खोलो उर वातायन
आएँ स्वर्ग किरण घन
भू स्वप्नों का नूतन
रचें इन्द्रधनु मोहन।"

—अन्तर्व्यथा

स्वर्गीय संदेश की दैवी किरणें पड़ने से ही इस पृथ्वी पर सब रंगी इन्द्र धनुष के दर्शन हो सकते हैं।

कवि की आस्तिक बुद्धि नव निर्माणकारी अदृष्ट का हाथ देखती है। सुधार की भाव तरंगें मुखरित होने से पूर्व जन मन के अन्तर्चेतना गगन में प्रसारित होने लगती हैं। कवि की शक्ति उनको ग्रहण कर मुखरित करती है। कवि भविष्य का निर्माण देख रहा है, उसका मन उन तरंगों से आन्दोलित हो उठता है और वह आनन्द विभोर हो गाने लगता है—

नव निर्माणकारी अदृष्ट

"मन के भीतर का मन गाता,
स्वर्ग धरा में नहीं समाता
स्वप्नों का आवेग ज्वार उठ
विश्व सत्य के पुलिन डुबाता—
लहरा शाश्वत के जीवन में"

—आगमन

हृदय की उन्मुक्तावस्था

कवि का मन इस अन्तःसन्देश से स्पन्दित हो एक नई दीप्ति और एक नये प्रकाश का अनुभव करता है।

"हँस उठता उर का अन्धकार,
नव जीवन शोभा में दीपित,
भू पुलिन डुबाता स्वर्ग द्वार
रहता कुछ भी न अचिर सीमित"

—युग विराग

यहाँ कवि हृदय की उस मुक्तावस्था को पहुँच जाता है जिसको आचार्य शुक्ल ने रस-दशा कहा है और जिसकी साधना सच्ची कविता कहलाती है। हम भी उसी दशा को प्राप्त हो सकते हैं यदि हमारा हृदय कवि के हृदय के साथ स्पन्दन करे। वह तभी हो सकेगा जब हम अपने को वैयक्तिक अभावों और निजी स्वार्थों तथा ईर्ष्या द्वेष की कारा से मुक्त कर सकें। कवि के लिए संसार बदल जाता है। भौतिक जगत् की सीमाएँ विलीन हो जाती हैं और जीवन का अचिरत्व मिटकर एक शाश्वत छटा के दर्शन होने लगते हैं। हमारे लिए भी वह बदल सकता है, यदि वह नव मानवता के संदेश को ग्रहण करे।

'सागर सा उफनाता भूमन' और भीतर का द्वन्द्व (पर्वत पर पर्वत खड़े भीम, उड़ते तृष्णा, अज्ञान, अहं, उन्मथित धरा चेतना सिन्धु आन्दोलित अवचेतन का तम) सब विलीन हो जाते हैं।

बाहर का संघर्ष

उपनिषदों के शब्दों में 'भिद्यते हृदयग्रंथिश्छिद्यन्ते सर्व संशयः'—और कवि के शब्दों में—

"मन स्वर्ग शिखर पर मंडराता,
उर में गहराता नव जीवन,
वह अन्तर आभा से स्वर्णिम
झरता भू पर, स्वप्नों का घन।"

—मेघों का पर्वत

कवि इसी मुक्त दशा के लिए ईश्वर से प्रार्थना करता है। कवि आवश्यक गर्जन-तर्जन चाहता है किन्तु भू को नव मानवता के जल से उर्वरा बनाने के लिए। वह ढोंग और विडम्बना का खण्डन चाहता है। वह स्वार्थों को मानवपन के दिखावे में छिपाना चाहता है। वह दिखावे की रीति-नीति के बन्धनों से भी ऊँचा उठना चाहता है।

दिखावे के विरुद्ध

"स्वार्थी शुप
मुख पहने मानवपन का—
तुम छेड़ो अब अंतर रण,
मन हो प्रांगण !
लहराए प्राणों का सागर
रीति नीति के पुलिन डुबा कर
घुमड़े वाष्पों से उर अम्बर
जीवन भू को कर उर्वर,
तुम कड़को भर युग गर्जन
झरे जल कण
घृणा, घृणा, वह करती मन में नर्तन,
घृणा, घृणा, हसती आनन पर प्रतिक्षण
तुम मनुज प्रीति में उसे करो परिवर्तन—
फिर हरो धरा का प्राक्तन
भू हो चेतन"

—प्रतिक्रिया

इन पंक्तियों में कवि के हृदय का ओज मुखरित हो उठा है। कवि संसार का प्राक्तन अर्थात् पिछली घृणा का साम्राज्य बदल कर नव चेतना का राज्य स्थापित करना चाहता है। कवि चाहता है कि मानव की अव्यक्त अभिलाषाएँ जीवन की वास्तविकता में व्यक्त हो जायें। हमारी अभिलाषाओं का स्वर्ग पृथ्वी

अभिलाषाओं की अभिव्यक्ति

पर आ जाय और आशाओं के स्रोत मिलकर जीवन की स्वर तालमय गति में प्रवाहित होने लगे।

"जन-जन की आशा अभिलाषा
जिसे नहीं कह पाती भाषा,
जग जीवन के मूर्त राग में
हो समवेत प्रवाहित।"

कवि जन-जीवन के साथ स्वर्ग के आदर्शों का प्रणय-मिलन चाहता है। पृथ्वी स्वर्ग की ओर उठे और स्वर्ग के प्रतिबिम्ब स्वरूप शाश्वत सिद्धान्तों की छाया मानव हृदय पर पड़े। वह ज्ञान और भावना; बुद्धि और हृदय के सुख मिलन में स्वर्ग और पृथ्वी-परिणय के दर्शन करता है। फिर स्वर्ग के आदर्श पृथ्वी के हृदय को आन्दोलित करने लगेंगे।

भू और स्वर्ग का मिलन

"नभ के स्वप्नों से
जग जलधि हो रहस-ज्वलित,
जो अमर प्रीति से
हृदय रहे नित आन्दोलित!

× × ×

फिर ऊर्ध्व तरंगित,
हो जन धरणी का जीवन
शाश्वत के मुख का
मानव मन हो दर्पण!

× × ×

फिर स्वर्ग बन जाए
भू की हृत्तन्त्री निश्चय,
जो ज्ञान भाव भावना,
बुद्धि हृदय का हो परिणय।"

—परिणय

कवि को इस परिणय के फलस्वरूप संसार दैवी सुन्दरता से व्याप्त दिखाई देने लगता है। संसार की प्रत्येक क्रिया में भगवान की साम्यमयी शक्ति का स्पन्दन सुनाई पड़ता है। सारा संसार एक शोभा का उत्सव बन जाता है और सारा विश्व मङ्गल ध्वनि से गूँजने लगता है।

"अरुणोदय नव, लोकोदय नव।"

—जीवन उत्सव

इस प्रकार पृथ्वी और आकाश का आदान-प्रदान होता है। कवि भगवान की लोकोत्तर विभूति को जग जीवन में उतार कर उसको समृद्ध बनाना चाहता है। संसार की पीड़ा से थके हुए मानव

ईश्वरीय करुणा

को कवि ईश्वरीय करुणा का संबल देता है—

"जीवन-बाहों में बाँध सकूँ,
सौन्दर्य तुम्हारा नित नूतन।
जन मन में मैं भर सकूँ अमर
संगीत तुम्हारा सुर मादन।"

—युगदान

यद्यपि जड़ भौतिक पदार्थ आदर्शों की गतिमयता को रोक नहीं सकते हैं मानव का विकास अवश्यंभावी है—'तुम क्या घनत्व में बाँधोगे द्रव की गतिप्रियता, निर्मम जड़त्व में आँकोगे जीवन की

आदान-प्रदान

चेतन कोमलता' तथापि पूर्ण सत्य में मिट्टी और आकाश दोनों का स्थान है। वे एक दूसरे की चाहे खिल्ली उड़ावें वे एक दूसरे के लिए अनिवार्य हैं।

"तुम भाप उन्हें कहलो, हँसकर
वे तुमको मिट्टी का ढेला?
वे उड़ सकते, तुम अड़ सकते,
जीवन तुम दोनों का मेला"

—सत्य

इसी प्रकार राष्ट्रीय जीवन के लिए पश्चिम की जड़ भौतिकता और पूर्व की ऊपर उड़ने वाली आध्यात्मिक चेतना आवश्यक है। सत्य में जड़, चेतन, शान्त, अनन्त सबको स्थान है।

इस संग्रह में धरा स्वर्ग के मिलन के गीतों के अतिरिक्त, प्रकृति, प्रेम और प्रार्थना-सम्बन्धी कविताएँ भी हैं। प्रकृति के वर्णनों में प्रायः वर्षा के बादलों, शरद की चाँदनी और बसन्त से नव निर्माण का वर्णन हुआ है। इसके उदाहरणस्वरूप मेघों के पर्वत, शरदागम, शरद-चेतना, चन्द्रमुखी, शरदश्री, वनश्री, वसन्तश्री, रंग मंगल आदि कविताएँ उपस्थित की जा सकती हैं। प्रकृति के वैभव का वर्णन, जैसा पल्लव आदि की कविताओं में उसकी शोभा-सुषमा से प्रभावित होकर हुआ है वैसा नहीं है। यहाँ तो प्रकृति का उपयोग अधिकांश में रूपकों और प्रतीकों के रूप में हुआ है। जैसा हम देख चुके हैं कवि के जीवन में व्याप्त संघर्ष को चित्रित कर उसी के साथ मानवता प्रधान नवीन सृजन की मंगल-आशा प्रकट की है। प्रकृति को भी विचार और भावना की इन्हीं दोनों धाराओं में बाँधा है। मेघों का गर्जन-तर्जन अन्याय के प्रति विद्रोह का प्रतीक है। वर्षा करुणा और नव सृजन की प्रतीक है।

प्रकृति चित्रण

जगत घन सांसारिक आपत्तियों के प्रतीक हैं **'जब जब घिरे जगत घन मुझ पर'** तम अज्ञान का प्रतीक है **'तुम तम का आवरण उठाओ'** 'मौन सृजन' में शिशिर और वसन्त निर्जीव पुरातन के नाश और सृजन के प्रतीक हैं। **'तुम शाश्वत शोभा के मधुवन शिशिर बसंत जहाँ रहते क्षण'** नीचे के छन्द में प्रकृति के व्याप्त हर्ष, सौन्दर्य और संगीत का वर्णन है। यह भगवान की सृजन-शक्ति के प्रसार से उत्पन्न होता है।

प्रतीकात्मकता

"रंगों में गाता कुसुमाकर,
सौरभ में मलयानिल निःस्वर

नील मौन में गाता अंबर
मधुर तुम्हारा स्पर्श पा अमर !"

—मौन सृजन

मेघों के पर्वत में प्रकृति का कुछ उग्र रूप देखने को मिलता है। इसमें प्रकृति संसार में व्याप्त संघर्ष की द्योतक बनकर आती है। इसमें प्राकृतिक रूपक और उपमाएँ हैं।

'यह मेघों की चल भूमि बह रहे जहाँ उनचास पवन' यहाँ कवि कुछ हिन्दू परम्पराओं से प्रभावित है। भूमि को अपने यहाँ अचला कहा गया है। बादलों को चल भूमि कह कर सुन्दर विरोध-सम्बन्धी चमत्कार ही नहीं उत्पन्न किया है बरन् बादलों के उपमेयस्वरूप दुःखों और संघर्षों की परिवर्तन-शीलता की ओर भी संकेत किया गया है। अपने यहाँ पवनों की संख्या उनंचास मानी गई है। एक जगह और भारतीय परम्परा से लाभ उठाया गया है। रामायण की कथा में वर्णित अहल्या की जड़ता मानवी रूप में परिवर्तन दिखाया गया है। नवयुग की आत्म चेतना पिछले युगों की जड़ता को नव मानवता में परिणित कर देती है। **'वह मानवीय बन रही पा स्पर्श निर्जरों का चेतन। वह बनी शिला से मातृ मूर्ति उर में करुणा का संवेदन।'**

ज्योत्सना मंगल की द्योतक है **'आज मिल गया आभा से तम चेतन ज्योत्सना में हंस निरूपम'** जीवन का संघर्ष आनन्द में परिणित हो गया। 'प्रीति' शीर्षक कविता में बड़ा सुन्दर प्रतीकात्मक प्रकृति चित्रण हुआ है। अभिधार्थ में भी यह बड़ा सुन्दर है। इसमें जीवन की कालिमा और प्रकाश दोनों का चित्रण है। यह यथार्थ और आदर्श समन्वित है। आजकल के कुछ कवि यथार्थवाद के नाम पर जीवन की कालिमा का ही अधिक वर्णन करते हैं। पन्तजी उनमें नहीं हैं। देखिए—**'मेघों के उड़ते स्तम्भ खड़े लिपटीं जिनमें विद्युत ज्वाला, बाहर को अधखुला विराट जीवन कपाट तक का काला'** उसी के भीतर बादल भाप के कोमल और चिकने रेशमी वस्त्रों (कौश मसृण) की सी आभा दिखा रहे हैं और उनके भीतर से आती

हुई सूर्य किरणें अर्थात् ज्ञान का तेज उनको इन्द्र धनुष की सी सतरंगी शोभा प्रदान कर नेत्रों को आश्चर्य चकित कर देती हैं। बादलों का सतरंगीपन जीवन के सौन्दर्य का ही प्रतिबिम्ब है। (जिन पर प्राणों की रंग छटा)

"भीतर वाष्पों के कोश मसृण नव इन्द्र जलद लटकें कम्पित,
जिन पर प्राणों की रंग छटा करती मनके लोचन विस्मित।"

अन्धकार में भी प्रकाश की रेखाएँ रहती हैं और आगे चलकर प्रकाश और मंगल ही मंगल दीखता है—'प्रभो अनुकूल चेतना तीर्थ नव शरद चाँदनी सा प्रहसित।' शरद सम्बन्धी चार कविताएँ प्रकाश की रेखाएँ हैं—शरदागम, शरद चेतना, चन्द्रमुखी और शरदश्री। इनमें जीवन की आशा और मंगल-कामना प्रस्फुटित हो रही है। शरदागम में थोड़ा उद्दीपनत्व भी है।

मंगलाशा की छटा देखिए—'खोल निसर्ग रहा निज अंबर मधुर संतुलन में खिल सुन्दर', उद्दीपनत्व का भी रूप देखिए—

"आज मिलन को उर अति विह्वल मानस में स्वप्नों का बादल,
झर झर पड़ता किन स्मृतियों में सुलगा चिर विरहानल!"

ऐसी ही वैयक्तिक प्रेम की झाँकी हमको 'अनुभूति' शीर्षक कविता में मिलती है इन वैयक्तिक प्रेम की कविताओं में भी आशावाद की झलक है।

अन्त में भगवान के स्तवन की भी कुछ कविताएँ हैं। स्तवन में भगवान के प्रकृति विशेष भारत की प्रकृति में व्यक्त विराट रूप भगवान का स्तवन के दर्शन होते हैं।

"हेमचूड पर स्वर्ण रश्मि प्रभ
ज्योति मुकुट जाज्वल्य शीर्ष पर,
शत सूर्योज्वल कुवलय कोमल
स्फुरत किरण मण्डित मुख सुन्दर,
सहृदय वक्ष विशाल सिन्धुवत्
विश्व भार भृत अंश धुरन्धर

करुणा कलित बाहु वरद कर
मृत्यु कलुष हर चारु धनुष शर
बढ़ते युग-युग चरण, छोड़ निज
अक्षय चिह्न समय के पथ पर
विश्व हृदय शतदल पर स्थित तुम
हृदयेश्वर जगदीश परस्पर"

इसकी भाषा कुछ अधिक संस्कृतगर्भित है। इस स्तवन में भगवान् के सौन्दर्यशील (क्षमा करुणा आदि) और (शक्ति धनुष शर) तीनों दैवी गुणों की अभिव्यञ्जना हुई है।

३०

हिन्दी के हास्य-लेखक (बाबू बालमुकुन्द गुप्त)

यद्यपि बाबू बालमुकुन्द गुप्त का हिन्दी क्षेत्र में प्रवेश भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के अस्त होने के प्रायः चार वर्ष पश्चात् होता है तथापि वे भारतेन्दु-युग की नोक-झोंकभरी चुहल-बाजी और उर्दू के दायरे से जिन्दा दिली भरपूर मात्रा में अपने साथ लाये थे। हिन्दी के कुछ ख्यातनामा लेखकों की भाँति वे भी उर्दू के दायरे से हिन्दी के घेरे में आये थे। पहले वे 'अखबारे चुनार' में काम करते थे फिर वे लाहौर के 'कोहेनूर' में वहाँ से महामना मालवीयजी की प्रेरणा से कालाकाकर के 'हिन्दुस्थान' में आये। तभी से उनकी हिन्दी सेवा का श्रीगणेश होता है। उर्दू की स्वाभाविक चपलता का उन पर प्रभाव रहा। इस प्रकार हास्य व्यंग्य के सम्बन्ध में करेले कुछ तो कड़वे और कुछ नीमचढ़े की बात हो गई। हास्य-व्यंग्य के दोहरे प्रभावों को लेकर वे हिन्दी के क्षेत्र में अवतरित हुए।

हास्य-व्यंग्य का माध्यम

हरिश्चन्द्र युग हिन्दी-गद्य के आरम्भ का युग था। कुछ तो यह बाल्यकालीन उछल-कूद थी जो शुद्ध हास्य की कोटि में आती है और कुछ परिस्थिति-प्रेरित थी। वह अंग्रेजी राज्य की कर्जन शाही की चढ़ती धूप का जमाना था। दमनचक्र जारी था। बंग-भंग ने राजनीतिक चेतना को उग्र बना दिया था। राजनीतिक चेतना का कुछ तो खुले रूप में प्रकाश हुआ और कुछ हास्य-व्यंग्य के माध्यम से। हास्य-व्यंग्य के माध्यम से बात तो काफी चुटीले ढंग से कही जाती किन्तु हँसी का मधुर अवलेह मिल जाने से उसकी कटुता कुछ कम हो जाती है और वह निरापद रूप से गले

उतर जाती है। हास्य का जो लक्ष्य होता उसे भी वह कम अखरती और विशेषकर जब लिखने वाला शिव शम्भू की भाँति दूधिया भंग की तरंग में लिखता हो या स्वप्न की प्रतीकात्मक भाषा बोलता हो और हँसी के आकर्षण के साथ उसकी प्रेषणीयता का भी क्षेत्र बढ़ जाता है।

बालमुकुन्दजी का हास्य प्रायः दो प्रकार का है शुद्ध हास्य और व्यंग्यात्मक। उनके हास्य में व्यंग्य की ही प्रधानता रही है। व्यंग्य प्रायः सोद्देश्य होता है और किसी व्यक्ति या संस्था की ओर लक्षित होता है। यह प्रायः हृदय की कटुता से प्रेरित होता है चाहे वह वैयक्तिक हो और चाहे सार्वजनिक। गुप्तजी के व्यंग्य-बाणों के दो प्रधान लक्ष्य थे। राजनीतिक क्षेत्रों में ब्रिटिश साम्राज्य की शक्ति और वैभव के महत्त्वाकांक्षापूर्ण प्रदर्शनकर्ता, दिल्ली दर्बार के सूत्रधार और आकर्षण केन्द्र लार्ड कर्जन [illegible] उनके साथ में सर वेम्फाइल्ड फुलर और पीछे आने वाले मार्ले मिन्टो से भी कुछ छेड़-छाड़ हुई और साहित्य क्षेत्र में उनके प्रधान लक्ष्य रहे हैं—आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी। उनके हास्य-व्यंग्य का प्रधान माध्यम रहा कलकत्ते का 'भारतमित्र'।

दो प्रकार

शुद्ध हास्य के उदाहरण हमको अपेक्षाकृत कम मिलते हैं किन्तु उनका प्रभाव नहीं रहा है। ये अधिकांश में पद्य में हैं। हम उनको आजकल के हास्य लेखक और कवि श्री गोपालप्रसाद व्यास को दो बातों में अग्रगामी कहेंगे। एक तो यह कि उनकी कविता का श्रीगणेश भैंस की कविता से होता है। यदि श्रोतागण वैयक्तिक उल्लेख को क्षमा करें तो अन्तर इतना ही है कि व्यासजी की भैंस की कविता में मेरी धवल भैंस पर थी। [illegible] पुरुष की भैंस पर थी यह एक आकस्मिक [illegible] साहित्य की इस उपेक्षिता को पहले ही अमर कर दिया था किन्तु फिर भी बड़ा दुख है कि उनको भैंस का मर्सिया भी लिखना पड़ा था। खैर भैंस के स्वर्ग की एक शाब्दिक झाँकी सुनिए—

शुद्ध हास्य

"कभी वेग से फुदक-फुदक करके दौड़ी जाती है।
हलकी क्षीण कटि का सबको नाजुकपन दिखलाती है।
सींग अड़ाकर टीले में करती है रेत उछाल।
देखते ही बन आता है बस उस शोभा का हाल॥

पीठ के ऊपर झाँपल बैठी चुन-चुन चिचड़ी खाती है।
मेरी प्यारी महिषी उससे और मुदित हो जाती है।
अपने को समझे है वह सब भैंसों का सरदार।
आगे पीछे चलती हैं जिस दम पड़िया दो चार॥"

महिषी भैंस और रानी दोनों ही को कहते हैं। शान और इठलाहट में किसी रानी से कम नहीं होती। काली होकर भी वह यश से धवल दूध की सृष्टि करती है।

मर्सिया — अब जरा मर्सिए की भी दो पंक्तियाँ सुन लीजिए—

"खड़ी देखती है वह पड़िया बेचारी।
धरी है यों ही नाँद सानी की सारी।
पड़ी है कहीं टोकरी और खारी।
वह रस्सी गले की रखी है सँवारी।
बता तो सही भैंस तू अब कहाँ है?
तू लाला की आँखों से अब क्यों निहाँ है?"

इसमें उर्दू शायरी का असर परिलक्षित होता है। संस्कृत रस-शास्त्र की दृष्टि से इसमें करुण रस का पूर्ण परिपाक हुआ है। भैंस आलम्बन तो है ही किन्तु पड़िया, सानी, रस्सी, टोकरी ये सब उद्दीपन हैं और लाला आश्रय हैं। विषाद आदि संचारी भी हैं।

रस-विश्लेषण — हास्य का विषय यह इसीलिए बन जाता है कि मर्सिया जैसी गम्भीर करुणाजनक रचना एक अपेक्षाकृत एक छोटी चीज के लिए लिखी गई। यही विपरीतता हास्य का कारण है।

दूसरी बात पत्नीवाद की है—पत्नीवाद की भी कुछ कविताएँ उन्होंने

लिखी थीं। एक सभ्य बीवी की चिट्ठी सुनिए। इसमें शुद्ध हास्य के साथ कुछ व्यंग्य भी है।

पत्नीवाद

"कहाँ है 'टेनिस घर' दिखलाव, कहाँ मछली का बना तलाब ?
बात वह अगली सब सरकी, बहू मैं जब थी घूंघट की ?
मजा अब सुख का आया है, स्वाद शिक्षा का आया है ?
खुले अब नैन नींद गई टूट, बुद्धि के पर आये हैं फूट,
घुटावें क्यों पिंजरे में दम ? नहीं कुछ अन्धी चिड़िया हम।
न लें क्यों खुली हवा में साँस ? किस तरह पूरी होगी आस ?"

उनके समय में पैरोडी का भी चलन शुरू हो गया था। सती सीता को मुनि पत्नी अनुसूया ने जो शिक्षा दी उसका परिहासमय अनुकरण सुनिए। इसमें कलियुगी पतिव्रत धर्म पर व्यंग्य है—

पेरोडी

"एकहि धर्म एक व्रत नेमा, काय वचन मन पति पद प्रेमा।
पर पति सों जो मन कहं भावे, रोम-रोम भीतर रम जावे।
बालकपन को पति जो होई, तासों प्रीति करौ नहिं कोई।"

× × ×

"एक मरे दूसर पति करही, सो तिय भव सागर तरही।"

शुद्ध हास्य का एक और उदाहरण लीजिए। हास्य का मूल है बेमेलपन या Inconginity में। इसके कई रूप हो जाते हैं। कभी-कभी कवित्व के श्रृंगार के साथ यथार्थवादी वीभत्सता का मेल करना भी हास्य का कारण बन जाता है 'वसन्त में विरह' शीर्षक कविता सुनिए—

"देखो-देखो कोकिल कैसे कुहू-कुहू रव करते हैं ?
चील भी उड़ती है, कव्वे मीठे बोल उचरते हैं।
मलय पवन बहता है देखो, हाँ ! हाँ ! धूल उड़ाता है।

राजनीतिक व्यंग्य प्रायः असन्तोष और हृदय की कटुता से प्रेरित है किन्तु कटुता वैयक्तिक नहीं है सार्वजनिक है। पहले खायल्टी पर एक करारा व्यंग्य सुनिए—

असंतोष वैयक्तिक नहीं

"सबके सब पंजाबी अब है लायलटी में चकनाचूर,
सारा पंजाब देश बन जाने को है लायलपूर।"

लोकवार्ता के बहुत से रूपों का जैसे टेसू, होली, जोगोड़ा आदि का प्रयोग गुप्तजी ने राजनीतिक व्यंग्यों में किया है। लार्ड कर्जन के दिल्ली दरबार की घरफूंक तमाशा देखने वाली तैयारियों की

टेसू के गीत कथा सुनिए—

"अबके टेसू रंग-रंगीले अबके टेसू छैल-छबीले।
अब के शान बड़ी है आला, अबके है कुछ ढंग निराला।
होगा दिल्ली में दरबार, सुनकर चौंक पड़ा संसार।
शोर बड़ा दुनिया में भारी, दिल्ली में है बड़ी तयारी।
देश-देश के राजा आये, खेमे डेरे साथ उठाये।
घर दर बेचो करो उधार, बढ़िया हो पोशाक तयार।"

× × ×

"खूब बने श्री कर्जन लाट, होय निराला उनका ठाट।
जमे ठाठ से सब दरबार, सबके बने लाट सरदार।
कोई न उनके रहे समान, सभी रहें लटकाए कान।"

कर्जन साहब पर एक और टेसू का गीत सुनिए। इसमें जनवरी १९०३ के दिल्ली दरबार में कर्जन की उस शान-बान का बखान है जिसने सम्राट के भाई ड्यूक ऑफ कैनौट से ऊँचा आदर पाने की कोशिश की थी—

"बार दूसरी कर्जन आये, सनद साल दो की फिर लाये।
मुझ-सा कोई हुआ न होगा, यह जाने कोई जानन जोगा।
राजा का भाई था आया, उसको भी नीचा दिखलाया।
पहले मुझको मिला सलाम, तब फिर उससे हुआ कलाम।
मुझको सोना उनको चाँदी, मुझको बीबी उसको बाँदी।"

कर्जन साहब सोने की कुर्सी पर विराजे थे और ड्यूक चाँदी की कुर्सी

पर। ये बातें ज्वलन्त प्रकाश में इस लिए लाई गई थीं कि इंगलैंड का भी लोकमत कर्जन के खिलाफ हो जाय गुप्तजी के हास्य-

ऐतिहासिक तथ्य

व्यंग्य में उस समय की राजनीति का पूरा चित्र उतर आया है। वाइसराय की कौंसिल के मिलीटरी एड-वाइज़र के सम्बन्ध में किचनर कर्जन की अनबन, वलायती सरकार से किचनर की जीत फलस्वरूप कर्जन का इस्तीफा किन्तु 'मरती बार कटक संहारा' रामायण की इस उक्ति को चरितार्थ करते हुए बंगाल के दो टुकड़े होना, मोर्ले साहब का पार्टीशन को न बदलना, बंगाल के लेफ्टीनेण्ट फुलर द्वारा विद्यार्थियों की पकड़-धकड़ और उनका भी त्यागपत्र ये सब बातें उनके हास्य-व्यंग्य में इतिहास की यथार्थता और व्यक्ति की चित्रमयता के साथ आई हैं। किचनर और कर्जन के मल्ल-युद्ध की बात सुनिए—

"बनके सच्चों के सरदार, करके खूब सत्य प्रचार।
भिड़ गये जंगी मुल्की लाट, चक्की से चक्की का पाट।
गुत्थम-गुत्था, धींगा मुश्ती, खूब हुई दोनों की कुश्ती।
ऊपर किचनर, नीचे कर्जन, खड़ा तमाशा देखे दर्जन।
कलम करे चाहे कितनी ही चरचर, माले के वह नहीं बराबर।"

जंगी और मुल्की शक्तियाँ भिड़ीं और चक्की के दो पाट रगड़े और उसमें दला गया बंगाल। बंगाल के विभाजन की बात तो चल ही रही थी। इस खीज ने इस निश्चय में अन्तर तो नहीं डाला वरन् उसे

बंग-भंग

दृढ़ ही कर दिया। ऊपर के अफसरों की फटकार की खीज क्लर्कों और चपरासियों पर निकाली जाती है। यद्यपि उस जमाने में ऐसी मनोवैज्ञानिक आलोचना नहीं होती थी फिर भी उनका कुछ आभास गुप्तजी में मिलता है। सुनिए—

"पहले सब कुछ कर जाता हूँ, पीछे अपने घर जाता हूँ।
बेशक मिली उधर से लात, किन्तु यहाँ तो रह गई बात।
अफसर से खा लेना मार, पर अधीन को दे पैजार।
जबरदस्त से चट दब जाना, जेरदस्त को अकड़ दिखाना।"

खैर कर्जन के हिन्दुस्तान छोड़ने के बाद मार्ली मिन्टो का जमाना आया किन्तु बंग-भंग न पलटा। मोर्ले ने उसको Settled pact कह कर टाल दिया—

जैसे लिबरेल वैसे टोरी

"लिबरल दल की हुई बहाली, खुशी हुए तब बंगाली।
हुए मार्ली पद पर पक्के, बराडरिक को पड़ गये धक्के।
बंगाली समझे यों धक्के, होली है भई होली है।
बंग-भंग की बात चलाई, काटन ने तकरीर सुनाई।
तब मुर्ली ने तान सुनाई, होली है भई होली है।
बंग-भंग को हमको गम है, तुम से नहीं वह कम है।
पर अब उसमें नहीं कुछ दम है, होली है भई होली है।
नहिं कोई लिबरेल नहिं कोई टोरी, जो परनाला सो ही मोरी।"

कर्जन के चेले पूर्व बंगाल के लेफ्टीनेण्ट गवर्नर महोदय को लड़कों के आन्दोलन के कारण नीचा देखना पड़ा था। वे राजनीतिक आन्दोलन के कारण कुछ स्कूलों को कलकत्ता विद्यालय से Dis-affiliate कराना चाहते थे। सरकार से उसकी इजाजत न मिली। अफसर का अन्तिम ब्रह्मास्त्र स्तीफा है, उससे भी काम न चला। उनके बारे में गुप्तजी की कविता सुनिए—

फुलर का स्तीफा

"फुलर जंग ने की वह जंग, सब बंगाल हो गया दंग।
लड़कों से की खूब लड़ाई, गुरखों की पलटन बुलवाई।
खूब बचन गुरुवर का पाला, पर आखिर को हुआ दिवाला।

फुलर ने कहा था कि वह फिर एक बार बंगाल में शाइस्ता खां का कठोर शासन ले आएगा। इसी पर व्यंग्य करते हुए गुप्तजी कहते हैं—

"बूढ़ेपन की लाज न आई, लड़कों से की खूब लड़ाई।
कुछ नहीं सोचा बात बढ़ाई इसी सबब से मुँह की खाई।
छोड़ चले शाइस्ता खाई"

यह बात इतिहास द्वारा अनुमोदित है। देखिए—

'Sir J. Bampfylde fuller applied to the

Calcutta University to disaffiliate the school concerned but was requested by the Government to withdraw the applications on the ground that it would result in an acrimonious debate in the senate of the University. The Lt. Governor there upon tendered his resignation and his resignation was accepted.'

—India under the crown P. O. Roberts Pages 511, 512.

गुप्तजी ने बहुत-सा हास्य-व्यंग्य गद्य में भी लिखा है उनका राजनीतिक व्यंग्य अधिकांश में कर्जन पर केन्द्रित है और उसी के साथ फुलर और मिन्टो-मार्ली भी लपेट में आये। भारतमित्र में जो व्यंग्यात्मक पत्र छपे थे वे शिव-शम्भू के चिट्ठे कहलाते हैं। शिव-शम्भू को बालकपन में बुलबुलों से बड़ा शौक था किन्तु बुलबुलें उसको मुश्किल से ही मिलती थीं। एक बार वह स्वप्न में बुलबुलों के देश में पहुँच गया। कर्जन के आत्म-सन्तोष की प्रसन्नता को उस स्वप्न की प्रसन्नता से तुलना करते हुए अपने पत्र में लिखते हैं—'आपने माई लार्ड! जब से भारतवर्ष में पधारे हैं, बुलबुलों का स्वप्न ही देखा है या सचमुच कोई करने योग्य काम भी किया है? खाली अपना ख्याल ही पूरा किया है या यहाँ की प्रजा के लिए भी कुछ कर्तव्यपालन किया है। आप बारम्बार अपने दो अति तुम-तराक से भरे कामों का वर्णन करते हैं। एक विक्टोरिया मेमोरियल और दूसरा दिल्ली दरबार, जरा विचारिए कि ये दोनों काम 'शो' हुए या 'ड्यूटी'।

शिव-शम्भू के चिट्ठे

किचनर से झगड़े की हँसी उड़ाते हुए गुप्तजी ने लिखा है—'इस देश के हाकिम आप की ताल पर नाचते थे। राजा महाराजा डोरी हिलाने से सामने हाथ बाँधे हाजिर होते थे। आपके एक इशारे में प्रलय होती थी। बंग देश के सिर पर आरा रखा गया। ओह इतने बड़े माई लार्ड का यह दर्जा

इतिहास की गवाही

हुआ कि एक फौजी अफसर उनके इच्छित पद पर नियत न हो सका और उनको उसी गुस्से के मारे इस्तीफा दाखिल करना पड़ा, वह भी मंजूर हो गया।' कर्जन के प्रचण्ड ऐश्वर्य मार्तण्ड के शीर्ष बिन्दु से सहसा पतन का कैसा मार्मिक चित्रण है ?

इतिहास इसका समर्थन करता है—

'Lord Curzon proposed Sir Edmund Barrns, but the home Government declined his nominatives for reasons that seemed sound in themselves and were entirely creditable to that distinguished officer Lord Curzon. convinced now that the Government were not prepared to allow him that kind of military adviser. He resigned his office in August 1905. The cabinet asked him to withdraw his resignations but he diclined to do so.'

—India under the crown P. O Roberts 554, 555.

राजनीति में गुप्तजी के बाण कर्जन पर चलाये गये उसी प्रकार साहित्य समालोचना के क्षेत्र में पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी को उन्होंने अपने व्यंग्य का निशाना बनाया। व्याकरण और भाषा की शुद्धता द्विवेदीजी का विशेष क्षेत्र था। उसी में गुप्तजी ने उनसे लोहा लिया। द्विवेदीजी की आलोचना उन्होंने आत्माराम के नाम से की थी। द्विवेदीजी के समर्थकों ने आत्माराम की टें-टें लिखकर उसकी आलोचना की। उन दिनों के अखबार इस प्रकार की चुहलबाजी से भरे रहते थे। द्विवेदीजी ने एक बार 'अस्थिरता' के स्थान में भाषा की 'अनस्थिरता' लिख दी थी। संस्कृत के कायदे से उसका समर्थन करना कठिन था द्विवेदीजी के समर्थकों ने हिन्दी अनहोनी के आधार पर अनस्थिरता का हिन्दी कायदे से समर्थन किया उसके सम्बन्ध में गुप्तजी लिखते हैं—'अब आप इस बात पर स्थिर हैं कि अस्थिरता हिन्दी से सिद्ध होती है। आपको ऐसी घबराहट में देखकर

साहित्यक क्षेत्र में व्यंग्य

हमारे एक मित्र ने कहा कि द्विवेदीजी की अस्थिरता अंग्रेजी से साबित हो सकती है। हरबर्ट स्पेन्सर के Education में हमें Unorganizable शब्द मिला, यह भी द्विवेदीजी के ढंग का है। डाकखाने वालों का Unclaimed भी इसी श्रेणी का है। Unknowable की भाँति अनस्थिरता का भी भेद जान लेना सहज नहीं है।'

एक बार द्विवेदीजी ने एक किताब की आलोचना करते हुए 'सुघर रूप सत कवित्त बिन, जिह न रुचत कछु काज' का अर्थ यह लगा लिया था कि कवि अपने परिचय में अपना रूप सुघर कहता है यह अनुचित है। वास्तव में इन पंक्तियों का अर्थ यह था कि सुन्दर रूप और अच्छी कविता के सिवा और कुछ अच्छा नहीं लगता है, इस पर गुप्तजी द्विवेदीजी को आड़े हाथों लेते हैं। सुनिए—

'कवि दौड़े कविता के समझने वाले दौड़े, झट से आग में राई नून डाले! द्विवेदीजी के बाद कविता फहमी का मैदान साफ है। फिर ऐसे समझदार कहाँ। लाखों वर्ष में पृथ्वी कभी कोई ऐसा लाल उगल देती है।' यह विपरीत लक्षणात्मक व्यंग्य कुछ अनुदार अवश्य मालूम होता है किन्तु जब यह सोचते हैं कि द्विवेदीजी भी किसी को नहीं छोड़ते थे तब यह व्यंग्य क्षम्य हो जाता है।

द्विवेदीजी ने सरस्वती में साहित्य सभा का एक कार्टून छपवाया था जिसमें गुप्तजी ने द्विवेदीजी को उल्टा बना डाला। गुप्तजी लिखते हैं पर

साहित्य सभा का कार्टून

समालोचना का बन्दर जो आइने में अपना चन्द्रानन आप देख रहा है न जाने द्विवेदीजी ने क्या समझ कर बनाया। हिन्दी में समालोचक तो वह स्वयं ही हैं। समालोचना की पोथियाँ तक लिख डालीं फिर आप का नाम भी महावीर है। द्विवेदीजी दूसरों को बनाने चले थे स्वयं बन गये!' दोनों ही अब स्वर्गीय हैं, दोनों ही पूज्य हैं 'को बड़ छोट कहत बड़ अपराधू'।

—ऑल इंडिया रेडियो दिल्ली पर प्रसारित वार्ता के आधार पर।

३१

द्विवेदीजी के काव्य-सम्बन्धी विचार

स्वर्गीय द्विवेदीजी केवल सम्पादक ही न थे वरन् आचार्य और साहित्यिक क्षेत्र के सुधारक भी थे। उनका आचार्यत्व केवल भाषा के संस्कार और लोगों का ध्यान व्याकरणशील बनाने में सीमित न था वरन् उन्होंने अपने समय के काव्य की गति-विधि निश्चित करने में भी बहुत कुछ योग दिया था। उन्होंने समालोचना ही नहीं लिखी थी किन्तु समालोचक के लिए अच्छे काव्य का आदर्श भी बतलाया था। काव्य के पारखियों के लिए उन्होंने कसौटी भी दी थी।

आचार्यत्व

काव्य की कसौटी के सम्बन्ध में काव्य-प्रकाश, साहित्य-दर्पण, रस गंगाधर, काव्यादर्श आदि संस्कृत ग्रन्थों में तो सुन्दर और विशद विवेचना मिलती है किन्तु हिन्दी गद्य में इस प्रकार की विवेचना कम मिलती है। नाटक के सम्बन्ध में तो भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी ने लिखा था और उन्होंने रीतिकाल की इस कमी को पूरा किया था। स्वर्गीय द्विवेदीजी ने काव्य का विवेचन केवल विवेचन के लिए नहीं किया है वरन् क्रियात्मक रूप से तत्कालीन कवियों को पथप्रदर्शन करने के लिए।

द्विवेदीजी के काव्य-सम्बन्धी विचार बहुत से ग्रन्थों और निबन्धों में बिखरे मिल सकते हैं किन्तु यदि हम उनको किसी सम्बद्ध रूप में देखना चाहें तो रसज्ञ-रंजन में देख सकते हैं। इस पुस्तक में कविता-सम्बन्धी जो पांच लेख दिये गये हैं, वे सब मौलिक नहीं कहे जा सकते। द्विवेदीजी ने जिन-जिन आधारों पर ये लिखे हैं, उनको स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। किन्तु जिन विचारों को उन्होंने अपनाया है और जिनकी सराहना की है वे उनके ही

रसज्ञ-रंजन

कहे जायँगे।

द्विवेदीजी ने कविता के सम्बन्ध में व्यवहार बुद्धि से लिखा है। वे काव्य की आत्मा अलंकार रस, रीति, वक्रोक्ति वा ध्वनि मानने वाले आचार्यों के झगड़ों में नहीं पड़े हैं किन्तु उन्होंने अपने मत में सभी मतों का थोड़ा बहुत सहारा लिया है। वे पारिभाषिक शब्दों के वाक्‌जाल से बहुत दूर रहे हैं। नीचे हम कुछ उद्धरण देते हैं, जिनसे आप देख सकेंगे कि वे कवि के हृदय में रस का होना काव्य के लिए आवश्यक मानते हैं और वे यह भी मानते हैं कि वही सफल कवि है जो उपयुक्त शब्दावली द्वारा पाठकों या श्रोताओं के हृदय में समान भाव उत्पन्न कर सके। वे कविता को प्रभावोत्पादक चाहते हैं और इस कारण उक्ति-वैचित्र्य के भी पक्ष में हैं। लेकिन वे कोरे वक्रोक्तिवादी (अनूठी तौर से कहने को ही कविता मानने वाले) नहीं हैं। सच्ची कविता के उन्होंने दो उदाहरण दिये हैं। एक रामचरितमानस से बनगमन समय सीताजी का श्रीरामचन्द्रजी के साथ जाने का आग्रह और दूसरा पण्डित श्रीधर पाठक का 'एकान्तवासी योगी' नामक अंग्रेजी से अनुवादित काव्य से अंजलोना की उक्ति। यहाँ पर द्विवेदीजी के काव्य-सम्बन्धी विचारों के उदाहरण दिये जाते हैं—

कवि हृदयगत रस

१. "कवियों का यह काम है कि वे जिस पात्र अथवा जिस वस्तु का वर्णन करते हैं, उसका रस अपने अन्तःकरण में लेकर उसे ऐसा शब्दरूप **विचार-सारिणी** दे देते हैं कि उन शब्दों को सुनने से वह रस सुनने वालों के हृदय में जाग्रत हो उठता है।"

२. कविता को सरस बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। नीरस पद्यों का कभी आदर नहीं होता। जिसे पढ़ते ही पढ़ने वाले के मुख से 'वाह' न निकले अथवा उसका मस्तक न हिलने लगे, अथवा उसकी दंत-पंक्ति न दिखलाई देने लगे, अथवा जिस रस की कविता है उस रस के अनुकूल वह व्यापार न करने लगे, तो वह कविता कविता ही नहीं, वह तुकबन्दी मात्र है।

३. "जो बात एक असाधारण और निराले ढंग से शब्दों के द्वारा

इस तरह प्रकट की जाय कि सुनने वाले पर उसका कुछ न कुछ असर जरूर पड़े, उसी का नाम कविता है।"

४. "प्राचीन कवियों का सारा ध्यान अर्थ की ओर रहता था, भाषा की ओर कम रहता था इसलिए उनकी कविता में हृद-गत-भाव बहुत ही अच्छी तरह से ग्रथित हो जाता था। परन्तु उनके अनन्तर होने वाले कवियों में प्रबन्ध, शब्द-रचना और अलंकार आदि की ओर अधिक ध्यान जाने से कविता में अर्थ-सम्बन्धी हीनता आ गई है।"

५. कविता को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए उचित शब्द स्थापना की भी बड़ी जरूरत है। किसी मनोविकार का दृश्य वर्णन करने में ढूँढ़-ढूँढ़ कर ऐसे शब्द रखना चाहिए जो सुनने वाले के सामने वर्ण्य विषय का चित्र-सा खींच दें।

ऐसे बहुत से अमूल्य उद्धरण बिखरे पड़े हैं। उपर्युक्त उद्धरणों से हम कह सकते हैं कि द्विवेदीजी यद्यपि ने किसी एक वाद को नहीं अपनाया है तथापि वे कविता उसी शब्द रचना को कहते हैं जिसमें सत्य पर आश्रित भावों की ऐसी सुन्दर ढंग से अभिव्यंजना की जाय कि पाठकों के मन में समान भाव की उत्पत्ति हो और वे बोल उठें कि सच कहा।

सब वादों की स्वीकृति

द्विवेदीजी रसवादी भी हैं, (जैसा पहले उद्धरण से विदित होता है)। वक्रोक्तिवादी, अभिव्यंजनावादी भी हैं (जैसा तीसरे उद्धरण से विदित होता है) और प्रभाववादी भी हैं (जैसा कि दूसरे उद्धरण से लक्षित होता है)।

द्विवेदीजी चमत्कारवादी हैं। यदि कविता में चमत्कार नहीं तो आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती किन्तु उसी के साथ वे अलंकारों और शब्दाडम्बर के भी पक्षपाती नहीं हैं। सब बातों को लेते हुए द्विवेदीजी प्रभावोत्पादन को अधिक महत्व देते हुए प्रतीत होते हैं। इसीलिए वे भाषा की शक्ति पर अधिक जोर देते हैं।

द्विवेदीजी ने सभी वादों का कुछ-कुछ लिया है किन्तु उन्होंने किसी एक बात को भी सर्वप्रधान नहीं कहा है, इसीलिए वे किसी वाद में नहीं हैं।

चमत्कारवाद का पक्ष और साथ ही अलंकारों का विरोध आदि बातें कुछ लोगों को परस्पर-विरोधी प्रतीत होती हैं। वास्तव में थोड़ी मात्रा में सभी चीजें एक दूसरे की सहायक और पूरक होती हैं। अनुचित मात्रा में विरोध हो जाता है। द्विवेदजी ने चमत्कारवाद को इसी हद तक माना है कि वह शब्दाडम्बर न बन जाय। जहाँ प्रभाववाद में पड़े, वहाँ उसका यह अर्थ न लेना चाहिए कि कोरा सर हिलवा देना कविता की इतिकर्तव्यता है। वस्तु-विवेचन सच्चा होना चाहिए। उनके प्रभाववाद में सत्य की उपेक्षा नहीं है। वैसे प्रभाववाद में कहीं-कहीं सत्य की उपेक्षा अधिक हो जाती है।

चमत्कारवाद और प्रभाववाद

प्रभाववाद में एक खराबी यह भी है कि किसकी वाह-वाह चाहिए। तुलसीदासजी ने बुधजनों की वाह वाह चाही है। द्विवेदीजी का भी अभिप्राय बुधजनों से ही समझना चाहिए। इक्के-ताँगे वालों का नहीं। जो कविता इक्के-ताँगे वालों की वाह-वाह ले सकती है, वह आदरणीय नहीं। जिसकी बुधजनों के साथ इक्के-ताँगे वाले भी सराहना कर सकें, वह अवश्य आदरणीय है। वे मिल्टन का उदाहरण देते हुए कविता के लिए तीन गुण आवश्यक समझते हैं—

साधुवाद के आश्रय

"अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि मिल्टन ने कविता के तीन गुण वर्णन किये हैं। उनकी राय में कविता सादी हो; शब्दाडम्बर दुरूहता और गूढ़ता से दूर अर्थात् प्रसाद गुण से युक्त, जोश से भरी (रसपूर्ण) और असलियत से गिरी न हो।" (कल्पनामय हो किन्तु सत्याश्रित हो)।

तीन आवश्यक गुण

द्विवेदीजी छन्द को कविता के लिए आवश्यक नहीं मानते हैं। इसलिये वे अंग्रेजी में किये हुए वर्स (Verse) अर्थात् पद्य और पोइट्री (Poetry) अर्थात् कविता पर जोर देते हैं—

"आजकल लोगों ने कविता और पद्य को एक ही चीज समझ रखा

है। यह भ्रम है। कविता और पद्य में वही भेद है जो अंग्रेजी की पोयट्री (Poetry) और वर्स में है। किसी प्रभावोत्पादक और मनोरंजक लेख, बात या वक्तृता का नाम कविता है और नियमानुसार तुली हुई सतरों का नाम पद्य है। जिस पद्य को पढ़ने या सुनने से चित्त पर असर नहीं होता, वह कविता नहीं।"

विशेष विवेचना

द्विवेदीजी ने कविता के सम्बन्ध में चार बातों पर विशेष रूप से विचार किया है (१) छन्द (२) भाषा (३) अर्थ (४) विषय।

द्विवेदीजी छंद के लिये तुकबन्दी आवश्यक नहीं बतलाते हैं। इसीलिए उन्होंने संस्कृत छंदों के अनुकरण पर जोर दिया है। सम्भव है पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय इसी अपील से प्रभावित हुए हों। (संस्कृत छंदों में पहले रहीम ने भी कविता की है)। आजकल के कवियों ने हिन्दी के ही छंदों में अतुकांत कविता कर द्विवेदीजी के उद्देश्य की पूर्णतया पूर्ति की है।

छंद

द्विवेदीजी के छंद-सम्बन्धी विचार बड़े उदार हैं। वे छंदों में नवीनता चाहते हैं। वे संस्कृत वृत्तों तथा उर्दू तक के छन्दों के पक्ष में हैं।

भाषा

भाषा के सम्बन्ध में द्विवेदीजी कहते हैं कि कवि को ऐसी भाषा लिखनी चाहिए जिसे सब कोई सहज में समझ लें क्योंकि कविता समझी जाने के लिये ही लिखी जाती है। कविता में व्याकरण के नियमों का भी पूरी तौर से पालन होना चाहिए। उनका कहना है कि शुद्ध भाषा का जितना मान होता है, उतना अशुद्ध भाषा का नहीं। भाषा में शब्दों की उपयुक्तता पर बहुत जोर दिया है। देखिये इस सम्बन्ध में वे क्या कहते हैं—

"विषय के अनुकूल शब्द स्थापन होना चाहिए। कविता एक अपूर्व रसायन है। रसायन सिद्ध करने में आँच के न्यूनाधिक होने से जैसे रस बिगड़ जाता है, वैसे ही यथोचित शब्दों का उपयोग न करने से काव्य रूपी रस भी बिगड़ जाता है। शब्द चुनने में अक्षर मैत्री का विशेष ध्यान रखना चाहिए।"

आचार्य द्विवेदजी उन लोगों में अग्रगण्य हैं, जिन लोगों ने खड़ी बोली को काव्य की भाषा बनाने का आन्दोलन उठाया था। इस सम्बन्ध में वे लिखते हैं—

"गद्य और पद्य की भाषा पृथक-पृथक न होनी चाहिए। हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है जिसके गद्य की एक प्रकार की और पद्य में दूसरी प्रकार की भाषा लिखी जाती है।"

अर्थ-सौरस्य

अर्थ के सम्बन्ध में विवेचन करते हुए द्विवेदीजी अर्थ-सौरस्य को कविता का प्राण मानते हैं। इस विषय में वे लिखते हैं।

"कवि जिस विषय का वर्णन करे, उस विषय से उसका तादात्म्य हो जाना चाहिए। ऐसा न होने से अर्थ-सौरस्य नहीं आ सकता। विलाप वर्णन करने में कवि के मन में यह भावना होनी चाहिए कि वह स्वयं विलाप कर रहा है और वर्णित दुःख का अनुभव कर रहा है।"

अर्थ-सौरस्य के सम्बन्ध में वे तीन बातों पर जोर देते हैं—पहली बात कवि की भावुकता और सहृदयता अर्थात् वर्ण्य विषय से कवि का तादात्म्य दूसरी बात यह है कि जो भाव कवि के हृदय में स्वभाव से उठें उन्हीं का वह वर्णन करे। बलात् किसी अर्थ के लाने की चेष्टा न करनी चाहिए। इससे कविता में अस्वाभाविकता आ जाती है। तीसरी बात अर्थ की अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में है। द्विवेदीजी कविता में प्रसाद गुण के पक्ष में हैं। वे चाहते हैं कि अपने मनोनीत अर्थ को इस प्रकार व्यक्त किया जाय कि पद्य पढ़ते ही पढ़ने वाले उसे तत्क्षण हृदयंगम कर सकें; क्लिष्ट कल्पना अथवा सोच विचार करने की आवश्यकता न पड़े।

द्विवेदी चाहते हैं कि कविगण शब्दों को तोल-तोल कर विषय और प्रसंग के अनुकूल रखें। बामा, तन्वी, गृहलक्ष्मी, रमणी, महिला आदि सब

शब्दों का नाप-तोल

पर्यायवाची शब्द हैं किन्तु प्रत्येक शब्द प्रसंग में शोभा नहीं देगा। महिला परिषद् की जगह तन्वी परिषद् कहना अच्छा नहीं लगेगा। द्विवेदीजी निरर्थक या भर्ती

के शब्दों के पक्षपाती नहीं हैं। न वे शब्दों की तोड़-मरोड़ चाहते हैं। इसीलिए वे बार-बार तुकबन्दी के खिलाफ आवाज उठाते हैं।

आचार्यजी कविता को निर्दोष देखना चाहते हैं इस सम्बन्ध वे

दोष शून्यता कहते हैं—

"अश्लीलता और ग्राम्यता गर्भित अर्थों से कविता को कभी न दूषित करना चाहिए। न देशकाल तथा लोक आदि के विरुद्ध कोई बात कहना चाहिए" (देश और काल-सम्बन्धी दूषण अवश्य खटकते हैं किन्तु अधिक या न्यून पद और मामूली बात में अति संस्कृति दोष भी उपेक्षणीय हो सकता है यदि काव्य सरस हो) द्विवेदीजी मम्मट की परिभाषा के 'अदोषौ' शब्द से प्रभावित प्रतीत होते हैं। जिन लोगों ने द्विवेदीजी द्वारा की हुई 'कालिदास की निरंकुशता' शीर्षक आलोचना पढ़ी है, वे जानते होंगे कि उन्होंने दोषों को कितना महत्व दिया है। इस सम्बन्ध में लोग उनकी निर्भीकता की तारीफ करते हैं। निर्भीकता तारीफ की वस्तु अवश्य है क्योंकि हमारे देश में पूर्वजों के अत्यधिक आदर के कारण मौलिकता आने में कुछ बाधा पड़ती है किन्तु निर्भीकता केवल निर्भीकता के लिए नहीं होनी चाहिए। बड़े आदमी के खिलाफ दस बीस बातें कहने को ही शाबासी देना अच्छा नहीं। कालिदास की प्रखर प्रतिभा के सामने न्यून पदत्व या अधिक पदत्व दोष नगण्य हो जाते हैं। स्वयं कालिदासजी के शब्दों में कहा जा सकता है **'एकोहिदोषो गुण सन्निपाते निमज्जतीन्दो किरणेष्विवाङ्कः'**। गुणों के इकट्ठे होने पर एक दोष इसी प्रकार विलीन हो जाता है जिस *प्रकार किरणों के बाहुल्य में चन्द्रमा का कलंक।* दोषों से बचना सोने में सुगंध की बात हो जाती है किन्तु मुख्य और गौण बात में भेद रखना चाहिए। कविता में रस मुख्य है निर्दोषता गौण बात है और दोष भी सब बराबर नहीं होते। हाथ धोकर भोजन न करना दोष है किन्तु इतना बड़ा नहीं जितना कि किसी का सर काट लेना। द्विवेदीजी भी स्वयं सब दोषों को बराबर महत्व देने वाले लोगों में नहीं थे। वे गुण-दोष का अनुमान जानते थे किन्तु उससे प्रभावित प्राचीनता के उपासक आलोचक पारिभाषिक दोषों

को खोज निकालने में ही आलोचक के कर्म की इतिश्री समझ लेते हैं यह बुरा है। इस थोड़े से प्रसंगान्तर के लिए पाठकों से क्षमा चाहता हूँ। यह बात स्पष्ट कर देना मैं आवश्यक समझता था।

काव्य का विषय

काव्य विषय के सम्बन्ध में द्विवेदीजी के विचार बड़े महत्व के हैं। रीतिकाल के संकुचित वातायनहीन भवन में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने आलोक आने के लिए दो एक वातायन खोल दिये थे, किन्तु वे काफी नहीं थे। विषय विस्तार के लिए कड़ी आवाज लगाई जाने की जरूरत थी और आचार्यजी ने इस सम्बन्ध में तत्कालीन कवियों को अच्छा उपदेश दिया है। आचार्य द्विवेदीजी का युग निर्माता कहा जाना इस अर्थ में सार्थक है। विषय विस्तार की इस काल में भी आवश्यकता है। कविता का पुराना भवन ढल कर नया भवन अवश्य बन गया है किन्तु अब भी उस भवन के विस्तार की आवश्यकता है। विषय विस्तार के सम्बन्ध में नीचे उद्धृत किए हुए वाक्य बड़े मार्मिक हैं—

"चींटी से लेकर हाथी पर्यन्त पशु, भिक्षुक से लेकर राजा पर्यन्त मनुष्य, बिन्दु से लेकर समुद्र पर्यन्त जल, अनन्त आकाश, अनन्त पृथ्वी, सभी से उपदेश मिल सकता है और सभी के वर्णन से मनोरंजन हो सकता है। फिर क्या कारण है कि इन विषयों को छोड़ कर कोई-कोई कवि स्त्रियों की चेष्टाओं का वर्णन करना ही कविता की चरम सीमा समझते हैं ? केवल अविचार और अन्ध परम्परा।" मैं स्त्रियों के 'बायकाट' करने के पक्ष में तो नहीं हूँ क्योंकि वे चींटी और जुगनू से नहीं-न ही हाथी से भी बढ़ कर महत्व इस जगत में रखती हैं किन्तु कविता स्त्री केन्द्रित न होनी चाहिए। वैसे तो शास्त्रों में कहा है **'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः'** किन्तु इस पूजा में और चीज की उपेक्षा न होनी चाहिए। पूज्य द्विवेदीजी ने संसार की स्त्रियेतर वस्तुओं की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित कर सच्चे नेता का काम किया है। हर्ष की बात है कि वर्तमान युग में काव्य विषय के सम्बन्ध में पहले का-सा संकोच नहीं है। अब कलेजे के दो टूक करने वाले भिकारी, काश्मीर, सृष्टि, प्रलय, बन, पर्वत, कछार, विपना की सड़क सभी पर

कविता लिखी जाती हैं किन्तु अब विस्तार की आवश्यकता है। कविता को जीवन से अधिक सम्पर्क में आना चाहिए।

द्विवेदीजी ने कवियों के नैसर्गिक शक्ति और अभ्यास दोनों को आवश्यक माना है। कवि हीरे की भाँति पैदा अवश्य होते हैं किन्तु उनके गढ़े जाने की भी आवश्यकता है। द्विवेदीजी ने कवि की शिक्षा के सम्बन्ध में क्षेमेन्द्र के उदाहरण दिये हैं। वे बड़े महत्वपूर्ण हैं। आजकल के कवियों को उनसे शिक्षा लेनी चाहिए। कवि में सहृदयता, विस्तृत निरीक्षण, अध्ययन, अभ्यास और व्यवहार की उदारता अत्यन्त आवश्यक है। क्षेमेन्द्र का बताया हुआ कवि बनने का नुसखा देखिए। क्षेमेन्द्र के नुसखे में बढ़े हुए बाल और फाउन्टेन पैन की कमी है। बिचारे के समय में फाउन्टेन पैन था ही नहीं, क्या करता?

शक्ति और अभ्यास

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि द्विवेदीजी ने निम्नलिखित बातों पर जोर देकर अपने समय के कवियों का पथप्रदर्शन किया है—

संक्षेप

१. काव्य का विषय विस्तार।

२. कवि की भावुकता और उसके हृदय की सत्यता।

३. कविता में सादगी और आडम्बरशून्यता।

४. छन्दों में नवीनता, संस्कृत छन्दों का प्रयोग और तुकबन्दी का विरोध।

५. कविता में सत्य का आधार।

६. कविता में व्याकरण के नियमों का पालन।

रसज्ञ-रञ्जन में कविता में उर्मिला-सम्बन्धी उदासीनता शीर्षक लेख द्विवेदीजी का नहीं है तथापि द्विवेदीजी ने उसको मुख्यता देकर श्री मैथिली-शरणजी को साकेत लिखने की आन्तरिक प्रेरणा दी। इसी प्रकार संस्कृत छन्दों का पक्ष लेकर उपाध्यायजी को प्रिय-प्रवास लिखने में प्रेरित किया। द्विवेदीजी की दो प्रेरणा के दो अमूल्य रत्न वर्तमान हिन्दी-साहित्य का गौरव बढ़ा रहे हैं। गोविन्द की अपेक्षा गुरु का महत्व अधिक है। **'बलिहारी वा गुरु की जिन गोविन्द दियो बताय।'**

३२

द्विवेदीजी आलोचक के रूप में

आचार्य द्विवेदीजी हमारे सामने कई रूपों में आते हैं। उनमें समालोचक का रूप कुछ विशेषता रखता है, क्योंकि उसका सम्बन्ध 'सरस्वती' के प्रायः बीस वर्ष के सम्पादन से है। समालोचक के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह सम्पादक ही हो किन्तु यदि वह सम्पादक के आसन पर विराजमान हो, तो आलोचना का कार्य उसके जीवन के कार्य से सम्बन्धित हो जाता है। द्विवेदीजी उन लोगों में से थे जो किसी काम को बेगार के रूप में नहीं करते थे। इसलिए उनकी आलोचनाओं और टिप्पणियों में बड़े अध्ययन और मनोयोग का परिचय मिलता है। इसलिए उनकी आलोचनाओं ने साहित्य-निर्माण में बहुत कुछ योग दिया है।

त्रिसूत्री अध्ययन

द्विवेदीजी की आलोचनाओं के सम्बन्ध में हमको तीन बातों पर विचार करना चाहिए—(१) उनके आलोचना-सम्बन्धी सिद्धान्त (२) उनकी लिखी हुई आलोचनाएँ (३) आलोचकों में उनका स्थान।

गौण और मुख्य

द्विवेदीजी के आलोचना-सम्बन्धी सिद्धान्त उनके कतिपय लेखों में बिखरे हुए मिलते हैं। उनके लेखों से यह प्रकट होता है कि वे केवल गुण-दोष निरीक्षण में आलोचक की इतिकर्तव्यता नहीं समझते थे। द्विवेदीजी सम्पादकों को समालोचकों और लेखकों का 'कर्त्तव्य' शीर्षक लेख में लिखते हैं—

"छन्द, अलंकार आदि तो गौण बातें हुई, इन्हीं पर जोर देना अविवेकता प्रदर्शन के सिवा और कुछ नहीं। व्याकरण आदि की भूलें होती किससे नहीं? अंग्रेजी, फारसी, अरबी, संस्कृत आदि भाषाओं के बड़े बड़े विद्वानों

ने क्या इसी तरह की भूलें नहीं कीं ? पर इससे क्या उनके ग्रन्थों की प्रतिष्ठा कुछ कम हो गई है ? किसी पुस्तक या प्रबन्ध में क्या लिखा गया है किस ढंग से लिखा गया है, वह विषय उपयोगी है या नहीं, उससे किसी का मनोरंजन हो सकता है या नहीं, उससे किसी को लाभ पहुँच सकता है या नहीं, लेखक ने कोई नई बात लिखी है या नहीं, यदि नहीं तो उसने पुरानी ही बात को नये ढंग से लिखा है या नहीं—यही विचारणीय विषय हैं। समालोचक को प्रधानतः इन्हीं बातों पर विचार करना चाहिए। लेखक ने अपने लेख या पुस्तक को जिस उद्देश्य से लिखा है, वह यदि सिद्ध होता है तो समझना चाहिए कि उसने अपने कर्तव्य का पालन कर दिया।"

किन्तु इसी के साथ किसी काव्य के गुण दोषों को बतलाना, द्विवेदीजी समालोचक का प्रमुख कर्तव्य समझते थे, यदि उसमें कोई व्यक्तिगत द्वेष भावना न हो। उन्होंने कवि-कुल-गुरु कालिदास की कविता में बड़ी निर्भीकता से काव्य और छन्द-सम्बन्धी दोष दिखलाये हैं और अपने इस कार्य का जोर से समर्थन भी किया है। द्विवेदीजी ने जो दोष दिखलाये हैं वे यद्यपि नये नहीं हैं, तथापि वे उनकी निर्भीकता और उनके प्रगाढ़ अध्ययन का परिचय देते हैं। आचार्य द्विवेदीजी प्राचीन कवियों के काव्यों में दोषोद्भावना के सम्बन्ध में लिखते हैं—

गुण-दोष विवेचन

"जिस देश के पढ़े-लिखे लोगों का यह हाल है कि पुराने ग्रन्थों के दोष दिखलाना वे पाप समझते हैं, उनमें गुण-दोष निर्णायक शक्ति, बतलाइए, कैसे उत्पन्न हो सकती है ? ऐसी शक्ति उत्पन्न हो या न हो, बोलो मत। बाल्मीकि और कालिदास के दोष दिखलाकर नरक में जाने का उपक्रम मत करो। यदि समालोचना किए बिना न रहा जाय तो प्राचीन ग्रन्थकारों के गुण ही गुण गावो। जब उन्हें सुनते-सुनते लोग ऊब जायँ, तब दोष दिखाना। भाषा-विज्ञान और गुण-दोष विवेचनात्मक आलोचना सीखने के लिए गवर्नमेन्ट भारतीय युवकों को विलायत भेजे तो उसे भेजने दें। तुम क्यों पुराने पंडितों के दोष दिखाकर व्यर्थ के लिए पातक मोल

लेते हो।"

द्विवेदीजी ने अपने कथन की पुष्टि में रवीन्द्रनाथ, अरविंद घोष, मेकडानैल, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर आदि विद्वानों का उदाहरण देकर बतलाया है कि उन्होंने कालिदास की किस प्रकार से आलोचना की थी। इन उदाहरणों से विदित होगा कि द्विवेदीजी यद्यपि समालोचक के कर्त्तव्य में लेखक की विशेषताएँ और कथित विषय का पाठकों को परिचय देना भी समालोचक का कर्त्तव्य मानते हैं तथापि उसके काव्य में दोष बतलाने को वे मुख्यता देते हुए प्रतीत होते हैं।

दोष-दर्शन बुरा नहीं है। पुस्तकें जनता की सम्पत्ति होती हैं और उनमें दोष-दर्शन करना कोई बुरी बात नहीं। इससे लेखकों में सावधानी और सचेतता रहती है किन्तु केवल दोषोद्भावना समालोचना में एकाङ्गीपन उत्पन्न कर देती है। कालिदास की निरंकुशता और स्वर्गीय रायबहादुर ला० सीतारामजी की हिन्दी कालिदास की आलोचनाएँ इसी प्रकार की एकाँगी आलोचनाएँ हो गई हैं। केवल दोषोल्लास पढ़कर पाठक को यह धारणा होने लगती है कि लेख में सिवाय दोषों के कुछ नहीं है। यदि दोषों के साथ गुणों और विशेषताओं का भी वर्णन हो, तो पाठक को गुण और दोषों का अनुपात मालूम हो जायगा और उसकी जानकारी भी बढ़ेगी।

एकाङ्गिता न हो

मेरे कहने का यह अभिप्राय नहीं कि द्विवेदीजी ने अपनी आलोचनाओं में केवल दोष-दर्शन ही किया है या जिनमें दोष-दर्शन किया है वह किसी द्वेष-भावना से किया था। द्विवेदीजी की जो आलोचनाएँ सम्पादकीय कुर्सी से लिखी गई हैं उनमें बहुत सों में तारीफ और बुराई दोनों ही हैं किन्तु जहाँ बुराई करने का अवसर आया है, वहाँ उसको व्यक्त करने में उन्होंने रू-रियायत नहीं है। रू-रियायत करना वे सम्पादकीय कर्तव्य के विरुद्ध समझते थे और यह बात बहुत अंश में ठीक भी थी किन्तु यह कहना होगा कि यह निर्भीकता कहीं-कहीं उचित मात्रा से अधिक हो जाती थी। वे हिन्दी

रू-रियायत नहीं

लेखकों की कोई भी कमजोरी क्षम्य नहीं समझते थे। यदि कोई आफत का मारा लेखक या प्रकाशक अच्छी समालोचना के लिए निजी पत्र भी लिख देता, तो वे उसका उद्घाटन किये बिना नहीं रहते। इतनी विवेचना के पश्चात् हम द्विवेदीजी की आलोचना पद्धति पर प्रकाश डालना चाहते हैं।

आलोचना की कई शैलियाँ हैं, उनमें निर्णयात्मक और व्याख्यात्मक प्रमुख हैं। निर्णयात्मक आलोचना उसको कहते हैं, जिसमें किसी रचना की आलोचना शास्त्रीय नियमों के आधार पर की जाती है। काव्य-शास्त्र सम्बन्धी पुस्तकों में जो काव्य के गुण-दोष बतलाये गये हैं उनके आधार पर पुराने ग्रन्थों में तत्कालीन साहित्य की आलोचना होती थी। मम्मट विश्वनाथ आदि आचार्यों ने गुण-दोषों की विवेचना करते हुए प्रमुख ग्रन्थों से उदाहरण दिये हैं। द्विवेदीजी ने भी कालिदास की निरंकुशता आदि ग्रन्थों में इसी प्रकार की आलोचना की है। कालिदास के ग्रन्थों में व्याकरण के दोष, छन्द के दोष, न्यूनपदत्व, अधिकपदत्व, औचित्य आदि के दोष दिखलाए हैं।

निर्णयात्मक आलोचना

इनके पढ़ने से विद्यार्थी का दोष-सम्बन्धी ज्ञान बढ़ जाता है। वह काव्य के इस अंग को समझ जाता है किन्तु लेखक की विशेषताओं पर उसका कम ध्यान जाता है। वह यह नहीं जानता कि कालिदास में कौन से गुण थे, जिनके कारण उनको यह आसन मिला। इस सम्बन्ध में यह अवश्य कहा जा सकता है कि वह एक निबन्ध मात्र था। द्विवेदीजी ने पूरे कालिदास पर कोई पुस्तक नहीं लिखी। अस्तु 'विक्रमाङ्कदेव चर्चा' में हम व्याख्यात्मक शैली का कुछ प्रयास पाते हैं। उसमें कवि का वर्णन और उसके काव्य का सहृदयता पूर्ण परिचय मिलता है। द्विवेदीजी ने बहुत-सी आलोचनाएँ ऐसी भी लिखी थीं, जिनमें केवल पुस्तक का सार ही दिया गया था। उदाहरणार्थ लोकमान्य तिलक के 'गीता रहस्य' की आलोचना। इस आलोचना में भी गुण-गान के साथ थोड़ा दोष-निरूपण है किन्तु बहुत

व्याख्यात्मक का आभास

स्वल्प मात्रा में।

अश्वघोष-कृत सौन्दरनन्द काव्य में अश्वघोष की कालिदास से थोड़ी-बहुत तुलना भी है। इसको हम तुलनात्मक आलोचना का पूर्व रूप कह सकते हैं। पण्डित नन्दलाल विश्वनाथ दुबे के शकुन्तला के अनुवाद की आलोचना* में भी थोड़ी-सी तुलनात्मक आलोचना है किन्तु इसको हम उन आलोचनाओं में रक्खेंगे जिसमें उन्होंने लेखक की कलई खोलने में कसर नहीं छोड़ी है। यद्यपि पुस्तक के जो उदाहरण दिये गये हैं उनसे मालूम तो ऐसा ही पड़ता है कि पुस्तक बहुत अच्छी नहीं है तथापि जो गलती करता है वह उपहास का पात्र नहीं, दया का पात्र है।

तुलनात्मक का पूर्वरूप

इस आलोचना में द्विवेदीजी पं० पद्मसिंह शर्मा की तीक्ष्ण शैली से समानता प्राप्त कर लेते हैं। पं० पद्मसिंह शर्मा ने जिस निर्दयता से 'सतसई-संहार' नामक लेख में पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र की आलोचना की है, उसी निर्दयता से द्विवेदीजी ने दुबेजी की आलोचना की है। आलोचना में दुबेजी के पुत्र को भी नहीं छोड़ा है। जो कुछ कहा गया है सत्य अवश्य है किन्तु बड़ा अप्रिय सत्य हो गया है। द्विवेदीजी सत्य को प्रिय बनाने की परवाह नहीं करते थे।

पं० पद्मसिंह शर्मा की शैली

इसी प्रकार भाषा, पद्य, व्याकरण की आलोचना में भी आपने लेखक महोदय पर खूब व्यंग्य-बाण चलाये हैं, देखिए—

व्यंग्य-बाण

"हाँ, महाराज! आप विद्वान्, आप आचार्य, आप प्रधान पंडित, आप विख्यात पंडित और हम अगाध अज्ञ और दुर्जन, क्योंकि हमें आपका व्याकरण संतोषप्रद नहीं। सरकार की सेवा करते-करते और प्रधानतया संस्कृत पढ़ाते-पढ़ाते आपने अज्ञता और दुर्जनता की अच्छी पहचान बताई। आपकी संस्कृतज्ञ लेखनी सचमुच विलक्षणता की कामधेनु है।"

* ये आलोचनाएँ द्विवेदीजी की आलोचनाञ्जलि में देखी जा सकती हैं।

अहम्मन्य लोगों के लिए ऐसी भाषा लिखना अधिक दोषपूर्ण नहीं किन्तु हमारे मत से तो वे भी दया के पात्र हैं। यह मतभेद की बात है किन्तु जहाँ कहीं सीधे-सादे आदमियों को उन्होंने अपने व्यंग्य-बाणों का शिकार बनाया है वहाँ मेरी समझ में अन्याय किया गया है।

द्विवेदीजी हिन्दी में भिन्न-भिन्न विषयों पर लेख और पुस्तकें लिखवाना चाहते थे। ऐसी पुस्तकों की आलोचना में द्विवेदीजी ने पाठकों का खूब ज्ञान विस्तार किया है। ये आलोचनाएँ सम्पादकीय गौरव को बढ़ाती हैं। द्विवेदीजी की प्रोत्साहन और प्रशंसापूर्ण आलोचनाओं का थोड़ा-सा उदाहरण नीचे दिया जाता है। 'भारत-भारती' की आलोचना में द्विवेदीजी लिखते हैं—

प्रशंसापूर्ण आलोचनाएँ

"यह काव्य वर्तमान हिन्दी-साहित्य में युगान्तर उत्पन्न करने वाला है। वर्तमान और भावी कवियों के लिए यह आदर्श का काम देगा। यह सोते हुओं को जगाने वाला है, भूले हुओं को ठीक राह पर लाने वाला है। निरुद्योगियों को उद्योगशील बनाने वाला है; आत्म-विस्मृतों को पूर्वस्मृति दिलाने वाला है। इसमें वह संजीवनी शक्ति है जिसकी प्राप्ति हिन्दी के और किसी भी काव्य से नहीं हो सकती है।"

ऐसी प्रोत्साहन-पूर्ण आलोचना ने गुप्तजी को महाकवि बनाने में बहुत कुछ सहायता दी होगी। गुप्तजी ने भी साकेत की भूमिका में द्विवेदीजी का ऋण स्वीकार किया है। पुस्तक के लिए जो कुछ कहा गया है अनुचित नहीं है। राष्ट्रीय जागृति में भारत-भारती ने बहुत कुछ काम किया है। ठाकुर गोपालशरणसिंह की कविताओं की भी द्विवेदीजी ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की थी।

द्विवेदीजी ने सरकारी विभागों की रिपोर्टों पर जो आलोचनाएँ लिखी हैं, वे बड़ी विद्वत्ता, मननशीलता और कुशाग्र-बुद्धि का परिचय देती हैं। कहीं-कहीं तो द्विवेदीजी सच्चे देशभक्त की भाँति सात्विक क्रोध से तिलमिला उठते हुए मालूम होते हैं और उनकी

जोरदार भाषा

भाषा बड़ी जोरदार हो जाती है। देखिए—

"बड़े ही अफसोस की बात है कि इस सूबे में जिले की हाकिमी करके और हजारों देहातियों की दुर्दशा का चित्र आँखों देखकर भी एडी साहब कचहरी जाना और रेल से सफर करना दीन-दुखिया किसानों के लिए आमोद-प्रमोद और मनोरंजन में दाखिल समझते हैं और इन बातों के वे उनके मुतमौवल होने का प्रमाण मानते हैं। भेड़ बकरियों की तरह रेल के डिब्बों में भर जाना, धक्के खाना, और ५) रु० की दीवानी की नालिश के लिए खेती, किसानी का काम छोड़कर महीनों कचहरियों में मारे-मारे फिरना भी यदि मनोरंजन और चित्र-दर्शन में शामिल समझा जा सकता है तो २४ घंटे में एक बार रूखी-सूखी मकई की रोटी से पेट भर लेना शायद मोहनभोग का मजा लूटने में भी दाखिल समझा जायगा।"

इस प्रकार से क्या साहित्य की आलोचना में और क्या राजनीतिक रिपोर्टों की आलोचना में द्विवेदीजी ने अपनी जोरदार लेखनी का परिचय दिया है। उनकी लेखनी से बहुत से लोग रुष्ट भी हुए होंगे, बहुत प्रसन्न भी किन्तु वे अपने विचार में एक रेखा-मात्र भी नहीं झुके। संक्षेप में हम उनकी आलोचनाओं की पाँच विशेषताएँ बतला सकते हैं—

पाँच विशेषताएँ

१. घोर निर्भीकता—जो कहीं-कहीं लोगों को अरुचिकर और कभी रोष भी हो जाती थी।

२. प्रगाढ़ पाण्डित्य—जिसमें प्राचीन साहित्य और पुरातत्व सम्बन्धी बातों से विशेष सम्पर्क रहता था। उनकी आलोचना की कसौटी अधिकतर देशी रहती थी।

३. लेखकों के रचना-सम्बन्धी दोषों को सहन न करना। 'भारं न बाधते राजन् यथा बाधति बाधते' की-सी बात उनमें बहुत कुछ थी।

४. अपने मत को जोरदार भाषा में प्रकट करना। उनकी आलोचनाओं में हास्य और व्यंग्य की मात्रा कुछ अधिक रहती थी।

५. विषय-विवेचन में बड़ी सावधानी और सतर्कता से काम लेना। नई

बात को बड़े सरल शब्दों में बड़ी स्पष्टता के साथ समझाना।

समालोचकों में द्विवेदीजी का स्थान बतलाना बड़ा कठिन है। किसी का स्थान निर्धारित करना बड़े उत्तरदायित्व का काम है। हम द्विवेदीजी का ऐतिहासिक महत्व अधिक मानते हैं। वे समालोचना के भवन में पहली ईंट जमाने वालों में से थे। पुस्तकाकार आलोचनाएँ शायद पहले-पहल उन्होंने ही प्रकाशित की थीं।

द्विवेदीजी का स्थान

द्विवेदीजी का स्थान निर्धारित करने में हम को यह न भूल जाना चाहिए कि जिस समय उन्होंने आलोचना का कार्य प्रारम्भ किया था, उन दिनों विदेश में भी आलोचना का आदर्श निश्चित नहीं हुआ था। स्वदेश में तो गुण-दोष विवेचन बहुत दिनों से आलोचना का लक्ष्य चला आ रहा था और उनके समय विदेश में भी कुछ ऐसा ही हाल था। द्विवेदीजी अपने समय से प्रभावित थे। उनके ऊपर भी बहुत कुछ आक्षेप हुए थे और शायद अदले का बदला देने की प्रवृत्ति ने उनमें दोष-दर्शन की प्रवृत्ति को प्रबल कर दिया।

यद्यपि मिश्र बन्धुओं से द्विवेदीजी का वाद-विवाद रहा है तथापि द्विवेदीजी और इन लेखकगणों के समालोचना-सम्बन्धी आदर्श कुछ बातों में मिलते हैं। गुण-दोष-विवेचन के सम्बन्ध में तो मिश्र-बन्धुओं के विचार भी उनसे कुछ मिलते-जुलते हैं, किन्तु भाषा विवेचन, अलंकारों की विवेचना तथा अन्य विशेषताओं के उद्घाटन में मिश्र बन्धुओं की आलोचनाएँ कुछ नवीनता लिए हुए होती हैं। पं० पद्मसिंह शर्मा और द्विवेदीजी दूसरों की हँसी उड़ाने में एक से हैं। द्विवेदीजी की आलोचना अधिक शास्त्रीय दी जाती थी। शर्माजी अपनी पसन्द के कवि की प्रशंसा में जमीन-आसमान के कुलाबे मिला देते थे, यह बात द्विवेदीजी में नहीं थी। शर्माजी तुलनात्मक आलोचना में सिद्धहस्त थे। हास्य और व्यंग्य के होते हुए भी द्विवेदीजी में कुछ अधिक संयम था। भारतीय पद्धति का आधार लेने में तो शुक्लजी और द्विवेदीजी

तुलना

की समानता है किन्तु शुक्लजी समालोचना की विदेशी पद्धति का भारतीय पद्धति के साथ समन्वय करने में अधिक समर्थ हुए हैं। उनकी आलोचनाएँ नवीन रचनाएँ होती हैं। द्विवेदीजी की आलोचनाएँ आलोचनाएँ ही रहती थीं। द्विवेदीजी की अपेक्षा शुक्लजी का हास्य भी कुछ गम्भीर है। यह द्विवेदीजी का दोष नहीं, पचास वर्ष पहले पैदा होना पाप नहीं है। द्विवेदीजी ने अपने समय के ज्ञान से पूरा-पूरा लाभ उठाया था। वे अपने समय से किसी अंश में आगे भी बढ़े थे। उन्होंने समालोचना-साहित्य की नींव डाली। हिन्दी-साहित्य को अच्छी-अच्छी आलोचनाएँ दीं। लेखकों को प्रोत्साहन दिया और उनको सतर्क भी किया। प्रायः बीस वर्ष तक सरस्वती द्वारा हिन्दी-साहित्य पर एक छत्र शासन कर साहित्य के निर्माण में बहुत कुछ योग दिया। हिन्दी-साहित्य पूज्य द्विवेदीजी की सेवाओं के लिए चिरऋणी रहेगा।

३२

शुक्लजी की विचार-समन्वित

आचार्य शुक्लजी ने अपनी 'चिन्तामणि' द्वारा हिन्दी निबन्ध-साहित्य को शैली की वैयक्तिकता और उसके पूर्ण सौष्ठव के साथ एक ठोस और सुसंगत विचार-सामग्री प्रदान की है। उनके निबन्ध

विषयगत प्रतिभा विषयगत होते हुए भी केवल शास्त्रीय सिद्धान्तों के उद्‌घाटन मात्र नहीं हैं वरन् उनमें शैली और विचार-धारा का एक सुखद निजीपन है जिसको उनके हास्य-व्यंग्य की प्रासंगिक चुटकियों ने और भी निखार दिया है। इस प्रकार वे पूर्णतया वैयक्तिक भी हैं। उनके निबन्धों को समझने के लिए उनकी प्रतिभा का कुछ परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है—उनकी प्रतिभा का मुख्य गुण है विषयगतता (Objectivity) वे कोरे हवाई किले नहीं बनाना चाहते वरन् भावपक्ष को विभावपक्ष पर आश्रित रखना चाहते हैं। वे कलापक्ष को भी निरावलम्ब नहीं रखना चाहते इसीलिए वे रहस्यवाद के विरुद्ध हैं (क्योंकि उसका विभावपक्ष जिज्ञासा का विषय है और उसमें मूर्तता, सगुणता और वैयक्तिता नहीं है जो प्रेम के लिए आवश्यक है) और वे कोरे अभिव्यंजनावाद और कलावाद को साहित्य के लिए अहितकर समझते हैं।

शुक्लजी की विचारधारा में वैयक्तिकता है किन्तु वह वैयक्तिकता की पोषक नहीं है। वे कविता को लोक-सामान्य की भाव-भूमि पर लाकर कवि के हृदय को वैयक्तिक क्षुद्रताओं से मुक्त कर देते हैं। जिस

मुक्तावस्था प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान दशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की वह मुक्तावस्था (जिसमें अपनी प्रथम सत्ता की धारणा से छूटकर अपने आपको बिलकुल भूलकर—विशुद्ध अनु-

भूति मात्र रह जाता है) रस दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है उसे कविता कहते हैं ···· कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-सम्बन्धों के संकुचित मण्डल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य की भाव-भूमि पर ले जाती है, जहाँ जगत की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है।

लोक-धर्म का प्राधान्य

तुलसी, सूर और जायसी की व्यावहारिक आलोचनाएँ भी इसी मान-दण्ड से प्रभावित हैं। तुलसी को उन्होंने इसी से शीर्ष-स्थान दिया है कि उसमें लोक-धर्म की प्रतिष्ठा है। जायसी में भी छप्पर छाने के बहाने उन्होंने लोक-धर्म के कण खोज निकाले हैं यद्यपि मैं स्वयं उस उक्ति को लाक्षणिक ही समझता हूँ तथापि उसमें लोक-धर्म की स्थापना शुक्लजी की लोक-धर्म मनोवृत्ति की परिचायक है। शुक्लजी की कला कला के लिए नहीं वरन् जीवन के लिए है। जीवन की अनेकरूपता में उनका हृदय रमा है और उसी के अनुकूल भावों की अनेकरूपता चाही है।

राम का आदर्श

शुक्लजी काव्य में जीवनगत मूल्यों को मान देते हैं। उनके लोक हित के आदर्श तुलसी के मर्यादा पुरुषोत्तम राम हैं उनके वन-गमन के सौन्दर्य पर वे मुग्ध हैं क्योंकि उसमें लोक का आकर्षण है, उसमें कर्तव्य-पालन की ध्वनि है और वह शील समन्वित है—'सादर बारहिबार सुभाय चितै तुम क्यों हमरो मन मोहैं'। उनका शील उनके सौन्दर्य में वह गुण ले आया है जिसके आगे लोक हृदय को झुकना पड़ता है और वह अन्त में भक्तों के हृदय की कुटिलाई को हरता है—

"प्रभु सप्रेम पछितानि सुहाई।
हरउ भगत मन की कुटिलाई॥"

राम की भक्ति शील-समन्वित होने के कारण रावण-की-सी सात्त्विकता-

परायण राक्षसता नहीं, जिसने देवताओं, ऋषियों और सात्विक वृत्ति के लोगों का नाक में दम कर रखा था। उनकी शक्ति 'परेषां परिपीड़नाय' न होकर 'परेषां रक्षणाय' थी। उनका क्रोध भी सात्विक क्रोध था जो दूसरों पर किये हुए अत्याचार को देखकर तिलमिला उठता है (चिन्तामणि में तुलसी का भक्ति-मार्ग और मानस की धर्म-भूमि पढ़िए) उनकी प्रतिभा की विषयगतता के अनुकूल ही उनके मन में लोक-सामान्य की भाव-भूमि और लोक-धर्म की प्रतिष्ठा है उनके इस नैतिकवाद में ही भारतीय साधारणीकरण की संगति है। विचारों की अनुपम संगति उनकी प्रतिभा की तार्किक विशेषता है।

चिन्तामणि भाग एक के भी दो भाग हैं—एक मनोवैज्ञानिक दूसरा साहित्यिक। मनोवैज्ञानिक निबन्ध भी बहुत अंश में साहित्यिक ही हैं। उन

मनोवैज्ञानिक निबंधों का साहित्यिक पक्ष

निबन्धों में सात का सम्बन्ध तो सात रसों के स्थायी भावों से है। उत्साह का सम्बन्ध वीर रस से है इसको ही उन्होंने प्रथम स्थान दिया है क्योंकि उनका दृष्टिकोण कर्तव्यपरायण था। कविता में भी उन्होंने सिद्धावस्था की अपेक्षा साधनावस्था को जिसमें सुख-सम्पत्ति के उपभोग का नहीं वरन् उसकी प्राप्ति और उपलब्धि के अर्थ वीरतापूर्ण प्रयत्नों का जैसे रामचरित मानस में है, वर्णन आता है, महत्व दिया है।

करुणा का सम्बन्ध करुण रस से है, क्रोध का रौद्र से, भय का भयानक से, घृणा का वीभत्स से, लोभ और प्रीति का शृङ्गार से तथा श्रद्धा-भक्ति शान्त

श्रद्धा-भक्ति

रस से सम्बन्धित हैं। श्रद्धा-भक्ति में भी उनके काव्य के आदर्शों की झलक है। श्रद्धा और भक्ति दोनों में ही महान व्यक्तियों की महत्ता की आनन्दपूर्ण स्वीकृति रहती है। ईर्ष्या में दूसरे की महत्ता की दुःखपूर्ण स्वीकृति होती है और उसकी महत्ता को नष्ट करने की प्रवृत्ति रहती है। श्रद्धा में उस महत्ता को स्वयं ही स्वीकार नहीं किया जाता वरन् दूसरों द्वारा भी उसके स्वीकार कराने में प्रसन्नता का अनुभव होता है। रहा श्रद्धा और प्रेम में अन्तर है। प्रेम एकान्तिक होता है। वह प्रेमास्पद पर एकाधिकार चाहता है किन्तु श्रद्धा

अपने भाव में दूसरे के साझे के लिए उत्सुक रहती है। भक्ति में श्रद्धा और प्रेम मिल जाते हैं और वह भक्त को कर्तव्योन्मुख बनाकर उत्थान की ओर ले जाता है। "श्रद्धालु महत्व को स्वीकार करता है, पर भक्त महत्व की ओर अग्रसर होता है। श्रद्धालु अपने जीवन-क्रम को ज्यों का त्यों छोड़ता है; पर भक्त उसकी काट-छाँट में लग जाता है।" जीवन का उत्थान ही शुक्लजी की सिद्धान्त-साधना का परम लक्ष्य है।

करुणा तो रस के मूल में ही बैठी रहती है क्योंकि करुणा में ही परदुखानुभूति और सहानुभूति रहती है जो रस का मूल है—करुणा ही मनुष्य को लोकहितार्थ प्रवृत्त करती है और परपीड़न की अधमाई से बचाती है। करुणा को शुक्लजी ने व्यापक अर्थ में लिया है कौशल्या की 'सावन गरजै, भादौं बरसै, पवन चलै पुरवाई, कौन विरिछतर भीजत हैं राम लखन दोऊ भाई' की वात्सल्यमयी चिन्ता और यशोदा को 'संदेसो देवकी सों कहियौं' की सुख की निश्चयता में भी अनिश्चयता देखने वाली प्रेम की आशंकाओं के चित्रण के साथ वियोगमयी नायिका की चिन्ताप्रेरित प्रियतम के अनिष्ट की आशंका भी आ जाती है—

करुणा

"नदी किनारे धुआँ उठत है, मैं जानू कछु होय।
जिसके कारण मैं जली, वही न जलता होय॥"

करुणा को ऐसा मनोवेग बतलाया है कि जो करुणा के पात्र से बदले के व्यवहार की अपेक्षा नहीं करता। करुणा का बदला कृतज्ञता से हो सकता है किन्तु करुणा नहीं (जैसा कि प्रेम में प्रतिस्पन्दन अपेक्षित होता है वैसा तद्रूप प्रतिस्पन्दन करुणा में नहीं)। लज्जा और ग्लानि का अन्तर भरत की ग्लानि की व्याख्या में सार्थक हुआ है। लोभ और प्रीति का अन्तर जायसी में रत्नसिंह के प्रारम्भिक प्रेम दशा की आलोचना में उपयोग में आता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मनोविकारों के विश्लेषण का शुक्लजी ने अपनी व्यावहारिक विवेचना में पूरा-पूरा उपयोग किया है।

घृणा, भय, क्रोध क्रमशः बीभत्स, भयानक और रौद्र के स्थायी भाव हैं। घृणा के वर्णन में वैयक्तिकता की अपेक्षा सार्वजनिकता को अधिक महत्व दिया गया है। 'वैर का आधार व्यक्तिगत होता है, घृणा का सार्वजनिक—पर घृणा का नाम सुनकर अधिकतर यही अनुमान होता है कि समाज के लक्ष्य का आदर्श का विरोध हुआ है' शुक्लजी का घृणा का भाव भौतिक की अपेक्षा सामाजिक और नैतिक अधिक है। घृणा और क्रोध को उन्होंने प्रेष्य मनोवेगों में रखा है, अर्थात् जिनके द्वारा दूसरे के मन में समान भाव की उत्पत्ति होती है। इसलिए उन्होंने बतलाया है कि ये दोनों ही मनोविकार ऐसे हैं जिनको कि सावधानी से अपने मन में स्थान देना चाहिए।

घृणा

शुक्लजी ने उसी सात्विक क्रोध को महत्व दिया है जो अत्याचारी के अत्याचार देखने पर प्रकट होता है। वैयक्तिक क्रोध को वे उतना महत्वपूर्ण नहीं समझते। भय की स्थिति से बचने के लिए शुक्लजी ने दो ही उपाय बताये हैं—एक यह कि हम किसी की हानि न करें और दूसरा यह कि हम में इतनी शक्ति हो कि दूसरे के आक्रमण को विफल कर सकें। यहाँ पर शुक्लजी के द्वारा अनुमोदित भगवान राम के शील और शक्ति-सम्बन्धी दैवी गुण आजाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि शुक्लजी द्वारा जो मनोवेगों का विश्लेषण हुआ है उसमें लोकहित का प्राधान्य है यह सब उनकी विषयगत प्रतिभा का ही प्रभाव है।

सात्विक क्रोध

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं साधरणीकरण लोक-सामान्य भाव-भूमि के नैतिक पक्ष का साहित्यिक पर्याय है। शुक्लजी ने साधरणीकरण की समस्या का विवेचन 'साधरणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद' के अध्याय में किया है। समस्या संक्षेप में इस प्रकार है कि अभिव्यञ्जनावाद के प्रवर्तक क्रोचे (Croce) ने दो तरह का ज्ञान माना है—एक कल्पनाप्रसूत स्वयं प्रकाशमान (Intention) जो व्यक्ति का होता है,

साधरणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद

इसका सम्बन्ध कला और साहित्य से है और दूसरा बौद्धिक ज्ञान जिसका सम्बन्ध विज्ञान और दर्शन के सामान्य बोधों (Concepts) से है। इस सम्बन्ध में वे लिखते हैं काव्य का विषय सदा विशेष होता है 'सामान्य' नहीं, वह व्यक्ति सामने लाता है जाति नहीं। हमारे यहाँ साधरणीकरण पर महत्त्व दिया गया है। प्रश्न यह उपस्थित हो जाता है कि क्रोचे का यह सिद्धान्त कि साहित्य का सम्बन्ध व्यक्तियों से है हमारे यहाँ के साधरणीकरण के सिद्धान्त के विरुद्ध तो नहीं पड़ता है। इस समस्या का समाधान इस प्रकार किया गया है 'विभावादि साधारणतया प्रतीत होते हैं, इस कथन का अभिप्राय यह नहीं है कि रसानुभूति के समय श्रोता या पाठक के मन में आलम्बन आदि विशेष व्यक्ति या विशेष वस्तु की मूर्त भावना के रूप में न आकर सामान्यतः व्यक्ति मात्र या वस्तु मात्र (जाति) के अर्थ संकेत के रूप में आते हैं (कहने का तात्पर्य यह है कि काव्य के विषय व्यक्ति ही रहते हैं वे सामान्य या जाति नहीं बन जाते हैं) साधरणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति विशेष या वस्तु विशेष आती है, वह जैसे काव्य में वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलम्बन होती है, वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाती है······इससे सिद्ध हुआ कि साधरणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है व्यक्ति तो विशेष ही रहता है; पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता है। तात्पर्य यह है कि आलम्बन रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति समान प्रभाव वाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण सबके भावों का आलम्बन हो जाता है।'

शुक्लजी के उपर्युक्त विवेचन में भी कविता के सम्बन्ध में वर्णित लोक-सामान्य भाव-भूमि की झलक आजाती है। कविता के आलम्बन में ऐसे गुण होते हैं जिनके सभी लोग कविता के आश्रय के साथ तादात्म्य कर लेते हैं। ऐसे आलम्बन के पीछे हमको तुलसी के राम झाँकते हुए दिखाई पड़ते

हैं। शुक्लजी ने आश्रय के साथ तादात्म्य के कुछ अपवाद भी बताए हैं जैसे पाठक लक्ष्मण के प्रति किए हुए क्रोध में परशुराम के साथ भाव-तादात्म्य नहीं कर सकते हैं और न सीता के प्रति व्यक्त किए हुए रावण के भर्त्सनापूर्ण शृंगारिक भावों में योग दे सकते हैं। यहाँ पर शुक्लजी ने कवि या शील-द्रष्टा के साथ भाव-तादात्म्य की कल्पना की है। यद्यपि यह कल्पना नितान्त आवश्यक नहीं है। हम यदि रावण और परशुराम के साथ भाव-तादात्म्य नहीं कर सकते तो सीता और लक्ष्मण के साथ कर ही सकते हैं तथापि उनके शील-द्रष्टा में लोक-धर्म की प्रतिष्ठा हो जाती है।

शुक्लजी ने साहित्य का विषय व्यक्ति माना है किन्तु उसकी सीमा रखी है कि नितान्त विलक्षण न हो जाय। शुक्लजी ने शील-वैचित्र्य को माना है। उन्होंने शील-वैचित्र्य तीन प्रकार का माना है।

शील-वैचित्र्य

पहला जिसमें आश्चर्यपूर्ण प्रसाद न होता है अर्थात् जहाँ शील का चरमोत्कर्ष दिखाई देता है, जैसे भरत या सत्य हरिश्चन्द्र के चरित्र में, दूसरा आश्चर्यपूर्ण अवसादन, जहाँ शील का चरम पतन दिखाई देता है, जैसे रावण या मिहिरकुल के चरित्र में। पहला चरित्र सात्विक की श्रेणी में आयेगा और दूसरा तामसिक की श्रेणी में। उनमें वैचित्र्य और असाधारणता होते हुए भी किसी विशेष वर्ग या प्रकृति के भीतर बाँधे जाने की क्षमता रहती है। किन्तु एक तीसरा वर्ग भी माना गया है जो किसी वर्ग के भीतर न जाकर केवल कौतूहलवर्द्धक होता है। इसीलिए आचार्य शुक्लजी ने डंटन (Theodre Watts Dunton) के निरपेक्ष या नाटकीय दृष्टिकोण को जिसमें संसार से विलक्षण को ही मान दिया जाता है अस्वाभाविक और असाहित्यिक ठहराया है। शुक्लजी लिखते हैं—'अतः हमारे देखने में ऐसी मनोवृत्ति का प्रदर्शन, जो किसी दशा में किसी की हो ही नहीं सकती, केवल ऊपरी मन-बहलाव के लिए खड़ा किया हुआ कृत्रिम तमाशा ही होगा।'

आचार्य शुक्लजी की विषयगतता ने प्रत्यक्ष में रसानुभूति के विधान की ओर भी ध्यान आकर्षित किया है जिसको प्राचीन आचार्यों ने नहीं स्वीकार किया है। 'हमारा कहना यह है कि जिस प्रकार काव्य में वर्णित आलम्बनों के कल्पना में उपस्थित होने पर साधरणीकरण होता है, उसी प्रकार हमारे भावों के कुछ आलम्बनों के प्रत्यक्ष सामने आने पर भी उन आलम्बनों के सम्बन्ध में लोक के साथ या कम से कम सहृदयों के साथ हमारा तादात्म्य रहता है। ऐसे विषयों का आलम्बनों के प्रति हमारा जो भाव रहता है, वही भाव और भी बहुत से उपस्थित मनुष्यों का रहता है। वे हमारे और लोक के सामान्य आलम्बन रहते हैं', ऐसी रसानुभूति दुखद अनुभवों के सम्बन्ध में भी हो सकती है यदि उसमें वैयक्तिक सम्बन्ध से मुक्ति प्राप्त रहे। यदि क्रोध अपनी हानि के सम्बन्ध में न हो और शोक भी अपने सम्बन्ध से न हो तब वह इस दशा को प्राप्त होता है। इसीलिए शुक्लजी ने शोक और करुणा का भेद बतलाया है। शोक अपनी हानि के सम्बन्ध में होता है और करुणा दूसरे की हानि के सम्बन्ध में। शुक्लजी के इस वर्णन-विवेचन की महत्ता स्वीकार करते हुए भी हमें कहना पड़ेगा कि रसानुभूति के लिए, हमको प्रत्यक्ष से कुछ ऊँचा उठना पड़ता है प्रत्यक्ष की प्रतीति में भी थोड़ी कल्पना मिली रहती है, चाहे वह कल्पना का व्यापार अप्रत्यक्ष ही क्यों न हो। इस प्रकार की रसानुभूति में शुक्लजी प्राचीनकाल के भट्ट लोल्लट के निकट आजाते हैं, जिन्होंने मूल अनुकार्यों में रस माना था। कल्पनाशील और संस्कारी पुरुषों के मन में ही करुणा जाग्रत होती है। प्रत्यक्षानुभववादी बनकर ही रसानुभूति का विषय नहीं बनता वरन् उसमें थोड़ी कल्पना का पुट आवश्यक हो जाता है। Wordsworth के 'Recollected in tranquility' के सत्य को भी हमें न भूलना चाहिए। शुक्लजी ने स्मृति और कल्पना को प्रत्यक्ष पर आधारित किया है, इसमें किसी को मतभेद न होगा। रसानुभूति में प्रत्यक्ष को महत्ता देना शुक्लजी की विषयगत मनोवृत्ति का परिचायक है।

रसानुभूति

३४

शुक्लजी के मनोवैज्ञानिक निबन्ध

गद्य

यद्यपि अभी कविता कामिनी का न रङ्ग ही पीला पड़ा है और न उसके रम्य रत्नाभरण ही ढीले हुए हैं और इस 'भजकलदारं महामन्त्र-प्रबोधित' काल में भी 'कामायनी' जैसे महाकाव्य की सृष्टि हुई है, तथापि बुद्धिवाद और उपयोगितावाद के स्पन्दनों से अनुप्राणित इस युग की आत्मा गद्य से अधिक मेल खाती है। जादू वह है जो सर पर चढ़ कर बोले। आजकल की पद्य भी गद्योन्मुख हो चली है।

निबन्ध का महत्त्व

गद्य का शाब्दिक अर्थ है जो बोली जाय किन्तु नित्य के व्यवहार की वस्तु होने पर भी इसमें 'अति परिचयादवज्ञा' का नियम नहीं लगता। इस यन्त्र-प्रधान लौह-युग में ही नहीं वरन् अपेक्षाकृत प्राचीन स्वर्णयुग में भी इसका मान रहा है 'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति' गद्य को कवियों की कसौटी कहा है। इस गर्वोन्नत गद्य के अनेक रूप हैं। उनमें हम निबन्ध को उसका निजी रूप कह सकते हैं क्योंकि उसमें हम वस्तु और आकार का पूर्ण सामञ्जस्य पाते हैं।

उपकरण बुद्धि

जब आजकल के छायावादी कवि मानसिक मर्यादाओं को और वस्तुग्राही बुद्धिवादी भौतिक सीमाओं को क्रूर विस्फोटकों द्वारा भङ्ग करने में व्यग्र हों तब निबन्ध की ही सीमा कहाँ निर्धारित की जा सकती है? परिभाषा देना तो बहुत कठिन है परन्तु इतना कहना सत्य से परे न होगा कि निबन्ध वह रचना है जिसमें अपेक्षाकृत सीमित परिमाण के भीतर एक सुखद निजीपन और स्वच्छन्दता के साथ भावों और विचारों का क्रमबद्ध उद्घाटन किया गया हो।

अंग्रेजी के Essay शब्द का अर्थ है प्रयास। उसमें उसकी अपूर्णता और स्वच्छन्दता की ओर संकेत है। हिन्दी निबन्ध में क्रम और संगठन की व्यञ्जना है। निबन्ध पद्य में भी हो सकता है, जैसे द्विवेदीजी का 'हे कविते' किन्तु गद्य उसके विशेष अनुकूल है।

वर्गीकरण

निबन्धों का वर्गीकरण भी उतना ही कठिन है जितना उनकी सीमा निर्धारित करना किन्तु मोटे तौर से हम यह कह सकते हैं कि निबन्ध तीन प्रकार के होते हैं—वर्णन-प्रधान, भाव-प्रधान और विवेचना-प्रधान। यह विभाजन केवल प्रधानता पर ही अवलम्बित है। इसमें लक्ष्मणजी की-सी बाँधी हुई कोई अनुल्लंघनीय मर्यादा नहीं। सहित होने का भाव तो साहित्य का जन्मजात गुण है।

पूर्व के युग

आचार्य शुक्लजी के पूर्व निबन्धों के दो युग रहे हैं—एक हरिश्चन्द्र युग दूसरा द्विवेदी युग। शुक्लजी को हम चाहे युग-निर्माता न कहें क्योंकि निर्माताओं की आवश्यकता प्रारम्भिक काल में ही पड़ती है (बालकों के प्रौढ़ता प्राप्त कर लेने के पश्चात् कहानी के राजा की बेटियों की भाँति सब अपने-अपने भाग का खाते हैं) किन्तु यह बात निर्विवाद है कि गद्य-साहित्य की और विशेषकर निबन्ध-साहित्य की प्रतिष्ठा बढ़ाने में शुक्लजी अद्वितीय हैं। इस नाते हम उनको युग-निर्माता भी कहें तो कुछ अनुचित न होगा। व्यक्ति-पूजा का मैं पक्षपाती नहीं तथापि प्राप्य और उचित श्रेय को न देना भी पाप समझता हूँ।

हरिश्चन्द्र-युग के निबन्धों में जानकारी बढ़ाने के साथ चमत्कार-प्रदर्शन और जिन्दादिली की मात्रा अधिक थी। उन लेखों में भावात्मकता का भी पुट बहुतायत से रहता था। वे हिन्दी के हँसने-खेलने के दिन थे। द्विवेदी-युग में हिन्दी को स्कूली शिक्षा मिली, उस समय के निबन्धों में ज्ञान विस्तार की प्रवृत्ति अधिक थी किन्तु उनमें विस्तार के साथ गहराई की अपेक्षाकृत

कमी रही। भावात्मकता ने धीरे-धीरे गद्य-काव्य के रूप में अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया। इसलिए उस समय के साधारण निबन्धों में उसका पुट अधिक न दिखाई दिया। द्विवेदीजी ने अंग्रेजी और मराठी के उच्च कोटि के निबन्धों का अनुवाद कर पाठकों का मानसिक धरातल ऊँचा किया। बेकन के निबन्धों का अनुवाद हुआ किन्तु बेकन के से निबन्ध नहीं लिखे गये। जूठी पत्तल चाटने की बात रही। निबन्धों के क्षेत्र में गूढ़ विवेचन और सूक्ष्म विश्लेषण को लाने का श्रेय आचार्य शुक्लजी को है। जो स्थान उपन्यास-साहित्य में मुन्शी प्रेमचन्दजी का था वही स्थान निबंध-साहित्य में आचार्य शुक्लजी का है।

शुक्लजी ने अधिकतर विवेचन-प्रधान निबंध लिखे हैं, जिनमें समास-शैली का प्रधान्य है। शुक्लजी के निबंधों में जो सिद्धान्तों की उदाहरणों द्वारा व्याख्या की जाती है उसमें व्यास शैली का पुट रहता है।

दो प्रकार के लेख विषय के हिसाब से हम उनके दो विभाग कर सकते हैं, एक वे जो जीवन से सम्बन्ध रखने वाले हैं और दूसरे वे जो साहित्य-शास्त्र के विषय को लेकर चले हैं और जिनमें उनके आचार्यत्व की छाप है। ये दोनों विभाग भी अन्योन्य-बहिष्कारक नहीं हैं। वास्तव में जितना सम्बन्ध जीवन और साहित्य का है उतना ही सम्बन्ध इन दोनों प्रकार के निबंधों का है। शुक्लजी के जीवन-सम्बन्धी लेखों में हम उनके उत्साह, करुणा, भय, ईर्ष्या, लोकप्रीति, श्रद्धा-भक्ति आदि मनोवैज्ञानिक लेखों को लेंगे और साहित्यिक लेखों में कविता क्या है, साधरणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद तथा रसात्मक-बोध के विविध रूप आयेंगे।

यह कहना कि शुक्लजी के निबन्धों में कोई नयी बात नहीं, उनके साथ अन्याय करना होगा। वैसे तो दुनिया में कुछ भी नया नहीं, सभी वेदों में बीज-रूप से मौजूद हैं। इस लेख में शुक्लजी

मौलिकता के मनोवैज्ञानिक या जीवन-सम्बन्धी निबन्धों पर विचार किया जायगा।

ये निबंध जीवन से सम्बन्ध अवश्य रखते हैं किन्तु इनका सम्बन्ध रस-शास्त्र से है क्योंकि इनके वर्ण्य-विषय या तो रस से सम्बन्ध रखने वाले स्थायी भाव या संचारी भाव हैं। स्थायी भावों में उत्साह, करुणा, घृणा, भय, क्रोध और प्रेम गिनाये जा सकते हैं। भक्ति को चाहे प्रेम का भाव मान लें और चाहे स्वतन्त्र रूप से भक्ति-रस का स्थायी भाव। इनमें उत्साह और प्रेम सुखमय मनोविकारों से सम्बन्ध रखते हैं और करुणा, भय, क्रोध और घृणा को दुःखमय मनोवेगों में स्थान देंगे। श्रद्धा, बैर, ईर्ष्या आदि मनोवेग नहीं हैं, वरन् भावमय वृत्तियाँ हैं जिन्हें अंग्रेजी में सेण्टीमेण्ट कहते हैं। मनोवेग और भावमय वृत्ति में अन्तर यह है कि भावमय वृत्ति (Sentiment) अपेक्षाकृत स्थायी होती है। मनोवेग हमेशा नहीं रह सकते। उनमें तीव्रता अधिक होती है किन्तु व्यापकता कम। शुक्लजी ने क्रोध और बैर का सम्बन्ध बतलाते हुए इस भेद की ओर संकेत किया है। 'बैर, क्रोध का अचार या मुरब्बा है।' अचार या मुरब्बे में ताजे फल-की-सी सद्यता तो नहीं होती वरन् स्थायित्व अधिक होता है। बैर और क्रोध में भी यही बात है। बैर भावमय वृत्ति है—क्रोध मनोवेग है। श्रद्धा भी एक भावमय वृत्ति है जो हर समय रहती है। लज्जा ग्लानि आदि संचारी हैं।

रस से सम्बन्ध

ये निबन्ध मनोवैज्ञानिक हैं किन्तु इनमें शुक्लजी के जीवन-सिद्धान्त निहित हैं तथा उनकी भावी आलोचनाओं के विचारात्मक अंश के (कलात्मक अंश नहीं) बीज भी इन्हीं में मिलते हैं। इस प्रकार इन निबन्धों में वे सम्बन्ध-तन्तु मिलते हैं जो उनकी सारी कृतियों को संगठित किए हुए हैं।

भावी आलोचनाओं के आधार

यद्यपि आचार्य शुक्लजी ने कभी भभूत रमा कर राम भक्ति के गीत नहीं गाये और न मंच पर आकर देशभक्ति का राग अलापा तथापि वे रामभक्ति, देशभक्ति और प्राकृतिक सौन्दर्य की उपासना में किसी से कम न थे। ये सभी प्रकार के प्रेम उनके जीवन-प्रेम के अन्तर्गत कहे जा सकते हैं। उनका यह जीवन-प्रेम वैयक्तिक जीवन का प्रेम नहीं, वरन् जीवनमात्र का है।

यही प्रेम उनकी कविता की परिभाषा का आधार-स्तम्भ है। 'कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-सम्बन्धों के संकुचित मण्डल से ऊपर उठा कर लोक सामान्य भाव-भूमि पर ले जाती है।' इस लोक सामान्य-भूमि के जीवन-प्रेम में हम उनकी रामभक्ति की कुंजी पा सकते हैं। राम के जीवन के कर्तव्य-सौन्दर्य ने तो उनकी सारी विचारधारा को प्रभावित कर रक्खा है। 'नाते सबै राम के मनियत सुहृद् सुसेव्य जहाँ लौं।' राम के जीवन का कोई-न-कोई पक्ष इन निबन्धों में लवण की भाँति मिला हुआ है। उत्साह में कर्मभावना की, जो राम के लोकरक्षक जीवन का रहस्य है श्रेष्ठता दिखाई है। करुणा, क्रोध और घृणा में वे प्रेरक शक्तियाँ हैं जो मनुष्य को कर्तव्य-भूमि की ओर अग्रसर करती हैं और जिनका सम्बन्ध श्रीरामजी के लोक-संग्रह-प्रधान कार्यों से है। सात्विक क्रोध की उन्होंने भूरि-भूरि प्रशंसा की है और इसमें गाँधी-वाद और उनके मूल टालस्टाय के मत से स्पष्ट विरोध प्रकट करने में आचार्य ने जरा भी संकोच नहीं किया है। लज्जा और ग्लानि का अन्तर बतला कर वे भरत के लोक-पावन-चरित की व्याख्या कर सके हैं। लोभ और प्रीति में हमको जायसी, सूर और तुलसी की प्रेम-सम्बन्धी विवेचनाओं की आधार-शिला मिल जाती है। श्रद्धा और भक्ति में भी राम के शील और कर्तव्य-सौन्दर्य पर प्रकाश है और उसी के साथ उस भक्ति का त्यागमय आदर्श भी बतलाया गया है जो सच्चे राम-भक्त में होना चाहिए।

भय का सम्बन्ध भी शील और शक्ति के सदुपयोग से है। ईर्ष्या का कोई प्रकृत-सम्बन्ध उनकी आलोचनाओं से नहीं प्रतीत होता, यदि हो तो नागमती के असूया भाव से हो सकता है। ईर्ष्या को क्रोध से पृथक् करने के लिए भी ईर्ष्या का निरूपण आवश्यक था। क्रोध को शुक्लजी क्षम्य मानते हैं किन्तु ईर्ष्या को वे पाप कहते हैं।

इन निबंधों में अन्तः निरीक्षण और बाह्य निरीक्षण दोनों के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। बाह्य निरीक्षण शुक्लजी का कुछ विस्तृत है। वह वास्तविक जीवन से भी है और जीवन के प्रतिबिम्ब स्वरूप साहित्य से भी।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि शुक्लजी के निबंध मनोवैज्ञानिक और विवेचनात्मक होते हुए भी जीवन से पूरा लगाव रखते हैं। शुक्लजी के सात्विक क्रोध, लोकरक्षा के भाव तथा उनके मार्मिक व्यंग्य उनके निबंधों को लोहे के चने होने से बचाये रखते हैं। उनमें चनों का-सा ठोस और पौष्टिक खाद्य है

हास्य-व्यंग्य

किन्तु उस स्वाद की भी कमी नहीं जिसके कारण बन्दी सम्राट् शाहजहाँ ने चने को अपना एकमात्र खाद्य चुना था। कहीं-कहीं तो वे चने कुछ जोर गरम का रूप धारण कर लेते हैं, जैसे 'जिनके पास कुछ रुपया है··· अत्यन्त भीरु और कायर होकर (राय) बहादुर कहलाते हैं।' 'मोटे आदमियो ! तुम जरा-सा दुबले हो जाते—अपने अँदेशों से ही सही तो न जाने कितनी ठठरियों पर मांस चढ़ जाता' अमीरों का चिन्ताशील न होना ही तो गरीबी का कारण है।

शुक्लजी के निबंधों में पहले एक बात सूत्र-रूप से कही जाती है फिर उसकी विश्लेषणात्मक व्याख्या की जाती है और जीवन के लिए हुए उदाहरणों द्वारा वह बात स्पष्ट की जाती है। उनके उदाहरण बड़े मार्मिक होते हैं। शुक्लजी सिद्धान्त की गगनचुम्बी अट्टालिका से साधारण लोगों के धरातल पर उतर आना जानते हैं। बेकन, कारलायल, इमर्सन आदि में इतना उतार-चढ़ाव नहीं जितना कि हम शुक्लजी में देखते हैं।

वास्तव में जीवन से सम्पर्क उनकी विचारधारा की कुंजी है, यह भाव उनकी सभी आलोचनाओं तथा निबन्धों में ओत-प्रोत है। जीवन से सम्पर्क हटने के कारण ही उन्होंने छायावाद का विरोध किया। जीवन से सम्बन्ध ही उनकी कविता की परिभाषा का मूल स्वर है। प्रकृति को आलम्बन रूप मानते हुए भी

जीवन से सम्पर्क

उसमें मानव-जीवन के सम्बन्ध को वे मुख्यता देते हैं। शुक्लजी में सम्बन्ध-भावना बड़ी प्रबल थी। वे वस्तु को उसके स्वाभाविक सम्बन्धों से अलग निरपेक्ष रूप में नहीं देखना चाहते थे। वे विशिष्ट में साधारण को और साधारण में विशिष्ट को देखते थे। इसीलिए वे जीवन सम्पर्क-विहीन केवल सैद्धान्तिक देशभक्ति के विरोधी थे और ऐसे देशभक्तों की हँसी उड़ाने में

कभी नहीं छोड़ते थे। देखिए—'जो आँख भर यह भी नहीं देखते कि आम प्रणय-सौरभ-पूर्ण मञ्जरियों से कैसे लदे हुए हैं, जो यह भी नहीं झाँकते कि किसानों के झोंपड़ों के भीतर क्या हो रहा है, वे यदि दस बने-ठने मित्रों के बीच प्रत्येक भारतवासी की औसत आमदनी का पता बता कर देश-प्रेम का दावा करें तो उनसे पूँछना चाहिए कि भाइयो बिना परिचय के यह प्रेम कैसा ? जिनके सुख-दुख के तुम कभी साथी न हुए उन्हें तुम सुखी देखना चाहते हो, यह समझते नहीं बनता। उनसे कोसों दूर बैठे-बैठे, पड़े-पड़े या खड़े-खड़े तुम विलायती बोली में अर्थ-शास्त्र की दुहाई दिया करो पर प्रेम का नाम उसके साथ न घसीटो' (कैसी निर्भीक और व्यंग्यपूर्ण भाषा है यही विचार की ऊँची सुर्री से सामान्य धरातल पर उतरना है)।

विशेष और साधारण के समन्वय के ही कारण हम उनके निबंधों की सूक्तियों के साथ उदाहरण और उदाहरण के साथ सूक्तियों का समावेश पाते हैं। जब वे उदाहरणों से सूक्तियों पर आते हैं तब वे आगमनात्मक (Inductive) पद्धति पर आते हैं और जब सूक्ति से उदाहरणों पर जाते हैं तब वे निगमन के क्षेत्र में आते हैं। शुक्लजी की सूक्तियों में गूढ़ सिद्धान्त मुरब्बे की तरह सुरक्षित रहते हैं—'बैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है', 'लोभ सामान्योन्मुख होता है और प्रेम विशेषोन्मुख', 'श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है', 'भक्ति धर्म की रसात्मक अनुभूति है।' 'यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण है,' 'मनोवेग वर्जित सदाचार दम्भ या झूठी कवायद है'।

सूक्तियाँ

शुक्लजी की शैली का विवेचन करना तो इस लेख का विशेष ध्येय नहीं तथापि उनकी साधारण रूपरेखा बता देना अनुपयुक्त न होगा। शुक्लजी की शैली समस्त विवेचनात्मक शैली है। उसमें एक विचार से दूसरे विचार ऐसे स्वाभाविक क्रम से निकलते आते हैं मानो वे उसमें पहले से ही गुथे हों। विवेचना के साथ उनके निबंधों में भावुकता की भी झलक मिल जाती है। शुक्लजी की शैली पत्थर-सी

विचारात्मक निबन्धों का आदर्श

ठोस अवश्य है, किन्तु वह सूखे पत्थरों-सी नहीं वरन् उन पत्थरों की-सी है, जिनसे रसस्राव होता है। हम उनकी शैली के बारे में अधिक न कहकर शुक्लजी के ही शब्दों में उत्तम विचारात्मक शैली का आदर्श देते हैं जो कि उनके निबंधों में पूर्णतया चरितार्थ होती है—

"शुद्ध विचारात्मक निबंधों का चरम उत्कर्ष वहीं कहा जा सकता है जहाँ एक-एक पैरेग्राफ़ में विचार दबा-दबा कर कसे गए हों और एक-एक वाक्य किसी सम्बद्ध विचार खण्ड को लिए हो।"

यहाँ पर यह बतला देना अनुपयुक्त न होगा कि शुक्लजी की निजी विशेषता क्या है? हमने निबंध की परिभाषा में बतलाया है कि निबंध में एक निजीपन रहता है, किसी में विनोदप्रियता का, किसी में भावुकता का तो किसी में विद्रोह और विस्फोट का। वैसे तो विवेचनात्मक निबंधों में निजीपन की कम गुञ्जायश रहती है। तर्क व्यक्तित्व का बाधक होता है तथापि हमें शुक्लजी के विवेचना-प्रधान लेखों में भी उनकी आत्मा झाँकती हुई मिल जाती है। उनकी आत्मगत विशेषता का ऊपर उल्लेख हो चुका है किन्तु उसको स्पष्ट रूप से दुहरा देना राम-नाम की भाँति पुनरुक्ति दोष न होगा। यह विशेषता है मानव-जीवन के प्रति न्यायपरक अनुराग की जो कि उनके राम के आदर्श में मूर्तिमान हो रहा है, जिसे कहानियों में हम सुनते हैं कि बहुत से आदमियों की जान तोते या और पक्षी के रूप में किसी पिंजरे में बन्द रहती थी, उस पक्षी को मार देने से वह मनुष्य भी मर जाता था। इसी प्रकार शुक्लजी के निबंधों में जीवन के प्रति कर्तव्यपूर्ण अनुराग निकाल दिया जाय तो उनमें कोई शक्ति नहीं रह जाती।

निजी विशेषताएँ

हमने शुक्लजी के निबंधों को मनोवैज्ञानिक कहा है किन्तु इनमें मनोविज्ञान का विधिवत् शास्त्रीय विवेचन नहीं है और न इनमें कोई विधान ही दृष्टिगोचर होता है। उसको हम शुक्लजी का दोष न कहेंगे क्योंकि उन्होंने मनोवैज्ञानिक निबंध लिखे हैं न कि मनोविज्ञान-शास्त्र। फिर भी उनमें भावों का सूक्ष्म

सूक्ष्म विश्लेषण

विश्लेषण मिलता है जिसका बड़ा मनोवैज्ञानिक महत्त्व है। इनमें से दो-एक बातें मौलिक भी हैं, जैसे मनोविकारों का उनके प्रेष्य या अप्रेष्य होने के आधार पर वर्गीकरण। जो मनोविकार या भाव दूसरे में समान भाव उत्पन्न करता है वह प्रेष्य वर्ग में आता है जैसे घृणा और क्रोध और जो समान भाव नहीं उत्पन्न करते हैं उनकी अप्रेष्य संज्ञा है। ऐसे भावों में करुणा, ईर्ष्या, श्रद्धा आयँगे। मनोविज्ञान के विद्यार्थी को शुक्लजी के विश्लेषण से बहुत कुछ लाभ हो सकता है।

३५

चिन्तामणि के निबन्ध

(विषय-प्रधान है कि व्यक्ति-प्रधान)

'गद्यं कवीनां निकर्षं वदन्ति' गद्य यदि कवियों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है। निबन्ध में गद्य माध्यम मात्र नहीं रहती है वरन् एक विशेष रचना-सौष्ठव लेकर आती है। उसमें गद्य का निजी और निखरा रूप मिलता है और शैली ही व्यक्ति है (Style is the Man) की उक्ति पूर्णतया सार्थक होती है। इसलिए निबन्ध की परिभाषा में थोड़ा-बहुत मतभेद होते हुए भी उसके उपकरणों में निम्नोल्लिखित बातें मुख्य मानी जाती हैं—

निबन्ध के उपकरण

(१) अपेक्षाकृत सीमित आकार की गद्य रचना। वैसे पद्य में भी निबन्ध हो सकते हैं जैसे Pope's essay on Man या त्रिवेदी जी का 'हे कविते' शीर्षक निबन्ध किन्तु अधिकांश में वह गद्य-रचना ही होती है।

(२) एक विशेष निजीपन और स्वच्छन्दता के साथ वर्णन या विषय-प्रतिपादन।

(३) शैली की विशेषता।

इस प्रकार निबन्ध में (विशेषकर विचारात्मक निबन्धों में) विषय का प्रतिपादन अवश्य रहता है किन्तु एक विशेषता के साथ। वे किसी पुस्तक के अध्याय नहीं होते हैं जिनमें पूर्वापर का सम्बन्ध हो अतः उनमें विषय का विषय के लिए प्रतिपादन होता है, उनमें लेखक का एक दृष्टिकोण भी रहता है। रचना में जितनी विषयगतता अधिक होगी और व्यक्तिगतता कम होगी उतनी ही वह निबन्ध से दूर होगी। इसीलिए आचार्य शुक्लजी

निबन्ध में विषयगतता

को अपनी भूमिका में यह लिखना पड़ा कि 'इस बात का निर्णय मैं विज्ञ पाठकों पर ही छोड़ता हूँ, ये निबन्ध विषय-प्रधान हैं या व्यक्ति-प्रधान।

दो प्रकार के निबन्ध

चिन्तामणि के निबन्ध दो प्रकार के हैं—कुछ मनोवैज्ञानिक जैसे—'उत्साह' 'श्रद्धा-भक्ति' 'लज्जा-ग्लानि' 'लोभ-प्रीति' 'ईर्ष्या' 'भय' आदि और कुछ साहित्यिक और आलोचनात्मक जैसे—'कविता क्या है', 'साधरणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद', 'रसात्मक बोध के विविध रूप'। इन दोनों ही प्रकार के निबन्धों में शुक्लजी का निजी दृष्टिकोण स्पष्ट और व्यक्त दिखाई पड़ता है। मनोवैज्ञानिक निबन्ध भी केवल मनोविज्ञान की दृष्टि से नहीं लिखे गए। उनमें एक सूक्ष्म विश्लेषण जिसकी संगति उनकी तुलसी, सूर और जायसी की आलोचनाओं से है और उनमें एक नैतिक पुट भी है। उनकी सारी आलोचनाओं में लोक-संग्रह को महत्त्व दिया गया है और इन निबन्धों में भी लोकहित की भावना को महत्त्व दिया गया है। क्रोध और भय को सामाजिक महत्त्व दिया गया है। उसी क्रोध की सराहना की गई है जो अत्याचारी के अत्याचार को दूर करने के लिए हो। श्रद्धा में श्रद्धास्पद के कार्यों को महत्ता दी गई है। प्रीति के प्रेम की एकनिष्टता और वैयक्तिकता पर बल दिया गया है। इस प्रकार 'कविता क्या है' में भी उनके वैयक्तिक दृष्टिकोण को प्रधानता मिली है। उसमें लोकसामान्य की भावभूमि, वैयक्तिकों के स्वार्थों का निषेध और मानव प्रकृति के मूल-रूपों पर, जो सभ्यता की पेचीदगियों के भीतर भी झलकते दिखाई देते हैं, बल दिया गया है। 'साधरणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद' में उन्होंने पश्चिम की अति वैयक्तिकता का घोर विरोध किया है। प्रत्येक निबन्ध में शुक्लजी की आत्मा बोलती हुई सुनाई पड़ती है और उनकी विषयगत प्रतिभा की झाँकी मिलती है। विचारों की कठोर संगति अपनी मान्यताओं की नवीनता, मौलिकता और दृढ़ता उनकी उन विशेषताओं में से है जो उन्हें साधारण कोटि के लेखकों से ऊँचा उठा देती है।

विषय की दृष्टि से तो शुक्लजी के निबन्धों में वैयक्तिकता है ही किन्तु शैली के दृष्टिकोण से यह वैयक्तिकता और भी निखार में आ गई है। उनकी शैली की विशेषताएँ इस प्रकार से हैं—

शैली की वैयक्तिकता

(क) समास-शैली, तथ्यकथन जो कभी-कभी सूक्ति का रूप धारण कर लेता है, जैसे 'दुख की श्रेणी में प्रवृत्ति के विचार से करुणा का उल्टा क्रोध है', 'यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण', 'श्रद्धालु महत्त्व को स्वीकार करता है पर भक्त महत्त्व की ओर अग्रसर होता है', 'वैर क्रोध का आचार या मुरब्बा है'।

(ख) उसकी उदाहरणों द्वारा व्याख्या और पुष्टि जो प्रायः समास-शैली में होती है।

(ग) शैली की साहित्यिकता और प्रवाहमयता। जहाँ हृदय के रमने की बात आई है वहाँ वह कवित्वपूर्ण हो गई है—प्राकृतिक सौन्दर्य के वर्णन में, सात्विकता और लोकरक्षा के भावों के सम्बन्ध में।

(घ) बौद्धिकता और भावुकता का अपूर्व सम्मिश्रण। उन्होंने स्वयं भी लिखा है—'अपना रास्ता निकालती हुई बुद्धि जहाँ मार्मिक या भावाकर्षक स्थलों पर पहुँचती है, वहाँ हृदय थोड़ा बहुत रमता और अपनी प्रवृत्ति के अनुकूल कहता गया है।'

(ङ) हास्य-व्यंग्य का पुट। इसके कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

'संगीत के दाँव-पेंच देखकर भी हठयोग याद आता है। जिस समय कोई कलावन्त पक्का गाना गाने के लिए आठ अंगुल मुँह फैलाता है और 'आ-आ' करके विकल होता है उस समय बड़े-बड़े धैर्यों का भी धैर्य छूट जाता है—दिन-दिन भर चुप-चाप बैठे रहने वाले बड़े-बड़े आलसियों का भी आसन डिग जाता है।' 'रसखान तो किसी को 'लकुटी अरु कामरिया' पर तीनों पुरों का राजसिंहासन तक त्यागने को तैयार थे पर देश-प्रेम की दुहाई देने वालों में से कितने अपने थके-माँदे भाई के फटे पुराने

उदाहरण

कपड़ों और धूल भरे पैरों पर रीझ कर या कम से कम न खीजकर, बिना मन मैला किए कमरे की फर्श भी मैली होने देंगे! मोटे आदमियों तुम जरा-सा दुबले हो जाते—अपने अँदेशे से ही सही—तो न जाने कितनी ठठरियों पर मांस चढ़ जाता।'

ऐसे ही हास्य-व्यंग्य के पुट शुक्लजी के निबन्धों को वैयक्तिकता प्रदान करते हैं और उनको बेकन के निबन्धों की भाँति लोहे के चने होने से बचाए रहते हैं।

शुक्लजी के निबन्धों में विषय का प्रतिपादन अवश्य है किन्तु उनमें उनके दृष्टिकोण की प्रधानता है। इसी के साथ उनकी साहित्यिक, प्रवाहमयी और हास्य-व्यंग्यपूर्ण शैली ने उनको एक विशेष निजीपन प्रदान कर दिया है जिसके कारण वे पूर्णतया निबन्ध कहे जाने के अधिकारी कहे जाते हैं।

३६

प्रसादजी का प्रकृति-चित्रण

"मानवी या प्राकृतिक सुषमा सभी।
दिव्य शिल्पी के कला-कौशल सभी॥"

कविता, संसार के प्रति हमारी भावमयी प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति है। उसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ हमारा रागात्मक सम्बन्ध, जिसमें आकर्षण और विकर्षण दोनों ही शामिल हैं, स्थापित होता है। कवि मानव तथा मानवेतर सृष्टि के जिसमें जल, थल, आकाश के सभी दृश्य तथा उनमें विचरने वाले जीव-जन्तु शामिल हैं, सम्पर्क में आता है और अपनी समवेदन-शीलता के अनुकूल उनको अपनी भावना का विषय बनाता है। वैज्ञानिक का भी सृष्टि के साथ सम्बन्ध रहता है किन्तु वह रागात्मक नहीं होता। उसके लिए सुन्दर-असुन्दर और प्रिय-अप्रिय कोई अर्थ नहीं रखते।

रागात्मक सम्बन्ध

साहित्य में दोनों प्रकार की सृष्टियों का वर्णन हुआ है किन्तु मानव-सृष्टि का अधिक। इसका कारण है रागात्मक सम्बन्ध के लिए प्रतिस्पन्दन आवश्यक तो नहीं है किन्तु उसके होने से सम्बन्ध में दृढ़ता आ जाती है। मानव-सृष्टि में भावों के प्रतिफलन की जितनी सम्भावना रहती है उतनी मानवेतर सृष्टि में नहीं, यद्यपि उसका क्षेत्र कहीं अधिक विस्तृत है। कवि स्वयं मनुष्य होने के नाते मानव-हृदय की सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाव-लहरियों का सुविधापूर्वक अनुमान कर सकता है। मनुष्य की मुखाकृति भाव-भंगियाँ और वे सब शारीरिक दशाएँ और चेष्टाएँ जो अनुभावों के अन्तर्गत मानी जाती हैं इस प्रकार के अनुमान की साधिका बनती हैं। इनके अतिरिक्त भाषा तो आन्तरिक भावों की अभिव्यक्ति की सहज माध्यम है ही।

मानव-सृष्टि

जानवरों में, कम से कम उनमें जो विकास-क्रम में ऊँचा स्थान पाते हैं, हमारी सी भाषा का अभाव होते हुए भी प्रायः हमारे से ही भावों के सूचक अनुभाव होते हैं। उनके द्वारा जानवरों के मनोगत भावों का कुछ अंदाज लग जाता है और किसी न किसी रूप में उनमें चेतना का भी अस्तित्व मिलता है। उनसे हमको अपने भावों के प्रतिस्पन्दन की आशा रहती है। वे रागात्मक सम्बन्ध की अधिक क्षमता रखते हैं किन्तु उनका साहित्य में अधिक लाभ नहीं उठाया गया है। वे अन्योक्तियों का विषय बनाये गये हैं और कहीं-कहीं उनके भावों का भी वर्णन हुआ है—जैसे सूर ने श्रीकृष्ण जी के गौओं का और तुलसी ने रामजी के घोड़ों का विरह-वर्णन किया है।

मानवेतर सृष्टि

मानव शरीर के उपमानों के रूप में जानवरों के सौन्दर्य का भी वर्णन हो गया है—जैसे मृगशावकाक्षी, गजगामिनी, कोकिलबयनी आदि। अब प्रश्न यह है कि जड़ प्रकृति के साथ हमारा किस अर्थ और किस अंश में रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो सकता है? प्रकृति के सौम्य और विकराल दोनों ही रूप देखने में आते हैं। वह हमको हँसती-रोती उद्वेलित और उल्लसित होती हुई प्रतीत होती हो किन्तु हम उतने निश्चय के साथ नहीं कह सकते हैं कि उसके हासोल्लास और गर्जन-तर्जन के पीछे कोई चैतन्य या भावमय आधार है या नहीं? जानवरों के सम्बन्ध में मानवी भावों का अनुमान ही किया जाता है किन्तु जड़-प्रकृति में उनका आरोप-सा करना पड़ता है। कभी-कभी यह आरोप इतना सच्चा और सजीव होता है कि भावुक हृदय का प्रकृति के साथ भावों का आदान-प्रदान होता-सा मालूम पड़ता है।

अनुमान आरोप

प्रकृति में भावमयी चेतना चाहे हो या न हो किन्तु उसमें हमारे भावों को जाग्रत और उद्दीप्त करने की शक्ति पर्याप्त मात्रा में है। रही प्रतिस्पन्दन की बात, वह तो कभी-कभी मानव-सृष्टि में भी नहीं होता दिखाई देता। बहुत से लोग अपने स्रष्टा की भाँति ही प्रतिस्पन्दन-शून्य होते हैं फिर बिचारी जड़-प्रकृति

प्रभावित करने की शक्ति

से क्या आशा की जा सकती है ? हमारे भावों का प्रकृति पर कोई असर पड़ता है या नहीं इस बात को सर जगदीशचंद्र वसु भी प्रमाणित नहीं कर सके, किन्तु हमारे मनोभावों के कारण प्राकृतिक दृश्यों के अनुभव में अवश्य अंतर पड़ जाता है और वे भी हमारे भावों की गति-विधि में थोड़ा अंतर डाल देते हैं। प्रकृति हमारी धातृ है। उसके जलवायु से हमारा शरीर पुष्ट हुआ है; उससे हम भाग नहीं सकते हैं। मौन रहते हुए भी वह हमको सहचार सुख देती है। हमारे सम्पर्क में आने से जड़ पदार्थ भी हमारे मोह और आसक्ति का विषय बन जाते हैं।

विश्वात्मा का आधार

जो लोग प्रकृति में विश्वात्मा की अभिव्यक्ति मानते हैं उनके लिए प्रकृति को चेतन मानने में कुछ कठिनाई नहीं होती किन्तु उसको व्यक्तित्व प्रदान कर उसके मानवीकरण में कल्पना को जाग्रत करना पड़ता है, शायद उतना ही जितना कि नाटकों में नट को दुष्यन्त मान लेने में। रूपकों में जितना आरोप द्वारा हमको आनन्द मिलता है उतना हमको प्रकृति के मानवीकरण से भी प्राप्त हो सकता है। वर्णन में सजीवता चाहिए और पाठक में ग्राहक हृदय। वस्तु में भावारोप के लिए जितनी क्षमता चाहिए उतनी प्रकृति में मिल जाती है। हम यदि सच्चे मानव हैं तो मानवता के विस्तार में हमको आनन्द ही मिलेगा। अपने गोत्र को बढ़ते हुए देखकर किसे आनन्द नहीं मिलता ?

कुछ अंग्रेजी आलोचकों ने प्रकृति को अपने साथ रुलाने-हँसाने को संवेदना का तर्काभास (Pathatic Fallacy) कह कर उसे वर्ज्य ठहराया है। कविकुल-गुरु कालिदास प्रकृति से मानवी कार्य लेने की अस्वाभाविकता की ओर अपने मेघदूत में पहले से ही संकेत कर दिया है— 'कामार्ताहिप्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु' (पूर्व मेघ ५) अर्थात् कामार्त लोग स्वभाव से चेतन और अचेतन का ध्यान नहीं रखते हैं। जायसी आदि ने प्रकृति की मानव के साथ सहानुभूति दिखाई है किन्तु जहाँ उत्प्रेक्षा लगाई जाती है वहाँ ऐसा वर्णन दूषित नहीं रहता।

प्रसादजी आस्तिक कवि थे। वे परमात्मा को प्रकृति में व्याप्त देखते थे। विश्वात्मा से अनुप्राणित होने के कारण प्रकृति उनके लिए विशेष अनुराग का विषय बन जाती है। आस्तिकता का आधार पाकर उनकी प्रकृति-सम्बन्धी सौन्दर्योपासना कुछ गहरी हो गई थी किन्तु हम यह नहीं कह सकते कि प्रसादजी का प्रकृति-प्रेम कहाँ तक स्वयं उसके लिए है। परमात्मा की चेतनता से व्याप्त होने के कारण जिस प्रकार मानव-प्रेम का महत्व नहीं घटता उसी प्रकार प्रकृति का भी नहीं।

सहृदयता की आवश्यकता

प्रकृति को आलम्बन रूप से देखने के लिए शान्त हृदय चाहिए। आजकल की सभ्यता में हम प्रतिद्वन्द्विता और रोटी के राग में इतने फँसे रहते हैं कि हमको प्रकृति-सौन्दर्य के निरीक्षण का अवकाश ही नहीं मिलता। सौन्दर्यानुभूति के लिए भावुक हृदय चाहिए, उसके बिना न मानव-सौन्दर्य है और न प्राकृतिक। वास्तव में प्रकृति और पुरुष दृश्य और द्रष्टा तथा सौन्दर्य और उसके अनुभवकर्ता में एक प्रकार का आदान-प्रदान रहता है। सुन्दर वस्तु में भी हृदय की जड़ता को दूर करने की शक्ति रहती है और जैसे-जैसे हृदय की जड़ता दूर होती जाती है वैसे ही सौन्दर्यानुभूति बढ़ती है। यह दोनों अन्योन्याश्रित हैं। प्रसादजी ने इस बात को पूर्ण रूपेण हृदयङ्गम किया है। प्रकृति के हृदय को विकसित करने की स्वाभाविक शक्ति के सम्बन्ध में वे कहते हैं।

"नील नीरद देखकर आकाश में।
क्यों खड़ा चातक रहा किस आश में ?
क्यों चकोरों को हुआ उल्लास है ?
क्या कलानिधि का अपूर्व विकास है ?

× × ×

देखते ही रूप मन प्रमुदित हुआ।
प्राण भी आमोद से प्रमुदित हुआ।

रस हुआ रसना में उसको बोलकर।
स्पर्श करता सुख हृदय को खोलकर।

जब चातक श्याम घन को देखकर तथा चकोर कलानिधि राकेश को देखकर उल्लसित हो उठता है तब मनुष्य ही सौन्दर्योपासना से क्यों वञ्चित रहे। प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन-मात्र ही रसना को रसमय बना देता है और हृदय को विकसित करता है।

यह प्रकृति की शक्ति है किन्तु उसके रस का पूरा आनन्द लेने के लिए हृदय में भावुकता चाहिए। जहाँ प्रकृति हृदय को उल्लसित कर सकती है वहाँ हृदय की ग्राहकता उसको अनुपम छटा प्रदान करती है।

ग्राहकता

"बना लो अपना हृदय प्रशान्त,
तनिक तब देखो वह सौन्दर्य।
चन्द्रिका सा उज्ज्वल आलोक,
मल्लिका सा मोहन मृदु हास।।"

वास्तव में जब तक अनुकूल ग्राहक पात्र न हो तब तक सौन्दर्य को स्थान कहाँ मिलेगा? यदि हृदय में स्वार्थ भरा है और उनके कारण वह संकुचित बन गया हो तो उसमें सौन्दर्यानुभूति नहीं हो सकती। प्रकृति में सौन्दर्य की कमी नहीं, कमी हमारी ग्राहकता की है।

"नील नभ में शोभित विस्तार।
प्रकृति है सुन्दर परम उदार।
नर हृदय परमित, पूरित स्वार्थ।
बात जंचती कुछ नहीं यथार्थ।"

दैवी सौन्दर्य की छाया

प्रसादजी सकल प्राकृतिक सौन्दर्य को परमात्मा के सौन्दय की ही झलक मानते हैं।

"लोग प्रिय-दर्शन बताते इन्दु को।
देखकर सौन्दर्य के एक बिन्दु को।

किन्तु प्रिय दर्शन स्वयं सौन्दर्य है।
सब जगह इसकी प्रभा ही वर्य है।"

और देखिए—

"तुम्हारा स्मित हो जिसे निरखना।
वो देख सकता है चन्द्रिका को।
तुम्हारे हँसने की धुनि में नदियाँ।
निनाद करती ही जा रही हैं॥"

उपनिषदों में कहा है कि उसके प्रकाशित होने पर सब प्रकाशित होते हैं, उसके ही प्रकाश से सब आलोकमय है। 'तमेवभान्तिमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'। प्रसादजी की प्राकृतिक सौन्दर्य की उपासना का भी यही आधार है। वे प्रकृति में परमात्मा के दर्शन करते हैं। कभी तो उसे वे लीलामय की क्रीड़ा के रूप में देखते हैं और कभी परमात्मा के रहस्य को दुर्भेद्य रखने के लिए अवगुण्ठन रूप मानते हैं।

"वृत्त आकृत कुंकुमारुण कंज-कानन मिश्र है।
पूर्व में प्रकटित हुआ यह चरित जिसका चित्र है॥
कल्पना कहती है, कन्दुक है महाशिशु खेल का।
जिसका है खिलवाड़ इस संसार में सब मेल का॥
× × ×
बनके दक्षिण-पौन तुम कलियों से भी हो खेलते।
अलि बने मकरन्द की मीठी झड़ी हो झेलते॥
× × ×
देके उषा-पट प्रकृति को ही बनाते सहचरी।
भाल के कुंकुम-अरुण की दे दिया बिन्दी खरी॥"

प्रकृति रमणी के अवगुण्ठन की भाँति अपने भीतर रहने वाले सौन्दर्य के प्रति कौतूहल और जिज्ञासा का भाव उत्पन्न कर देती है।

कौतूहल और जिज्ञासा — प्रकृति के प्रति यह जिज्ञासा भाव एक प्रकार रहस्य-भावना को जन्म देती है। कामायनी में इस प्रकार के और भी कई स्थल हैं।

"महानील इस परम व्योम में,
अन्तरिक्ष में ज्योतिर्मान,
ग्रह, नक्षत्र और विद्युत्कण
किसको करते से संधान !
× × ×
सिर नीचा कर किसकी सत्ता
सब करते स्वीकार यहाँ;
सदा मौन हो प्रवचन करते
जिसका, वह अस्तित्व कहाँ ?"

—पृष्ठ ३४

× × ×

"सौन्दर्यमयी चंचल कृतियाँ,
बनकर रहस्य हैं नाच रहीं।
मेरी आँखों को रोक वहीं,
आगे बढ़ने से जाँच रही।
मैं देख रहा हूँ जो कुछ भी,
वह क्या सब छाया उलझन है ?
सुन्दरता के इस परदे में,
क्या अन्य धरा कोई धन है ?"

—पृष्ठ ७४

प्रसादजी की दृष्टि में प्रकृति का महत्व केवल परमात्मा की संदेश-वाहिका होने मात्र का नहीं है। वह स्वतन्त्र रूप से भी उनके आकर्षण का विषय है। प्रकृति की भावना का विषय बनाने में

सौम्यरूप

प्रायः उनका मानवीकरण भी हो जाता है क्योंकि जहाँ चेष्टाओं का वर्णन होता है वहीं उसमें मानवी भावों का आरोप होने लगता है। प्रसादजी ने प्रकृति को सौम्यरूप में भी देखा है और उसके विकराल रूप में भी। प्रकृति के एक मनोहर रूप का वर्णन—

"रम्य-कानन की छटा तट पर अनोखी देखलो।
शान्त है, कुछ भय नहीं है, कुछ समय तक मत टलो॥
अन्धकार घना भरा है लता और निकुंज में।
चन्द्रिका उज्ज्वल बनाती है उन्हें सुख मुंज में॥

× × ×

पवन ताड़ित नीर के तरलित तरंगों में हिले।
पंज, सौरभ-मंजु युत ये कंज कैसे हैं खिले॥
या प्रशान्त विहायसी में शोभते हैं प्रात के।
तारका-युग शुभ्र है आलोक पूरण गात के॥
नीले नीरज इन्दु के आलोक में भी खिल रहे।
बिना स्वाति-बिन्दु विद्रुम सीप में मोती रहे॥"

विशाल रूप प्रकृति के विशालतम सौन्दर्य का यदि वर्णन देखना हो तो कामायनी के रहस्य सर्ग में हिमालय का वर्णन देखिए—

"नीचे जलधर दौड़ रहे थे
सुन्दर सुर-धनु माला पहने;
कुंजर-कलभ सदृश इठलाते
चमकाते चपला के गहने।
प्रवहमान थे निम्न देश में
शीतल शत शत निर्झर ऐसे
महा श्वेत गजराज गण्ड से
बिखरीं मधुधारायें जैसे।"

—पृष्ठ २६६

विकराल रूप एक विकराल रूप का चित्रण देखिए—

"पंचभूत का भैरव मिश्रण
शंपाओं के शकल-निपात,
उल्का लेकर अमर शक्तियाँ
खोज रहीं ज्यों खोया प्रात।

उधर गरजतीं सिंधु लहरियाँ
कुटिल काल के जालों सी,
चली आरही फेन उगलतीं
फन फैलाये व्यालों सी
धँसती धरा, धधकती ज्वाला,
ज्वाला-मुखियों के निश्वास;
और संकुचित क्रमशः उसके
अवयव का होता था ह्रास।"

—पृष्ठ २२

ऐसे वर्णनों में प्रकृति की मुख्यता रहती है। उसके सामने मानव भयाकुल तुच्छ जीव-सा रहता है किन्तु जहाँ प्रकृति का मानव के सम्बन्ध में वर्णन होता है वहाँ वह गौण हो जाती है। मानव सम्बन्ध में प्रकृति का तीन प्रकार से वर्णन हो सकता है (१) केवल उद्दीपन रूप से (२) मानव सुख-दुःख में संवेदना प्रकट करने वाली सहचरी के रूप में (३) मानव क्रिया-कलाप के अनुकूल पृष्ठ-भूमि के रूप में।

अन्य रूप

प्रकृति के उद्दीपन रूप के वर्णनों की हिन्दी-साहित्य में कमी नहीं है। यहाँ पर कामायनी के वासना से एक उद्धरण दिया जाता है। देखिए—

उद्दीपन रूप

"सृष्टि हँसने लगी, आँखों में खिला अनुराग;
राग रंजित चन्द्रिका थी, उड़ा सुमन पराग।
और हँसता था अतिथि मनु का पकड़ कर हाथ;
चले दोनों, स्वप्न पथ में स्नेह संबल साथ।
देवदारु निकुंज गह्वर सब सुधा में स्नात;
सब मनाते एक उत्सव जागरण की रात।
आ रही थी मदिर भीनी माधवी की गंध,
पवन के घन गिरे पड़ते थे बने मधु अंध।

शिथिल अलसाई पड़ी छाया निशा की कांत,
सो रही थी शिशिर कण की सेज पर विश्रांत।
उसी झुरमुट में हृदय की भावना थी भ्रांत।
जहाँ छाया सृजन करती थी कुतूहल कांत।"

—पृष्ठ ९६

इसमें उद्दीपन भाव तो है ही उसी के साथ मनु और श्रद्धा की मानसिक दशा की सानुकूलता भी है। 'शिथिल अलसाई पड़ी छाया-निशा' में प्रकृति का मानवीकरण भी है। ऐसे वर्णनों में प्रकृति की सहानुभूति व्यञ्जित अवश्य रहती है। प्रसादजी स्थान-स्थान पर प्रकृति को मनुष्य के साथ-साथ रोती और हँसती भी दिखाया है। किन्तु जायसी की भाँति नहीं। जायसी ने प्रकृति की सहानुभूति को पराकाष्ठा तक पहुँचा कर कुछ अस्वाभाविकता उत्पन्न कर दी है।

प्रकृति की सहानुभूति

प्रसादजी ने प्राकृतिक वातावरण को मनुष्य के भावानुकूल किया है। ऐसी भावानुकूल पृष्ठ-भूमि चित्र को अधिक सुन्दरता प्रदान करती है। आदि सर्ग के प्रारम्भिक पृष्ठों में ही देखिए—

पृष्ठ-भूमि

"दूर-दूर तक विस्तृत था हिम,
स्तब्ध उसी के हृदय समान।
नीरवता सी शिला चरण से,
टकराता फिरता पवमान।
तरुण तपस्वी-सा वह बैठा,
साधन करता सुर-श्मशान;
नीचे प्रलय सिंधु लहरों का,
होता था सकरुण अवसान।
उसी तपस्वी से लंबे, थे,
देवदारु दो चार खड़े;
हुए हिम-धवल, जैसे पत्थर,
बन कर ठिठुरे रहे अड़े।"

आशा सर्ग आरम्भ में ही प्रकृति आशामय रूप धारण कर लेती है और भावी घटना की सूचना-सी देने लगती है। श्रद्धा के मिलने के लिए मङ्गलमय रूप मन को विकास देने वाला वातावरण तैयार हो जाता है।

कामायनी के आशा सर्ग में प्रकृति का मङ्गलमय रूप देखिए—

"उषा सुनहले तीर बरसती
जय-लक्ष्मी सी उदित हुई;
उधर पराजित काल रात्रि सी
जल में अन्तर्निहित हुई।

× × ×

नव कोमल आलोक बिखरता,
हिम-संसृति पर भर अनुराग;
सित सरोज पर क्रीड़ा करता,
जैसे मधुमय पिंग पराग।"

—पृष्ठ ३१

"धीरे-धीरे हिम-आच्छादित,
हटने लगा धरातल से;
जगीं वनस्पतियाँ अलसाईं,
मुख धोती शीतल जल से।

—पृष्ठ ३१

'सिंधु सेज पर धरा वधू अब
तनिक संकुचित बैठी सी;
प्रलय-निशा की हलचल स्मृति में
मान किये सी ऐंठी सी।"

—पृष्ठ ३२

इस वर्णन की शब्दावली में मंगलमय प्रेम और शृङ्गार के भाव मकरन्द की भाँति झरते दिखाई पड़ते हैं। उषा की सुनहली किरणें समृद्धि को वर्षा सी करती हैं। जय-लक्ष्मी शब्द में विजयोल्लास ही नहीं वरन् उसके साथ आने वाली सुख-सम्पत्ति की भी सूचना है। आलोक भी भ्रम प्रकट करता हुआ हिम को हेम बना देता है और श्वेत सरोजों में मधुमय पीला पराग भर देता है। वनस्पतियों का जगना बड़ा सुन्दर लाक्षणिक प्रयोग है। इसमें भाग्य के जागरण की व्यंजना है। इसी के साथ वर्षा के पश्चात् पानी के कुछ कम होने पर पानी पर झुकती हुई वनस्पतियों की मुँह धोने की प्रातः क्रिया का बड़ा ही सुन्दर चित्र उपस्थित होता है। इसमें थोड़ा मानवीकरण भी है।

शुभ सूचना

'सिंधु सेज पर धरा वधू' को सुलाकर विशालता में सौन्दर्य भावना उत्पन्न की गई है। वधू शब्द में भी एक भावी वधू के आने की और पीछे से उसके मान की सूचना मिल जाती है। इसी के साथ मानवती बनाकर उसकी शोभा को भी बढ़ा दिया है। संकुचित और ऐंठी में अभिधा और लक्षणा का बड़ा सुन्दर सहयोग है। जल से डूबी हुई जो वस्तुएँ निकलती हैं वे कुछ दबी सी और ऐंठी होती हैं। पृथ्वी के पक्ष में अभिधार्थ है और वधू के पक्ष में लाक्षणिक अर्थ है। इसमें 'सी' उपमा वाचक लग जाने से मानवीकरण होते-होते बच गया है।

मानवीकरण

प्रसादजी में प्रकृति के शुद्ध मानवीकरण की कमी नहीं है। हमको उनके प्राकृतिक चित्रों में मानवी कार्यों का आरोप स्थान-स्थान पर मिलता है। देखिए—

"अम्बर पनघट में डुबो रही—
तारा-घट ऊषा नागरी
× × ×
लो यह कलिका भी भर लाई—
मधु मुकुल नवल रस गागरी।"

प्रसादजी की छायावादी प्रवृत्तियाँ उनकी किरण शीर्षक कविता में बड़ी स्पष्ट रूपरेखा में दिखाई पड़ती हैं। इससे प्रकृति मानवीकरण के साथ छायावादी शैली छायावादी शैली का भी नमूना मिलता है। देखिए—

"धरा पर झुकी प्रार्थना सदृश,
मधुर मुरली सी फिर भी मौन।
किसी अज्ञात विश्व की विकल—
वेदना दूती सी तुम कौन?"

इसकी पहली पंक्ति में किरण की अमूर्त प्रार्थना से तुलना की गई है। प्रार्थना के द्वारा प्रार्थना करने वाली की व्यञ्जना की गई है।

प्रसादजी ने रूपकों में भी सुन्दर प्राकृतिक दृश्यों का उपयोग किया है। अपने जीवन में मधुऋतु की सृष्टि करते हुए प्रसादजी ऋतुराज रूपक के रूप में का पूरा दृश्य उपस्थित कर देते हैं।

"चुम्बन लेकर और जगाकर,
मानस नयन नलिन को।
जपाकुसुम सी उषा खिलेगी,
मेरी लघु प्राची में।
हँसी भरी उस अरुण अधर का,
राग रँगेगा दिन को।
अन्धकार का जलधि लाँघकर,
आवेंगी शिशु किरनें।
अन्तरिक्ष छिड़केगा कन-कन,
निशि में मधुर तुहिन को।"

प्रकृति के लिए और भी बहुत से सुन्दर रूपक और उपमाएँ मिलती हैं। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि प्रसादजी ने प्रकृति का आध्यात्मिक आधार मानते हुए उसके द्वारा अपने प्रियतम परमात्मा की सी क्रीड़ा की अभिव्यक्ति कराई है, उसी के साथ-साथ उसका आलम्बन, उद्दीपन और अलङ्कार विधान में अप्रस्तुत रूप से भी वर्णन किया है।

३७

प्रसादजी के काव्य-सम्बन्धी विचार

स्वर्गीय जयशंकर प्रसादजी कवि तो थे ही किन्तु वे गम्भीर विचारक भी थे। उनके कवि-रूप से बहुत से लोग परिचित हैं, उनके आचार्यत्व का लोगों को विश्वास मात्र है लेकिन वह यह नहीं जानते कि उनके विचार क्या थे। काव्य, कला और नाटक के सम्बन्ध में प्रसादजी के कुछ मौलिक विचार थे, जिनका कि विकास भारतीय परम्परा के अनुकूल हुआ था। ये विचार काव्य और कला तथा अन्य निबंध नाम की पुस्तक में संग्रहीत हैं। पुस्तक के प्रारम्भ में श्री नन्ददुलारे वाजपेयी जी की भूमिका है। इसमें ग्रन्थ का सार आ गया है।

काव्य की परिभाषा बहुत प्राचीन काल से समीक्षकों और आचार्यों के लिए विवाद का अखाड़ा बना रहा है, इसी परिभाषा के आधार पर

बहुत से सम्प्रदायों का जन्म हुआ है। प्रसादजी की

काव्य की परिभाषा व्याख्या यद्यपि रस सम्प्रदाय के अन्तर्गत मानी

जाएगी तथापि वह मामूली व्याख्या से बहुत भिन्न

और विलक्षण है। देखिए—

"काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञान धारा है (पृष्ठ ३८)। अब सब संकल्पात्मक अनुभूति को जरा समझ लेना चाहिए। प्रसादजी इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं—"आत्मा की मनन शक्ति की वह असाधारण अवस्था जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व रूप से सहसा ग्रहण कर लेती है, काव्य में संकल्पात्मक मूल अनुभूति कही जा सकती है।" (पृष्ठ ३८)

उपर्युक्त परिभाषा, काव्य और शास्त्र सम्बन्धी विद्या के दो विभागों पर अवलम्बित है। 'काव्यशास्त्र विनोदेन कालो गच्छति धीमताम्'

काव्य और शास्त्र दो पृथक चीजें हैं। शास्त्र से मतलब

काव्य और शास्त्र है विज्ञान का। यह विभाग भी मन की संकल्प और

विकल्प नाम की दो वृत्तियों पर आश्रित है। संकल्प में संश्लेषण (Synthesis) रहता है और विकल्प में विश्लेषण (Analysis) संकल्प का सम्बन्ध काव्य से है और विकल्प का सम्बन्ध विज्ञान या शास्त्र से है। संकल्प एकता और आनन्द का उपासक है, विकल्प नानात्व और दुःख का भेद में अभेद देखने वाले संकल्पात्मक ज्ञान को ही श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में सात्विक ज्ञान कहा है 'अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्विकम्'। विज्ञान में संकल्पात्मकता है अवश्य, किन्तु उसमें विश्लेषण का प्राधान्य है। विज्ञान के विश्लेषण द्वारा उसमें चारुत्व की कमी हो जाती है। इस सम्बन्ध में प्रसादजी कहते हैं—'विकल्प विचार की परीक्षा करता है। तर्क-वितर्क कर लेने पर भी किसी संकल्पात्मक प्रेरणा के ही द्वारा जो सिद्धान्त बनता है, वही शास्त्रीय व्यापार है। अनुभूतियों की परीक्षा करने के कारण और उसके द्वारा विश्लेषणात्मक होते-होते उसमें चारुत्व की, प्रेय की कमी हो जाती है (पृष्ठ ३८)।' कवि कल्पना मण्डित सुहाग भरी जुही की कली विश्लेषण करने पर कार्बन और हाईड्रोजन का मिश्रण रह जाती है, अथवा पुष्पों के वर्गीकरण में उसको एक बारह-चौदह अक्षरों वाला लम्बा नाम मिल जाता है। उस विश्लेषणात्मक ज्ञान में सौन्दर्य उसकी समग्रता और पूर्णता में है 'भूमा वै सुखम्' साहित्य उसी पूर्णता की ओर ले जाता है।

काव्य में श्रेय और प्रेय का मेल हो जाता है। श्रेय सत्याश्रित है। इस तरह सत्यं श्रेयस (शिवम्) और प्रेयस (सुन्दरम्) का समन्वय हो जाता है। शिवम् और सुन्दरम् के लिए भारतीय परिभाषा में श्रेयस और प्रेयस ठीक बैठते हैं। इस परिभाषा में अनुभूति पर ज्यादा जोर दिया जाता है, अभिव्यञ्जना पर कम। वास्तव में जहाँ अनुभूति ठीक और निश्चित

होती है वहाँ अभिव्यञ्जना भी ठीक उतरती है। सूर और तुलसी की वात्सल्य भावना सम्बन्धी अभिव्ञ्जना में अन्तर है। इसका कारण अनुभूति भेद ही है। सूर बालकृष्ण के उपासक थे और तुलसी धनुर्धारी किशोर राम के।

प्रसादजी काव्य को कला नहीं मानते हैं। भारतीय दृष्टिकोण से काव्य विद्या और कला उपविद्या है। समस्यापूर्ति कला है क्योंकि उसका शब्दशास्त्र से सम्बन्ध है, काव्य कला नहीं है। कला का जो विभाजन मूर्त अमूर्त के आधार पर किया जाता है उससे प्रसादजी सहमत नहीं हैं। भारतीय विचारधारा में मूर्त-अमूर्त का भेद नहीं है। यह भेद ईसाई संस्कृति से सम्बन्ध रखता है। हमारे यहाँ मूर्त-अमूर्त दोनों ही ब्रह्म के रूप हैं। वैसे भी संगीत को अमूर्त कहना ठीक नहीं क्योंकि उसका यदि चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता तो श्रवणेन्द्रिय सम्बन्धी प्रत्यक्ष होता है। काव्य में भी शब्दों की मूर्तता आ जाती है। बाबू श्यामसुन्दरदास जी के साहित्यालोचन में जो कलाओं की श्रेणी बाँधी गई है वह हेगिल की विचारधारा के अनुकूल है। भारतीय पद्धति में हेगिल की मूर्त आधार वाली कलाओं को शिल्प कहा है, वे तीन हैं—स्थापत्य (Architecture) मूर्ति-कला और चित्र-कला। यह दृष्टिकोण और परिभाषा का भेद है। भारतवर्ष में कलाओं को काम और अर्थ आश्रित माना है। 'नृत्य-गीतप्रभृतयः कला कामार्थसंश्रयाः।' (पृष्ठ ३६) यहाँ काम का व्यापक अर्थ इच्छा, जिसका सम्बन्ध भावात्मक जगत से है, लेना चाहिए। वे कलाएँ ६४ हैं। इनमें नृत्य-गीत, वाद्य, तैरना, फूलमाला बनाना इत्यादि बातें आती हैं, जिनके कारण पुरुष विदग्ध (Cultured) कहा जा सकता है। मेरी समझ में भारतवर्ष में जो कलाएँ मानी गई हैं उनके लिए अंग्रेजी शब्द (Accomplishment) अधिक उपयुक्त है। प्रसादजी ने शिवसूत्र विमर्शिनी से जो कला की परिभाषा दी है वह हेगिल के विचारों से कुछ मिलती-जुलती है 'कलयति स्वरूपावेशेन तत्तद्वस्तुनि परिच्छिनत्ति इति कला कामारः' इस पर एक टिप्पणी उद्धृत की गई है, वह इस प्रकार है—'कलयति स्वरूपं आवेशय, वस्तुनि वा तत्र-तत्र

प्रमातरि कलनमेव कला' अर्थात् नव-नव स्वरूप-प्रथोल्लेख-शालिनी संवित् वस्तुओं में या प्रमाता में स्व को, आत्मा को परिमित रूप में प्रकट करती है इसी क्रम का नाम कला है' (पृष्ठ ४३) संक्षेप में सीमित और शान्त वस्तुओं में अनन्त आत्मा के प्रकटीकरण को आत्मा कहते हैं।

रहस्यवाद के सम्बन्ध में प्रसादजी यह नहीं मानते कि इसकी उत्पत्ति सेमेटिक अर्थात् मुसलमानी यहूदी प्रभाव से हुई। इस सम्बन्ध में उनका शुक्लजी से स्पष्ट मतभेद है। प्रसादजी कहते हैं कि यहूदियों ने प्रभु ईसामसीह को इसीलिए सूली पर चढ़ाया था कि वे अपने को और अपने पिता को एक मानते थे 'I and my Father are one'। अनलहक कहने वाले मंसूर भी उसी पथ के गामी हुए। 'सेमेटिक धर्म भावना के विरुद्ध चलने वाले ईसा, मंसूर, सरमद आर्य अद्वैत धर्म भावना से अधिक परिचित थे' (पृष्ठ ४६)। स्वयं सूफी सम्प्रदाय हिन्दुस्तान से प्रभावित है। प्रसादजी कहते हैं—'सूफी सम्प्रदाय मुसलमानी धर्म के भीतर वह विचारधारा है जो अरब और सिन्ध का परस्पर सम्बन्ध होने के बाद से उत्पन्न हुई थी' (पृष्ठ ४६)। यह इतिहास का विषय है। इस सम्बन्ध में मैं अधिक नहीं जानता। मुसलमान लोग इसकी उत्पत्ति अरब से ही मानते हैं। किन्तु यह बात तो मानी हुई है कि मुसलमान लोग भारतवर्ष में आठवीं शताब्दी में ही आने जाने लगे थे। यह एक दूर की सम्भावना हो सकती है कि कबीर आदि सन्तों ने भारतीय एकात्मवाद को उसी तरह अपनाया हो जिस तरह आजकल शोपनहावर या इमर्सन को पढ़कर लोग वेदान्त को अपनाते हैं। इस तरह से कबीर के रहस्य को मुसलमानी प्रभाव से उत्पन्न कह लें किन्तु एकात्मवाद की भावना मूल में भारतीय है।

रहस्यवाद

प्रसादजी ने यह भी बतलाया है कि शैव आगमों से अद्वैत रहस्य को द्वैत अभिभूत हो जाने की शंका दिखलाई गई है। इसमें रहस्य सम्प्रदाय की प्राचीनता झलकती है। जो लोग रहस्यवाद को नवीन शब्द मानते हैं उनके लिए यह विचारोत्तेजक

शैव आगम

सिद्ध होगा । 'द्वैतदर्शनाधिवासितप्राये जीवलोके रहस्यसम्प्रदायो मा विच्छेदि ।' (पृष्ठ ५६) प्रसादजी इस सम्बन्ध में यह भी बतलाते हैं कि प्रेम की उपासना न सूफी सम्प्रदाय से हमको मिलती है और न ईसाई धर्म से । वैदिक काल से प्रेम का प्राचीन रूप है । 'कामस्तदग्रे समवर्तताधिमनसोरेतः प्रथमं यदासीत्' (पृष्ठ ४७) । काम प्रेम से अधिक व्यापक है । प्रसादजी का कथन है कि 'जब से हमने प्रेम को (Love) या इश्क का पर्याय मान लिया है, तभी से काम शब्द की महत्ता कम हो गई है ।' (पृष्ठ ४७)

प्रसादजी रहस्यवाद की भारतीयता प्रमाणित करते हुए आनन्द और अद्वयता को उसकी मूल प्रवृत्ति मानते हैं । अद्वैतवाद का सम्बन्ध बुद्धिवाद से है ।

मूल तत्त्व

वर्तमान रहस्यवाद को भारतीय परम्परा का उत्तराधिकारी बतलाते हुए प्रसादजी कहते हैं कि 'इसमें अपरोक्ष अनुभूति, सरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा अहं या इदम् से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न है । हाँ, विरह भी युग की वेदना के अनुकूल मिलन का साधन बनकर इसमें सम्मिलित है ।' प्रसादजी आनन्दवादी होने के कारण मिलन को अधिक महत्त्व देते हैं । विरह को बुद्धिवाद का प्रभाव बतलाते हैं । गोपियों के विरह में आनन्दवाद और बुद्धिवाद का सामञ्जस्य है । प्रसादजी के आनन्द, समरसता, अहं का इदम् से [illegible] सौन्दर्यास्वादन का आधार है रहस्यवाद के [illegible] हैं ।

प्रसादजी रहस्यवाद को काव्य की मुख्य धारा मानते हैं । 'काव्य में आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति की मुख्य धारा रहस्यवाद है ।' (पृष्ठ ४६)

पुस्तक में रस, नाटकों में रस का प्रयोग, नाटकों का आरम्भ, रङ्गमञ्च, प्रारम्भिक पाठ्य (श्रव्य) काव्य, यथार्थवाद और छायावाद शीर्षक और भी कई पाण्डित्यपूर्ण लेख हैं । हम उन लेखों में आए हुए सिद्धान्तों का क्रमबद्ध विवेचन न करके स्फुट रूप से उनकी बातों का उल्लेख कर रहे हैं—

रस सिद्धान्त

१. प्रसादजी ने रस सम्प्रदाय को ही सङ्कल्पात्मक अनुभूति के अन्तर्गत रक्खा है। रीति अलङ्कारवादियों विकल्प और बुद्धिवाद के सम्बन्धित किया है। प्रसादजी ने नाटकों में ही रस का परिपाक अधिक माना है। महाकाव्यों में दुखवाद और बुद्धिवाद† का अधिक प्रभाव है (रामायण और महाभारत दोनों में दुखवाद है।) किन्तु रामायण को उन्होंने आदर्शवादी कहा है और महाभारत को यथार्थवादी क्योंकि उसमें व्यक्ति-वैचित्र्य के लिए अधिक स्थान दिखाई देता है।

नाटकों की उत्पत्ति

२. नाटकों की उत्पत्ति प्रसादजी ने वेदों से ही मानी है। सोम विक्रय आदि के अभिनय पहले होते थे, उनमें आनन्दवादी माहेश्वरों के प्रभाव से नृत्त और नृत्य का समावेश हो गया। यूरोप के कुछ विद्वान सूत्रधार शब्द के आधार पर नाटकों की उत्पत्ति पुतलियों के नाच से मानते हैं। प्रसादजी के मत से यह ठीक नहीं है। सूत्रधार का अर्थ लाक्षणिक लेना चाहिए और यदि अभिधार्थ भी लेना है तो भी कठपुतलियों के सूत्र की कल्पना करना अनावश्यक है। सम्भव है सूत्रधार के हाथ में पट जवनिका आदि के सूत्र रहते हों।

जवनिका (यवनिका) के आधार पर कुछ योरोपीय विद्वान भारतीय नाटकों की उत्पत्ति यूनान से मानते हैं। प्रसादजी की राय में यह ठीक नहीं है। उन्होंने अमरकोष[1] और हलायुध[2] से उद्धरण देकर बतलाया है कि

---

† प्रसादजी ने आर्यों के विचार की दो धाराएँ मानी हैं। एक आनन्दवाद की और दूसरी तर्कवाद की, जो दुःखवाद की ओर ले जाती है। पिछली शाखा के मानने वाले जैन और बौद्ध थे।

१. प्रतिसीरा जवनिका स्यात् तिरस्करिणी च सा—अमरकोष।

२. अपटी कांडपटः स्यात् प्रतिसीरा जवनिका तिरस्करणी—
—हलायुध से (पृष्ठ ६८)।

जवनिका का शुद्ध रूप में 'ज' लिखा जाता है। यही उसका शुद्ध रूप था। 'य' का 'ज' नहीं हुआ। जव का अर्थ वेग या तुरा से है। जवनिका का अर्थ हो जाता है जो जल्दी से उठाई या हटाई जा सके। (पृष्ठ ९८)

३. प्रसादजी नाटकों की भाषा को पात्रों के अनुकूल उर्दूमय या गँवारू नाटकों की भाषा बनाने के पक्ष में नहीं हैं। उन्होंने अपने नाटकों में ऐसा किया भी नहीं है।

४ हिन्दी रङ्गमञ्च के सम्बन्ध में प्रसादजी का कथन है कि उपयुक्त स्त्री अभिनेत्रियों का न मिलना इसके विकास में बाधक रहा, फिर सिनेमा ने आघात पहुँचाया है। वे रङ्गमञ्च के सुधार के पक्ष में हैं। रङ्गमञ्च के सुधार में वे पदस्खलित होने वाली जल्दी नहीं चाहते। 'प्रगतिशील विश्व है' किन्तु अधिक उछलने में पदस्खलन का भी भय है।

रङ्ग मञ्च

५. प्रसादजी वर्तमान युग की प्रवृत्तियों में यथार्थवाद और छायावाद की मुख्यता बतलाते हैं। यथार्थवाद के सम्बन्ध में वे कहते हैं 'यथार्थवाद की विशेषताओं में प्रधान है लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात।' (पृष्ठ १२०) उससे स्वभावतः दुःख की प्रधानता और अनुभूति आवश्यक है। आदर्शवाद साहित्यिक न्याय (Poetic Justice) पर अवलम्बित है। उसमें भले को भला परिणाम और बुरे को बुरा दिखाया जाता है। यथार्थवाद हमको इतिहास की ओर ले जाता है और आदर्शवाद धर्म की ओर। 'साहित्य इन दोनों की कमी को पूरा करने का काम करता है। साहित्य समाज की वास्तविक स्थिति क्या है इसको दिखाते हुए भी उसमें आदर्शवाद का सामञ्जस्य स्थिर करता है। दुःखदग्ध जगत् और आनन्दपूर्ण स्वर्ग का एकीकरण साहित्य है।' (पृष्ठ १२३)

यथार्थ और आदर्श

६. छायावाद के सम्बन्ध में प्रसादजी लिखते हैं—'कविता के क्षेत्र में पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेश की सुन्दरी के बाह्य वर्णन से भिन्न जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी तब हिन्दी में उसे छायावाद के नाम

छायावाद

से अभिहित किया गया'''सूक्ष्म आभ्यन्तर भावों के व्यवहार में प्रचलित पद-योजना असफल रही। उनके लिए नवीन शैली, नया वाक्य-विन्यास आवश्यक था। हिन्दी में नवीन शब्दों की भंगिमा स्पृहणीय आभ्यन्तर वर्णन के लिए प्रयुक्त होने लगी।' (पृष्ठ १२३) वक्रोक्तिवाद भी शब्द और अर्थ की स्वाभाविक वक्रता द्वारा शोभा की सृष्टि मानता है। छायावाद में भी वाग्वैचित्र्य की विदग्धता रहती है। प्रसादजी के मत में छायावाद के लिए प्राकृतिक वर्णन आवश्यक नहीं। छायावाद की इस व्याख्या से यह स्पष्ट है कि प्रसादजी ने छायावाद में शैली को अधिक महत्त्व दिया है। छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय, प्रतीक विधान तथा उपचार वक्रता, स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषताएँ हैं। 'शब्द विन्यास में ऐसा पानी चढ़ा कि उसमें एक तथ्य उत्पन्न करके सूक्ष्म अभिव्यक्ति का प्रयास किया गया।' (पृष्ठ १२३) इस प्रकार छायावाद में आन्तरिक के अनुकूल व्यंजनापूर्ण भाषा लाने का प्रयत्न हुआ। प्रसादजी ने बतलाया है कि प्राचीन ग्रन्थों में छाया शब्द जैसी मोती की छाया, सौन्दर्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस सम्बन्ध में वे निम्नोल्लिखित श्लोक उद्धृत करते हैं—

"मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्वमिवान्तरा
प्रतिभाति यदंगेषु तल्लावण्यमिहोच्यते।"

मोती के भीतर छाया की जैसी तरलता होती है, वैसी ही कान्ति की तरलता अंग में लावण्य कही जाती है। इस लावण्य को संस्कृत-साहित्य में छाया और विच्छित्ति के द्वारा कुछ लोगों ने विकसित किया था।

छायावाद की कविता में भी एक विशेष चमक रहती है जो केवल आकार से ऊँची और सूक्ष्म होती है। वह स्थूल यथार्थ से ऊपर की चीज है जो प्रतीयमान अर्थ के निकट आती है। उसी अङ्गसौष्ठव से लावण्य की सृष्टि छायावाद का कार्य है।

यह विलक्षण संयोग है कि जो नाम मजाक उड़ाने के लिए दिया गया था, उसकी साहित्य में सार्थकता निकल आयी। यही पण्डितों का पाण्डित्य है

३८

अनुसंधान का स्वरूप और उसके विविध क्षेत्र

अनुसंधान एक व्यापक शब्द है। अनुसंधान वैज्ञानिक विषयों का भी होता है और साहित्यिक विषयों का भी। किन्तु दोनों की पद्धति और उनके स्वरूप में विशेष अन्तर नहीं है। अन्तर यदि है तो विषय की आवश्यकताओं और प्रयोग-पद्धतियों का। दोनों में ही सूक्ष्म और सोद्देश्य निरीक्षण के साथ परीक्षण और प्रयोग के पश्चात् गम्भीर विवेचन रहता है जिसमें विपक्षीय घटनाओं, उदाहरणों और विचार-बिन्दुओं का उतना ही स्वागतपूर्ण विवेचन होता है जितना कि सपक्षीय घटनाओं, उदाहरणों और विचार-बिन्दुओं का। इसके अतिरिक्त वैज्ञानिक अनुसंधान की भाँति ही साहित्यिक अनुसंधान में नवार्जित ज्ञान की पूर्वार्जित ज्ञान के आलोक में व्याख्या करके संगति बैठाई जाती है। विषय चाहे जो कुछ हो उसके विवेचन में निष्पक्ष वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग उसको स्वरूपता प्रदान कर उसके नाम को सार्थक करता है। जिस प्रकार मनुष्य का क्रिया कलाप और चरित्र उसके स्वभाव और स्वरूप का परिचायक होता है उसी प्रकार अनुसंधान की पद्धति ही उसके स्वरूप और क्षेत्र के निर्णय में सहायक हो सकती है। इसी दृष्टि से हम अनुसंधान की पद्धति पर विचार करेंगे।

वैज्ञानिक और साहित्यिक अनुसंधान

अनुसंधान चाहे जिस प्रकार हो हमारे ज्ञान में वृद्धि करता है। यह ज्ञान सुसम्बद्ध और हमारे पूर्वार्जित ज्ञान पर आधारित होता है। जहाँ आधारित नहीं होता है वह पूर्वार्जित ज्ञान को भी संशोधनीय और परिमार्जनीय प्रमाणित कर देता है। इसलिए प्रत्येक अनुसंधानकर्ता को अपने अनुसंधान-कार्य की सार्थकता बतलाने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि उनके अनुसंधान

ज्ञात से अज्ञात

से ज्ञान-क्षेत्र कहाँ तक विस्तृत हुआ या उस पर क्या नया प्रकाश पड़ा ?

अनुसंधान केवल कल्पना प्रसूत बहुत कम होता है यद्यपि उसमें चाहे वह वैज्ञानिक हो और चाहे साहित्यिक, कल्पना के बिना काम नहीं चलता। यह कल्पना निराधार नहीं होती बल्कि सूक्ष्म वैज्ञानिक निरीक्षण पर अवलम्बित होती है। आकस्मिक निरीक्षण से सुझाव अवश्य मिल जाते हैं किन्तु वे निरीक्षण और परीक्षण की आँच में तपाये बिना कोई मूल्य नहीं रखते। न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण वाले नियम का श्रीगणेश चाहे फल के पतन से हुआ था किन्तु उसकी इतिश्री सहज में नहीं हुई थी। मैं तो कहूँगा कि गुरुत्वाकर्षण की समस्या ज्ञात या अज्ञात रूप से मन में विद्यमान थी। भाग्यवान लोगों को साहित्य या विज्ञान के क्षेत्र में आकस्मिक निरीक्षण से कुछ सुझाव अवश्य मिल जाय, 'कथा सु सुनी सूकर खेत' से चाहे तुलसीदासजी की जन्मभूमि के सम्बन्ध में सोरों का ध्यान गया हो किन्तु उसके वैज्ञानिक अनुसंधान का अभी श्रीगणेश ही हो रहा है। अनुसंधान चाहे जिस विषय का हो एक लक्ष्य और उद्देश्य के साथ होना चाहिए। वैज्ञानिक अनुसंधानकर्त्ता के लिए भटकने की गुंजाइश नहीं रहती। यदि वह किसी ग्रन्थ की ऐतिहासिकता की खोज कर रहा है तो न तो उसे जाति-प्रेम और भाषा-प्रेम विचलित करेगा और न उसके काव्य सौन्दर्य की ओर मन भटकेगा। उसका काव्य सौन्दर्य की ओर मन भटकना ऐसी ही दूषित मनोवृत्ति का परिचायक होगा जैसा कि किसी डाक्टर का किसी रमणी रोगिणी के सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाना। अनुसंधानकर्त्ता को निर्भयता से काम लेने की आवश्यकता रहती है किन्तु वह निर्भयता कर्त्तव्य शून्य न होनी चाहिए।

निरीक्षण

वैज्ञानिक निरीक्षण में यन्त्रों आदि से काम लेना पड़ता है। साहित्यिक निरीक्षण में वैज्ञानिक यन्त्रों की सहायता उस मात्रा में तो अपेक्षित नहीं होती जितनी कि वैज्ञानिक अनुसंधान में, किन्तु उसका सर्वथा अभाव भी नहीं रहता है। किसी हस्तलिखित ग्रन्थ की प्रामाणिकता या अप्रामाणिकता सिद्ध करने और काल निर्णय के लिए उस पर लिखी हुई तिथि और संवत् पर ही

यन्त्र

निर्भर नहीं रहना पड़ता वरन् उसके कागज और स्याही का भी वैज्ञानिक परीक्षण करना पड़ता है। इसके साथ उसको भाषा-विज्ञान और व्याकरण-सम्बन्धी जाँच भी करनी पड़ती है। कब कैसी भाषा और शब्दों का प्रयोग होता था? इसमें कवियों की स्वच्छन्दता को भी किसी-न-किसी मात्रा में छूट देनी पड़ती है। वैज्ञानिक निरीक्षण का अर्थ केवल इतना ही नहीं कि सूक्ष्म वीक्षण-यन्त्र का ही प्रयोग किया जाय वरन् यह कि अनुसंधान में वही बावन तोले पाव रत्ती की यथार्थता अपेक्षित होती है जो विज्ञान में।

कल्पना

साहित्यिक अनुसंधान में भी एक ही घटना और वस्तु के सम्बन्ध में विविध कल्पनाएँ करनी पड़ती हैं और उन कल्पनाओं का घटनाओं और तथ्यों के आलोक में मूल्य निर्धारित करना होता है।

परीक्षण

जिस प्रकार विज्ञान में असम्बद्ध एकाकी घटनाओं का कोई मूल्य नहीं उसी प्रकार साहित्यिक अनुसंधान में किसी एक बात पर ही किसी निर्णय को आधारित नहीं कर सकते। तुलसीदासजी अद्वैतवादी थे या विशिष्टाद्वैतवादी थे, इस बात के निर्णय के लिए न उनके सम्प्रदाय के ज्ञान से काम चलेगा और न ही एक स्फुट उद्धरण देने से। उसके लिए उनके सारे ग्रन्थों की खोज करनी होगी, फिर भी सम्भव है कि हमको एक पक्षीय उत्तर न मिल सके। यदि हम उनको समन्वयवादी कहते हैं तब भी यह बतलाना पड़ेगा कि किन-किन तत्त्वों का किस भाषा में समन्वय किया गया है।

यद्यपि साहित्य में नाप-तोल कम होती है तब भी उसमें यथार्थता और बावन तोले पाव रत्ती तक पहुँचने की वैज्ञानिक वृत्ति का मान होता है। सन्-संवतों के निर्णय में जितनी यथार्थता आ सके उतनी ही स्तुत्य समझी जाती है। उसमें इतिहास, ज्योतिष, शिला-लेख तथा अन्य सभी साहित्यिक और असाहित्यिक सामग्री का आश्रय लिया जाता है। अनुसंधान जनश्रुतियों की भी उपेक्षा नहीं करता है किन्तु उनकी उचित परीक्षा के बिना उनको किसी निर्णय की आधारशिला का रूप नहीं दिया जाता। परीक्षा के भी नियम होते हैं। उसमें सिफारिश को स्थान नहीं मिलता। बहुत-सी जन-

श्रुतियाँ पंडितों की चर्चा और जनता की स्थानीय अभिलाषाओं से अनुरंजित हो जाती हैं। उनमें यथासम्भव अनिरंजित या अनुरंजित अंश को पृथक् कर देना पड़ता है।

अपनी कल्पनाओं का परीक्षण, चाहे वे भाषा विज्ञान की हों, चाहे वे इतिहास-सम्बन्धी, वैज्ञानिक अनुसंधान के लिए आवश्यक होता है, जैसे ग्रियर्सन ने अन्तरंग और बहिरंग भाषाओं की कल्पना की। अब उसमें यह देखना आवश्यक है कि जो व्यावर्तक गुण उन्होंने बहिरंग भाषाओं के बतलाए हैं वे अंतरंग में मिलते हैं या नहीं? यदि मिलते हैं तो उनकी कुछ व्याख्या हो सकती है या नहीं? विपरीत उदाहरणों का भी उतना ही मान होना चाहिए जितना कि अनुकूल का। यही सच्ची परीक्षा है।

यह अन्तिम श्रेणी है। अनुसंधान में जो नये तथ्य मिलते हैं उनसे जाने हुए तथ्यों से पुरानी घटनाओं की व्याख्या में बाधा तो नहीं पड़ती है? यदि बाधा पड़ती है तो हमको अपने तथ्यों की जाँच-पड़ताल करनी पड़ेगी। अनुसन्धान को विफलताओं से विचलित नहीं होनी चाहिए और न किसी प्रकार के परिश्रम से मुँह मोड़ना चाहिए। जब तक नये ज्ञान की पुराने ज्ञान से संगति न बैठ जाय और जब तक नए की पुराने के आलोक में सार्थकता न प्रकट हो जाय तब तक अनुसन्धानकर्ता को चैन न लेना चाहिए। हमको पुराने का ही मोह नहीं है। या तो हमारा नया ज्ञान इतना युक्ति-युक्त और प्रबल होना चाहिए कि पुराने में संशोधन की आवश्यकता हो जाय या उसको पुराने से संगति प्राप्त करना चाहिए। सच्चे ज्ञान में प्रसंगति के लिए स्थान नहीं। हमारा यह उद्देश्य होना चाहिए कि हमारा ज्ञान-सूत्र अधिक से अधिक व्यापक हो और उससे अधिक से अधिक बातों की व्याख्या हो।

व्याख्या

इस प्रकार हम देखते हैं कि अनुसंधान-कार्य में सोद्देश्य निरीक्षण के साथ संयत कल्पना, परीक्षण और व्याख्या की आवश्यकता है। उससे एक विशेष ईमानदारी और गाम्भीर्य अपेक्षित रहता है।

स्वरूप

पद्धति के इस विवेचन से अनुसंधान के स्वरूप पर भी

प्रकाश पड़ जाता है। अनुसंधान किसी विषय का ऐसा सांगोपांग अनुशीलन या अध्ययन है जिसमें सोद्देश्य निरीक्षण के साथ संगति-स्थापन और व्याख्या के कार्य को भी मुख्यता दी जाती है। अब हम अनुसंधान-कार्य के कुछ रूपों को लेकर—उनसे इस स्वरूप की पुष्टि करेंगे।

यद्यपि आलोचना और अनुसंधान की सीमा-रेखाएँ कहीं-कहीं मिल जाती हैं तथापि आलोचना और अनुसंधान में थोड़ा अन्तर है। आलोचना का क्षेत्र व्यापक होता हुआ भी सीमित रहता है। उसमें वह तत्परता और साधना का भाव नहीं आता जो अनुसंधान में होता है। अनुसंधानकर्त्ता दूसरों की ही नहीं अपनी भी आलोचना करता है। अनुसंधानकर्त्ता दूसरों के कार्य से भी लाभ उठाता है। वह अपने ज्ञान को यथासम्भव पूर्ण बनाना चाहता है। कहीं-कहीं आलोचना भी अनुसंधान का रूप धारण कर लेती है किन्तु तभी जब कि उसमें नवीन ज्ञान, नवीन सामग्री और नवीन दिशाओं की खोज और तत्परता शामिल हो जाय। केवल आलोचक की दृष्टि प्रत्यक्ष पर अधिक रहती है। अनुसंधानकर्त्ता का लक्ष्य प्रत्यक्ष के विवेचन से अप्रत्यक्ष की ओर जाना अधिक रहता है।

आलोचना और अनुसंधान

यह अनुसंधान का एक रूप है। इसमें बहुत-कुछ कार्य यान्त्रिक है और बहुत-कुछ वास्तविक अनुसंधान का। प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों की तालिका बना लेना उनकी पृष्ठ-संख्या या छन्द-संख्या बतला देना और पुष्पिका की प्रतिलिपि कर देना ये सब कार्य परिश्रम और अध्यवसाय चाहते हैं किन्तु यान्त्रिक हैं। किसी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ को प्राप्त कर लेना तभी अनुसंधान कहलाएगा जब उसके सम्बन्ध में पूरी छान-बीन हो जाय। यदि यह जानी हुई पुस्तक की ही कापी है तो उसमें अन्य प्रतियों से क्या भेद है? उन भेद की बातों से कोई नया प्रकाश पड़ता है या नहीं? इन सब बातों का विवेचन करना वास्तविक अनुसंधान का विषय है। यदि वह कोई पुराने कवि की नई पुस्तक है या किसी अनजाने हुए

प्रचीन हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज

कवि की पुस्तक है तो उसका क्या साहित्यिक मूल्य है ? वह किस समय की है ? यदि पुराने और जाने हुए कवि की नई पुस्तक है तो उससे कवि के जीवन-दर्शन और विचारों पर क्या नया प्रकाश पड़ता है और वह उनकी अन्य साहित्यिक कृतियों में क्या स्थान पाती है ?

अनुसंधान के क्षेत्र में इस कार्य को भी महत्ता दी जाती है और वास्तव में यह महत्ता देने योग्य भी है। उसके द्वारा प्राचीन साहित्य हमारे सामने सुपाठ्य रूप में रखा जाता है। इस कार्य में भिन्न-भिन्न पाठान्तर संग्रह कर देना मात्र नहीं होता वरन् उपयुक्त पाठ का निश्चय कर देना भी होता है। उस निर्णय में तात्कालीन भाषा की स्थिति, व्याकरण, लेखक या कवि की वैयक्तिक रुचि तथा प्रतियों की प्रमाणिकता पर भी ध्यान रखना होगा। उसके अतिरिक्त अप्रसिद्ध प्रयोगों और शब्दों पर भी प्रकाश डालना होगा। कभी-कभी सम्पादन के अन्तर्गत भूमिका आदि लिखने का भी कार्य सम्मिलित हो जाता है जिससे कवि के जीवन, उसके युग और उसके प्रतिभा की विशेषताओं पर प्रकाश पड़े। पाठ निश्चय करने का भी कार्य हमारे यहाँ प्रायः व्यक्ति ही किया करते हैं किन्तु वास्तव में यह कार्य समितियों द्वारा किए जाने योग्य हैं। अभी प्राचीन ग्रन्थों के सुपाठ्य संस्करणों की बड़ी आवश्यकता है।

पाठ-निर्णय और सम्पादन

सारिणी बनाना भी अनुसंधान का एक अंग माना जाता है और इस पर डिग्रियाँ भी मिलती हैं किन्तु केवल सारिणी बनाना उतना ही कम महत्व रखता है जितना कि जनगणना करना। गणना का कार्य तभी पूर्ण होता है जब उसमें भिन्न-भिन्न जातियों के रहन-सहन और उससे उनके स्वास्थ्य का सम्बन्ध दिखाया जाता है। उनकी शिक्षा आदि का अनुपात दिखाया जाता है। उसी प्रकार सारिणी बनाने का कार्य तभी सार्थक होता है जब शब्दों से लेखक की रुचि पर प्रकाश डाला जाता है और भिन्न-भिन्न समान समझने वाले शब्दों की प्रसंगानुकूल सार्थकता प्रदर्शित की जाती है। यदि नहीं होता तो

सारिणी-निर्माण

केवल यान्त्रिक कार्य रह जाता है। पुस्तकों के अध्यायों और शब्दों की संख्या करना, उनका नामकरण आदि ये सब यान्त्रिक कार्य हैं। बहुत-सा ऐतिहासिक अनुसंधान पेड़ गिनना ही होता है। अनुसंधान में सामग्री का एकत्रित करना ही नहीं वरन् उसका उचित मूल्यांकन भी आवश्यक होता है।

यह शुद्ध रूप से साहित्यिक होता है। यह विशेष कवियों के सम्बन्ध में हो सकता है, विशेष कालों के सम्बन्धों में हो सकता है और विशेष प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में जैसे छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद आदि के और कभी-कभी साहित्यांगों जैसे रस, अलङ्कारादि और साहित्यिक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में हो सकता है। एक कवि के सम्बन्ध में भी कई दृष्टिकोणों से और कई पक्षों को लेकर अनुसंधान चल सकता है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है अनुसंधान और केवल आलोचना में अंतर है। आलोचना अनुसंधान का एक अंग हो सकता है किन्तु अनुसंधान में एक विशेष तत्परता और नवीन प्रकाश डालने की प्रवृत्ति होती है। आलोचना में भी कवि की प्रतिभा पर नया प्रकाश पड़ता है। रस या अलंकारों या अन्य साहित्यांगों के सम्बन्ध में जो अनुसंधान होता है उसमें उनका वर्णनमात्र नहीं होता है वरन् उन पर ऐतिहासिक और आचार्यों के तुलनात्मक अध्ययन के अतिरिक्त उन पर मनोवैज्ञानिक आलोक भी डाला जाता है। सारी साहित्य-शक्ति से उनका सम्बन्ध स्थापित होता है। यही उनकी वैज्ञानिक व्याख्या होती है। प्रवृत्तियों और साहित्यिक सिद्धान्तों में भी ऐतिहासिक विवेचन के अतिरिक्त विभिन्न आचार्यों के मतों का मूल्यांकन और उनके आन्तरिक अभिप्राय और तत्वों की खोज होती है और कभी-कभी उनको नया रूप भी दिया जाता है। नवीनता केवल नवीनता के लिए नहीं होनी चाहिए। नवीनता की भी सीमाएँ होती हैं। प्राचीन आचार्यों के शास्त्रीय सिद्धान्तों के उपस्थित करने और विवेचन में सदा यह ध्यान रखना चाहिए कि अनुसंधानकर्ता उनके साथ अन्याय तो नहीं कर रहा है। उनके सिद्धान्तों में अपने भावों की

आलोचनात्मक अनुसंधान

अपने अभीप्सित सिद्धान्तों की छाया तो नहीं देख रहा है। प्राचीन आचार्यों के सिद्धान्तों का यथासम्भव यथातथ्य वर्णन होना चाहिए। इसके लिए गम्भीर अध्ययन अपेक्षित है। हमको आचार्यों से मतभेद प्रकट करने का पूर्ण अधिकार है। साहित्य में उन्नति इसी प्रकार हुई है। अनुसंधानकर्त्ता को अपना मत स्पष्ट और अभ्रमात्मक भाषा में प्रकट करना चाहिए। दूसरे कवियों के जीवन दर्शन के अध्ययन में भी अनुसंधानकर्त्ता को पर्याप्त विषयगतता से काम लेना चाहिए।

अनुसंधान के सम्बन्ध में यह कुछ बहुत मोटी मोटी बातें दी गई हैं जो अनुसंधानकर्त्ता की अपेक्षित मनोवृत्ति पर प्रकाश डाल सकेंगी।

३६

बिहारी का सौन्दर्य-बोध

कविवर बिहारीलाल जी हिन्दी के शृंगारिक कवियों में अग्रगण्य हैं। उनकी सतसई शृंगार रस का भी शृंगार है। यद्यपि उन्होंने रीतिकाल में लिखा तथापि उनकी कविता खाना पूरी की नहीं है। शृंगार का सांगोपांग रूप जैसा उनके 'नावक के तीर' वाली सतसई में विकसित हुआ है वैसा अन्यत्र कठिनता से ही दिखाई पड़ेगा। शृंगार का स्थायी भाव रति है जो सौन्दर्याश्रित है। सौन्दर्य का वर्णन प्रायः सभी शृंगारिक कवियों ने किया है किन्तु बिहारी के वर्णन में कुछ विलक्षणता है। जहाँ और कवियों ने नायक-नायिका के नख-शिख आदि आलम्बनगत उद्दीपनों की लुभावनी छटाएँ दिखलाई हैं वहाँ वे इस ब्यौरे के जाल में व्यापक सौन्दर्य का वर्णन करना भूल से गये हैं, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार एक-एक वृक्ष के नाम परिगणन में लोग वन के व्यापक सौन्दर्य को ग्रहण नहीं कर पाते हैं। महाकवि बिहारी ने ऐसा नहीं किया है। उन्होंने जहाँ ब्यौरे का वर्णन किया है वहाँ वे व्यापक सौन्दर्य का वर्णन करना नहीं भूले हैं। उसके आधार पर कहा जा सकता है कि उनका सौन्दर्य-बोध बहुत वैज्ञानिक और उच्चकोटि का है।

बिहारी की विशेषता

प्रत्येक प्रत्यक्ष ज्ञान की भान्ति सौन्दर्य में भी एक वस्तुगत पक्ष और दूसरा मानसिक पक्ष होता है। कोई लोग विषयीगत (Subjective) पक्ष को प्रधानता देते हैं तो कोई विषयगत (Objective) पक्ष को। कुछ समन्वयवादी दोनों पक्षों को। उस दृष्टिकोण को हम विषयी-विषयगत (Subjective objective) दृष्टिकोण कहेंगे। अब हम देखेंगे कि बिहारी में

तीन दृष्टिकोण

इमको तीनों दृष्टिकोण मिल जाते हैं।

विषयीगत पक्ष के मानने वालों का कथन है कि सौन्दर्य के विषयगत पक्ष की अपेक्षा विषयीगत पक्ष का अधिक महत्व है—'पिया चाहे सोई सुहागिन' की बात है। तमाशाई न हों तो तमाशे का कोई मूल्य नहीं, 'फूल्यो अनफूल्यो भयो गँवईगाँव गुलाब'। इतना ही नहीं वरन् सौन्दर्य सहृदय नायक की रुचि पर ही निर्भर रहता है। बिहारी ने इस विषयीगत पक्ष को नीचे के दोहों में व्यक्त किया है—

विषयीगत दृष्टिकोण

'जद्यपि सुन्दर सुघट पुनि, सगुनो दीपक देह।
तऊ प्रकास करै तितौ, भरियै जितौ सनेह॥ २२५॥
× × ×
समै समै सुन्दर सबै, रूप कुरूप न कोय।
मन की रुचि जेती जितै, तित तेती रुचि होय॥' ७२२॥

इस दृष्टिकोण से सौन्दर्य प्रेम का जनक नहीं वरन् प्रेम सौन्दर्य का जनक है।

"O lady, we receive but what we give
And in our life alone doth nature live."

यह दृष्टिकोण प्रत्ययवादी (Idealists) का है। इसमें सापेक्षितावाद भी लगा हुआ है। बिहारीलाल जी चाह की पूर्ति में सौन्दर्य को सापेक्षिता मानते हैं—

'अति अगाध अति औथरे, नदी कूप सर बाय।
सो ताको सागर जहाँ, जाकी प्यास बुझाय॥' ६४५॥

विषयगत दृष्टिकोण के रखने वाले विश्वास करते हैं कि यदि वस्तु में सौन्दर्य न हो तो द्रष्टा उसमें उसे उत्पन्न नहीं कर सकता। यदि गुलाब में लाली न हो तो हर एक आदमी उसको अलग-अलग रंग का देखेगा। हम लाल को ही लाल कहते हैं काले को लाल नहीं। 'पिया चाहे सोई सुहागिन' की अत्य-

विषयगत दृष्टिकोण

वस्था से बचने के लिए हमको वस्तुगत सौन्दर्य मानना पड़ेगा। बिहारी ने इस दृष्टिकोण को नीचे के दोहों में व्यक्त किया है—

'सीतलतारु सुगन्ध की, महिमा घटी न मूर।
पीनस वारे जो तज्यो, सोरा जानि कपूर ॥ ६७१ ॥

× × ×

बाल छबीली तियन में, बैठी आपु छिपाय।
अरगट ही फानूस सी, परगट परै लखाय ॥' १५० ॥

सौन्दर्य-प्रेम और धुएँ की भाँति छिपाये नहीं छिपता। चन्द्रमा और सूर्य को कौन नहीं देखता—जो उन्हें न देखे उसी का दोष है। उलूक यदि सूर्य को दिन में न देखे तो सूर्य का क्या दोष? और देखिए—

'हौं रीझी, लखि रीझिहौ, छबिहि छबीले लाल।
सोनजुही सी होति दुति, मिलति मालती माल ॥' १३६ ॥

जो वस्तु सुन्दर है उन पर सभी रीझेंगे। इस निश्चय को लेकर सखी नायक से कहती है। वह अपने को एक साधारण व्यक्ति के उदाहरण में रख देती है, नायक तो नागर और रसिक है वह अवश्य ही रीझेगा। यह वस्तुवादी दार्शनिकों का दृष्टिकोण है। पुर हत्थी नवलवधू के सौन्दर्य से आकर्षित हो भिखारियों की भीड़ लग जाने की बात भी सौन्दर्य की वस्तुगतता का द्योतक है—

'कन देबो सौंप्यौ ससुर, बहू थर हथी जानि।
रूप रहँचटे लगिलायो, माँगन सब जग आनि ॥' १६१ ॥

इस वस्तुवादी दृष्टिकोण में एकांगिता रहती है। उसकी एकांगिता को स्पष्ट करने के लिए ही 'भैंस के आगे बीन बजाई भैंस जानी मेरी सानी आई', की लोकोक्ति प्रचार में आई है। सौन्दर्य में तो

विषयी-विषय-प्रधान दृष्टिकोण

मानसिक पक्ष प्रधान होता ही है किन्तु साधारण वस्तु-वीक्षण में भी द्रष्टा की ग्राहकता अपेक्षित है। इसी लिए कहा भी है कि 'अरसिकेषु कवित्त निवेदनं शिरसि मा लिख मा लिख'। बिहारी द्रष्टा की ग्राहकता के पक्ष का महत्त्व भली प्रकार

जानते थे। उन्होंने अलग-अलग दृष्टिकोणों का महत्व स्वीकार कर सौन्दर्य के समन्वयात्मक दृष्टिकोण को भी, जिसमें वस्तु और द्रष्टा के मानसिक पक्ष दोनों को महत्ता दी गई है, अपनाया है। उन्होंने एक दोहे में इस दृष्टिकोण को हमारे सामने रखा है। वह दोहा इस प्रकार है—

'मोहि भरोसो रीझि है, उझकि झाँकि इस बार।
रूप रिझावनहार वह, ये नैना रिझवार॥' ३०६॥

'रूप रिझावन हार वह' में सौन्दर्य का वस्तुगत पक्ष आ गया और 'ये नैना रिझवार' में सौन्दर्य का विषयीगत पक्ष उभार में आ जाता है। इस दोहे के नैतिक पक्ष की ओर हम ध्यान न देंगे। इस समय हम इसके वैज्ञानिक रूप को ही लेंगे।

अब प्रश्न यह है कि बिहारी ने सौन्दर्य का कोई व्यापक मानदण्ड भी दिया है या नहीं। बिहारी ने सौन्दर्य में पहले तो अलंकार, अंगराग आदि बाह्य उपकरणों का निराकरण किया है। उनको दर्पण के से मोर्चे, या 'दृग पग पौंछन को किए भूषण पायन्दाज' अंगराग के लिए उन्होंने कहा है 'अंगराग अंगन लग्यो ज्यों आरसी उसास'।

सौन्दर्य का मानदण्ड

बिहारी सहज स्वाभाविक सौन्दर्य के उपासक थे। वे सौन्दर्य को आँख, नाक की शोभा के ऊपर प्रतीयमान अर्थ की भाँति एक विलक्षण वस्तु मानते हैं। देखिए—

'अनियारे दीरघ दृगनि किती न तरुनि समान।
वह चितवन औरे कछू जिहि बस होत सुजान॥'

इसमें भी सुजान या सहृदय द्रष्टा को उचित महत्व दिया गया है। सौन्दर्य विलक्षण होते हुए भी उसकी कुछ रूपरेखा है। वह अनन्त है, वह क्षण-क्षण में नवीन छटा धारण करता है 'क्षणे क्षणे यन्नवताम् पैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।' यह क्षण क्षण की बदलने वाली छटाएँ अव्यवस्थित भीड़-सी नहीं लगा देती हैं। वे सुव्यवस्थित और क्रमबद्ध होने के कारण शरीर के आयाम और आकार को अनुपात से बढ़ने नहीं देते।

बिहारी ने एक नायिका की छवि का इस प्रकार वर्णन किया है—

'अंग अंग छवि की लपट, उपटति जाति अछेह।
खरी पातरीऊ तऊ, लगै भरी सी देह॥' १५४॥

'खरी पातरीऊ तऊ लगै भरी सी देह' में थोड़े में बहुत, गागर में सागर और अनेकता में एकता की बात आ जाती है। काव्य के ध्वनि-सम्बन्धी सौन्दर्य में भी थोड़े में बहुत 'खरी पातरीउ तऊ लगै भरी सी देह' की बात आ जाती है। भरी सी देह क्षण-क्षण बदलने वाली छवि की छटाओं के कारण ही लगती है। इसके कारण नायिका का सौन्दर्य चित्रकार की पकड़ में नहीं आता है। चतुर चितेरा भी कूर बन जाता है।

'लिखन बैठि जाकी सबिहि, गहि-गहि गरब गरूर।
भये न केते जगत में, चतुर चितेरे कूर॥' १६५॥

सौन्दर्य की इसी अनन्तता के अनुरूप द्रष्टा या रस की शब्दावली में आश्रय की न बुझने वाली प्यास की ओर संकेत किया गया है। प्यास का भौतिक कारण सलौना (सलवण) रूप बताया गया है। नमक खाकर प्यास अधिक लगती है, इस लौकिक अनुभव का लाभ उठा कर श्लेष के सहारे बिहारी ने सौन्दर्य की अनन्तता की बात व्यंजित की है—

'त्यों त्यों प्यासो ही रहत ज्यों ज्यों पियत अघाय।
'सगुन' सलोने रूप की, जु न चख तृषा बुझाय॥' १६२॥

बिहारी के दोहों के सौन्दर्य के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है 'त्यों त्यों प्यासो ही रहत, ज्यों ज्यों पियत अघाय।'

विशेष—इस लेख में दोहों के नम्बर बिहारी-बोधनी से दिये गये हैं।

४०

साहित्यिक फूल, पौदे और वृक्ष*

(लेखक — 'एकाकी')

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में कविता शेष सृष्टि के साथ हमारा रागात्मक सम्बन्ध कराती है। शेष सृष्टि में मनुष्य और मनुष्येतर सृष्टि आती है। मनुष्येतर सृष्टि में वृक्ष, पौदे, वन, पर्वत, नदी, निर्झर, कछार, पर्पट भूमि, हरे-भरे शाद्वल तथा उनके आस-पास विचरने वाले पशु-पक्षी और जीव-जन्तु आते हैं। प्रकृति का क्षेत्र बड़ा विस्तृत है। प्रकृति काव्य के क्षेत्र में कई प्रकार से समाविष्ट होती है। कविता प्रकृति के साथ रागात्मक सम्बन्ध द्वारा मानव और प्रकृति में साम्य स्थापित कर एकात्म-वाद की पुष्टि करती है। इस लेख में हम प्रकृति के फूल, पौदे और वृक्ष वाले अंश को ही लेंगे।

भारत में प्रायः सभी ऋतुएँ होती हैं और सभी प्रकार का जलवायु यहाँ पाया जाता है। यहाँ की संस्कृति का विकास प्रकृति की गोद में ही हुआ है। अनन्त नीलिमामय आकाश, शुभ्र ज्योत्स्ना, हीरकाभा वाले जगमगाते तारे, मलय समीर से 'पुलकित यामिनी', वर्षा में बिजली की चमक और बादलों की गरज, सहस्रों पक्षियों को आश्रय देने वाला विशालकाय वट-वृक्ष, भगवान बुद्ध को अपनी छाया के नीचे बुद्धत्व प्राप्त कराने वाला अश्वत्थ-वृक्ष, कृष्ण की वंशी में मादक तान भरने वाला कदम्ब **'कदम्बक तरुतरि धिर धिर मुरली बजाव'** आदि वृक्षों ने तपोवनों की शोभा बढ़ाई

---

* अखिल भारतीय हिन्दी परिषद, प्रयाग के आगरा अधिवेशन के अवसर पर प्रो० गुलाबराय द्वारा आयोजित साहित्यिक वृक्षों और पौदों की प्रदर्शिनी में रखे हुए परिचय-पत्रों के आधार पर। इसमें दिए गए फूलों के वैज्ञानिक नामों के लिए लेखक प्रो. न. म. मुकर्जी का आभारी है।

है। शकुन्तला के पति-गृह जाते समय महर्षि कण्व ने शकुन्तला को आश्रम के वृक्षों और पौदों से विदा दिलवाई है—

"पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वसिक्तेषु या,
नाऽऽदत्ते प्रियमण्डनाऽपि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये वः कुसुमप्रवृत्तिसमये यस्या भवत्युत्सवः,
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्।"
—अभिज्ञान-शाकुन्तलम् (४।११)

राजा लक्ष्मणसिंह द्वारा इसका हिन्दी पद्यानुवाद भी नीचे दिया जाता है—

"पाछे पीवति नीर जो, पहले तुमको प्याय।
फूल पात तोरति नहीं, गहने हू के चाय॥
जब तुम फूलन के दिवस, आवत हैं सुख दान।
फूली अंग समात नहिं, उत्सव करति महान॥
सो यह जाति शकुन्तला, आज पिया के गेह।
आज्ञा देहु पयान की, तुम सब सहित सनेह॥"

वृक्षों और पौदों का साहित्य में कई प्रकार से वर्णन आता है—कवि-समयों के रूप में, उपमानों के रूप में, उद्दीपन और आलम्बन-विभावों के रूप में। इन विभिन्न प्रकारों द्वारा कवि और भारतीय गायक अपने हृदय को चिरकाल से स्पदित करते आए हैं।

कवि-समय में 'समय' शब्द समझौते या ठहराव के अर्थ में आता है। इस अर्थ में 'समय' शब्द का उल्लेख महर्षि वाल्मीकि ने किया है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम ने सुग्रीव से कहा है—'समये तिष्ठ सुग्रीव'—अर्थात् तुम अपने वायदे पर दृढ़ रहो। कवि लोग भी वर्णन की सुविधा के लिए कुछ बातों पर समझौता कर लेते हैं और इस प्रकार उनके द्वारा हृदय के भावों की अभिव्यक्ति में बल आ जाता है क्योंकि वे बातें एक चिर-स्थापित परम्परा से सम्बद्ध होती हैं। कवि-समय के लिए यह बात आवश्यक नहीं है कि वह प्राकृतिक रूप से बिलकुल यथार्थ ही हो। कवियों का उन विषयों

के सम्बन्ध में एक अटूट समझौता होने के कारण यह अयथार्थता और यथार्थता के विवेचन से परे होती है। इनमें सभी बातें अयथार्थ नहीं होतीं। इनको अंग्रेजी में Poetic Conventions (काव्योक्तियाँ) कहते हैं, जैसे—चम्पा के फूल पर भौंरा नहीं आता है, वर्षा होने पर अकौआ और जवासे के पत्ते झड़ जाते हैं—'अर्क-जवास पात बिन भयऊ'।

वृक्ष और पौदों के सम्बन्ध में भारत की यह विशेषता है कि यहाँ फूलदार वृक्ष, जैसे—अशोक, सिरिस, अमलतास, सेमर, कचनार, मौलिश्री, कदम्ब आदि और देशों की अपेक्षा कुछ अधिक होते हैं। यह शायद यहाँ सूर्यदेव की कृपा है। श्री रन्धावा की पुस्तक 'Beautifying India' तथा Charles McCann की पुस्तक 'Trees of India' में इन वृक्षों के बड़े सुन्दर रंगीन चित्र दिए हैं। भारत में पौदों में कच्चे पौदों की अपेक्षा पक्के पौदे, जैसे—जुही, चमेली, मौंगरा, बेला आदि अधिक होते हैं। हमारे यहाँ और देशों से अपेक्षाकृत कच्चे पौदे कम होते हैं जिनमें गेंदा, गुलाबाँस आदि गिनाए जा सकते हैं। आजकल जो अधिकाँश कच्चे पौदे दिखाई पड़ते हैं वे विदेशी हैं किन्तु अब 'गोभी' करमकल्ला की भाँति वे भी देशी हो गए हैं। उनमें से कुछ का भारतीय नामकरण भी हो गया है और शेष का हो जाना आवश्यक है। 'गोभी' का मूल रूप 'कोभी' है किन्तु अब उसे 'गोभी' ही कहा जाता है। अब कुछ वृक्षों और पौदों का यहाँ वर्णन दिया जाता है।

अगस्त्य (SESBANIA GRANDIFLORA)— इसका नाम अगस्त्य ऋषि पर है। यह प्रसिद्ध है कि उन्होंने समुद्र सोख लिया था। इसी नाम का एक तारा भी है जिसके उदय होने पर शरद् ऋतु का समारम्भ होता है—'उदय अगस्त पंथ जल सोखा।' यह वृक्ष भी शरद् ऋतु में फूलता है। कार्तिक में इसकी पूजा होती है। उसकी कलियाँ खाई भी जाती हैं। ये कलियाँ कढ़ी में भी पड़ती हैं—

> **'फूल करील कली पाकर नम।**
> **फरी अगस्त करी अमृत सम॥'**
>
> —सूरसागर (दशम स्कंध, पृष्ठ ६८६)

अतीसी (तीसी अलसी) (LINUM USITATISSIMUM)—इसके फूल कई रंग के होते हैं। भारत में यह प्रायः नीले रंग की होती है। श्री कृष्ण के शरीर के रंग की इससे उपमा दी जाती है—

'अतिसी-कुसुम-कलेवर बूँदें प्रतिबिंबित निरधार।
जोतिस्चक्र गगन सौं डोलत, सखि सब करति बिचार॥'
—सूरसागर (दशमें स्कंध, पृष्ठ ६५८)

कविवर पंत ने भी इसके नीलेपन का उल्लेख किया है—

'लो, हरित धरा से झाँक रही,
नीलम की कलि, तीसी नीली।'
—ग्राम्या (ग्राम श्री)

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने जमुना की श्यामता के लिए तीसी को ही उपमान बनाया है—

'नवीन तीसी कुसुमोपमेय थी।
कलिंदजा की कमनीय श्यामता॥'

अरहर (CAJANUS INDICUS)—यह खेती का चीज है। यह वर्षा में बोई जाती है और जाड़ों में काटी जाती है। यह सन, बन (कपास) और ऊख के उखड़ जाने पर भी बनी रहती है। कविवर बिहारीलाल ने इस बात का उल्लेख कर अपने सूक्ष्म प्रकृति-निरीक्षण का परिचय दिया है—

'सनु सूक्यौ, बीत्यौ बनौ, ऊखौं लई उखारि।
हरी हरी अरहर अजौं, धरि धरहरि जिय नारि॥'
—बिहारी रत्नाकर (दोहा १३५)

पंतजी ने इसकी और सन की झनझनाती फलियों को किंकिणि कहा है—

'अरहर सनई की सोने की,
किंकिणियाँ हैं शोभाशाली।'
—ग्राम्या (ग्राम-श्री)

अशोक (SARACA INDICA)—इसके सम्बन्ध में यह प्रशस्ति है कि सुन्दर स्त्रियाँ जब इस पर पदाघात करती हैं तब वह पुष्पित हो जाता है। इस कवि-समय का लाभ उठाते हुए कविवर मैथिलीशरण जी ने उर्मिला के विरह-निवेदन में अशोक के सम्बन्ध में उनके पारस्परिक हास-परिहास का उल्लेख कराया है—

'आई हूँ सशोक मैं अशोक, आज तेरे तले,
आती है तुझे क्या हाय! सुध उस बात की।
प्रिय ने कहा था—'प्रिये, पहले ही फूला यह,
भीति जो थी इसको तुम्हारे पदाघात की!'
देखी उन कान्ता सती शान्ता को सुलक्ष कर,
क्षण भर मैंने भी हँसी यों अकस्मात की—
'भूले हो नाथ, फूल फूलते ये कैसे, यदि
ननद न देतीं प्रीति पद-जलजात की!'

—साकेत (नवम सर्ग)

अशोक वृक्ष कवि-समय के अतिरिक्त सती सीता के कारण भी अमर हो गया है। सीता जी रावण के यहाँ अशोक वृक्ष के नीचे ही रही थीं। उससे उन्होंने अपने शोक दूर करने की प्रार्थना भी की थी जो अन्त में स्वीकार भी हो गई थी। रामचरितमानस में इसका वर्णन इस प्रकार है—

'सुनहि बिनय मम बिटप असोका। सत्य नाम करु हरु मम सोका
नूतन किसलय अनल समाना। देहि अगिनि तन करहि निदाना'

—रामचरित मानस (सुन्दर-काण्ड)

इसके लाल फूलों का महाकवि कालिदास ने भी अपने ऋतु-संहार में वर्णन किया है—

'आ मूलतो विद्रुमरागताम्रं
सपल्लवाः पुष्पचयं दधानाः।

कुर्वन्त्यशोका हृदयं सशोकं
निरीक्ष्यमाणा नवयौवनानाम ।।'

—ऋतुसंहार (६।१६)

सीताजी ने तो अशोक से उनके शोक को हरकर अपने को सार्थक करने की प्रार्थना की थी किन्तु कालिदास ने वसन्त ऋतु में नवयौवनवती रमणियों को अशोक के मूँगे जैसे लाल फूलों के दर्शन से सशोक बना दिया है। विरह में सुखद वस्तुएँ भी दुःखद बन जाती हैं। जिस वृक्ष को आजकल प्रायः अशोक कहा जाता है वह वास्तविक अशोक नहीं है। उसकी पत्तियाँ कटी नहीं होती हैं। आजकल नकली अशोक को अशोका कहते हैं।

अर्क (अकौआ) (CALATROPIS PROCERA)—अर्क के फूल महादेवजी को बहुत प्रिय हैं। अर्क अकौआ को भी कहते हैं और सूर्य को भी। केशव ने इस श्लेष का लाभ उठाकर लिखा है—

'बेर भयानक सी अति लगै।
अर्क समूह जहाँ जग मगै।।'

—रामचन्द्रिका (पंचवटी-वन-वर्णन)

अर्क और जवासे के सम्बन्ध में कवि-प्रसिद्धि है कि चौमासों में इनके पत्ते झड़ जाते हैं—'अर्क जवास पात बिन भयऊ'।

अर्जुन (TERMENELIA ARJUNA)—इस वृक्ष का महाभारत में भी उल्लेख आया है—'सर्जार्जुन कर्णिकारैः'। कुबेर के पुत्रों को शापवश अर्जुन के पेड़ का रूप धारण करना पड़ा था। श्रीकृष्ण जी ने ऊखल-बन्धन के समय में उनका उद्धार किया था—

'हरि चितए जमलार्जुन के तन।
अबहीं आजु इन्हें उद्धारौं, ये हैं मेरे निज जन।
× × ×
परस करौं तन, तरुहिं गिराऊँ, मुनिवर-साप मिटाऊँ।
ये सुकुमार, बहुत दुख पायौ, सुत कुबेर के तारौं।'

—सूरसागर (पृष्ठ ३८७)

केशव ने इसके नाम पर श्लेष करते हुए पंचवटी को पाँडवों की प्रतिमा बना दिया था—

'पाँडव की प्रतिमा सम लेखो।
अर्जुन भीम महामति देखो॥'

—रामचन्द्रिका (पंचवटी-वन-वर्णन)

आँवला (PHYLLNTHUS EMBLICA)—यह बड़ा पवित्र और शुभ माना जाता है। जो वस्तु प्रत्यक्ष और स्वच्छ होती है 'हस्तामलकवत्' कहलाती है। इसकी 'इच्छा नवमी' को पूजा होती है और इसके नीचे बैठकर भोजन किया जाता है। मन्दिरों के शिखरों पर घट के साथ इसका भी चिन्ह रहता है। पं. अयोध्यासिंह उपाध्याय ने इसकी पत्तियों की चंचलता का वर्णन किया है—

'दिखा फलों की बहुधा अपक्वता।
स्वपत्तियों की स्थिरता-विहीनता।
बता रहा था चलचित्त वृत्ति के—
उतावलों की करतूत आँवला॥'

—प्रियप्रवास (नवम सर्ग)

इंगुदी (BALANITES ROXBERGHI)—इसको हिन्दी में हिंगोट कहते हैं। हिंगोट के फलों के कूटे जाने का उल्लेख महाकवि कालिदास ने महर्षि कण्व के आश्रम-वर्णन में किया है। इसके फलों से तेल निकलता था। शकुन्तला के उद्धरण का पद्यानुवाद नीचे दिया जाता है—

'रूखन तर मनि अन्न पर्यौ है।
शुक कोटर तें यह जुगिर्यौ है॥
कहूँ धरी चिक्कन सिल चीसें।
इंगुदि फल जिनपै मुनि पीसें॥'

इसका संस्कृत मूल इस प्रकार है—

'नीवराःशुककोटरार्भकमुखभ्रष्टास्तरूणामधः,
प्रस्निग्धाः क्वचिदिङ्गुदीफलभिदः सूच्यन्त एवोपला ।'

—अभिज्ञानशाकुन्तलम् (१।१४)

कचनार (BAUHINIA VARIGATA)—इसके फूल सफेद और नीले रंग के तथा इसके पत्ते गाय या बकरी के खुर की भाँति के होते हैं । इसकी कली का शाक बनता है । सूरदास जी ने श्रीकृष्णजी की भोज्य सामग्री में गिनाया है—

'ककरी कचरी अरु कचनार्यौ ।
सरस निमोननि स्वाद सँवार्यौ ॥'

—सूरसागर (दशम स्कन्ध, पृष्ठ ६८६)

कदम्ब (ANTHCEPHALUS (NAUCLEA) CADAMBA) —कदम्ब के वृक्ष का श्रीकृष्णजी से विशेष सम्बन्ध है । विद्यापति ने श्रीकृष्ण के कदम्ब के नीचे मुरली बजाने का उल्लेख किया है :—

'नन्दक नन्दन कदम्बक तरु-तर,
धिरे धिरे मुरलि बजाव ।'

—विद्यापति की पदावली (वन्दना)

इसका पुष्प गेंद-सा गोल होता है और उसके तन्तु की रोमाञ्च से उपमा दी जाती है । मेघदूत में कदम्ब के वृक्ष के मेघ के सम्पर्क में आने से अपने प्रौढ़ पुष्पों द्वारा रोमाँञ्चित देखे जाने की कल्पना की गई है—

'त्वत्सम्पर्कात् पुलकितमिव प्रौढ़पुष्पैः कदम्बैः ।'

—मेघदूत (पूर्वमेघ, २६)

बिहारी ने भी नायिका को प्रसाद की माला पाकर कदम्ब की माला की-सी पुलकित शरीर वाली बताया है—

'मैं यह तोहीं में लखी भगति अपूरब, बाल ।
लहि प्रसाद-माला जु भौ तनु कदंब की माल ॥'

—बिहारी-रत्नाकर (दोहा ४७०)

चीरहरन लीला और कालीदह लीला भी कदम्ब के वृक्ष से सम्बन्धित हैं—

'आपु कदम चढ़ि देखत स्याम ।
सबन अभूषन सब हरि लीन्हे, बिना बसन जल-भीतर बाम ॥'
—सूरसागर (दशम संकध, पृष्ठ ५२९)

'हमारे अम्बर देहु मुरारी,
लै सब चीर कदम चढ़ि बैठे, हम जल-माँझ उघारी ॥'
—सूरसागर (दशम स्कंध, पृष्ठ ५३०)

'खेलत-खेलत जाइ कदम चढ़ि, झपि जमुना-जल लीन्हौ ।'
—सूरसागर (दशम स्कंध, पृष्ठ ४५६)

कदली (MUSA SAPIENTUM)—कदली (केला) का भारतीय जीवन में विशेष महत्व है । इसमें विशेष पवित्रता मानी जाती है। मंगलमय अवसरों पर इसके द्वार स्थापित किए जाते हैं । इसके पत्ते भोजन परोसने तथा कच्चे फल शाक के काम में आते हैं। इसका पक्का फल अत्यन्त स्वादिष्ट तथा स्वास्थ्यवर्द्धक है । यह श्री सत्यनारायणजी के प्रसाद में भी चढ़ाया जाता है । कवि लोग सौंदर्यशालिनी कामिनियों तथा दिव्य पुरुषों की जंघाओं की स्निग्धता, चिक्कणता तथा श्वेतता की इसके तने से उपमा देते हैं—

'जुगल जंघनि खंभ-रंभा, नाहिं समसरि ताहि'
—सूरसागर (दशम स्कंध, पृष्ठ ३४०)

इसके उलटे पत्ते को विरहिणी की पीठ का उपमान बनाते हैं—

'कदली दल सी पीठ मनोहर, सो जनु उलटि गई ।
संपति सब हरि हरी, सूर प्रभु बिपदा दई दई ।'
—सूरसागर (दशम स्कंध, पृष्ठ ३४१)

कविवर बिहारी ने भी इनके सौन्दर्य का इस प्रकार वर्णन किया है—

'जंघ जुगल लोइन निरे करे मनौ विधि मैन ।
केलि-तरुनु दुखदैन ए, केलि तरुन-सुखदैन ॥'
—बिहारी-रत्नाकर (दोहा २१०)

कमल (UELUMBIUM SPECIOSUM)—जिस प्रकार गुलाब आँग्ल देश का जातीय फूल है उसी प्रकार कमल भारतीय संस्कृति और सौन्दर्य का प्राण-प्रतीक है। भगवान् विष्णु शङ्ख, चक्र, गदा के साथ उसे धारण करते हैं और 'पद्मधर' कहलाते हैं। उनकी नाभि से कमल की उत्पत्ति हुई है इस कथा के आधार पर उन्हें 'पद्मनाभ' भी कहते हैं। ब्रह्मा की उत्पत्ति भगवान् विष्णु के नाभि-कमल से हुई मानी गई है इस कारण उन्हें 'कमलयोनि', 'पद्मभ', 'कमलज' तथा 'कमलभव' कहते हैं। भगवान राम का विष्णु से तादात्म्य करते हुए रामजी के एक स्त्रोत्र में भी कहा गया है—'यन्नभिपंकजभवः कमलासनश्च'। लक्ष्मी जी भी कमल (रक्त-कमल) के आसन पर विराजमान मानी जाती हैं। इसी कारण उन्हें 'कमला' भी कहा जाता है।

कमल को शतदल, सहस्रदल अथवा सहस्रपत्र भी कहते हैं। इसकी कई जातियाँ और कई नाम भी हैं। सूर ने श्री कृष्ण के नेत्रों का वर्णन करते हुए कमलों के कई नाम गिनाए हैं—

'देखो, री ! हरि के चंचल नैन।

× × ×

राजिवदल, इंदीवर, सतदल कमल, कुसेसय जाति।'

—भ्रमरगीत-सार की भूमिका (पृष्ठ १६)

इन्दीवर नीलकमल (असितोत्पल, नीलोत्पल) को कहते हैं। इसका अन्य नाम पुष्कर भी है। यह अत्यन्त सुन्दर होता है। इसको भगवान राम और कृष्ण के श्याम वर्ण का उपमान बनाया गया है। तुलसीदासजी श्रीरामचन्द्रजी के स्तवन में कहते हैं—'नीलाम्बुजश्यामलकोमलाङ्गम्'। श्रीकृष्णजी के स्तवन में उनके मुख को इन्दीवर की कान्तिवाला कहा गया है—'फुल्लेन्दीवरकान्तमिन्दुवदनं वर्हावतंसप्रियम्'। सूरदासजी ने भी कृष्ण भगवान के श्याम तन की नील कमल से उपमा दी है—'नीलजलज अभिराम श्याम तन', 'सुन्दर स्याम-सरोज-नील-तन।' नीलकमल का रंग वास्तव में दिव्य होता है। यह अश्विनी कुमारों का प्रिय पुष्प कहा गया

है। इसके लिए अँग्रेजी में भी एक नाम है—NYPHEA STELLATA.

पुण्डरीक श्वेतकमल (शरत्पद्म, सिताम्बुज) को कहते है। कहा जाता है कि इसकी उत्पत्ति नक्षत्र-गण के ज्योति-कणों से हुई है। इसका प्रयोग हृदय की उपमा के लिए किया जाता है।

तुलसीदासजी ने रामचन्द्र जी के प्रायः सभी अंगों की कमल से उपमा दी है—

'नवकंज-लोचन, कंज-मुख, कर-कंज, पद कंजारुणं'

—विनयपत्रिका (श्रीराम-वन्दना-स्तुति)

ग्वाल कवि ने तो ग्रीष्म के वर्णन में कंजों की लड़ी-सी लगा दी है—

'कंजमुखी कंजनैनी कंज के बिछौननि पै
कंजन की पंखी करकंज तें करयौ करै'

कमल की नाल को हंस बड़े चाव से खाते हैं। उसको 'बिस' भी कहते हैं। 'मेघदूत' में राजहंसों को कमल की डंडियों को पाथेय रूप से लिए कैलाश पर्वत तक जाते हुए मेघ के सहायक रूप से दिखाया गया है—

'आकैलासाद्बिसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः
संपत्स्यन्ते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः ॥'

—मेघदूत (पूर्वमेघः ११)

कुमार सम्भव में सूर्य के ताप से सूखे हुए गंगाजी के कमलों के बीज की माला का उल्लेख है। पार्वती जी ने यह माला शिवजी को अर्पण की थी—

'अथोपनिन्ये गिरिशाय गौरी तपस्विने ताम्ररुचा करेण।
विशोषितां भानुमतो मयूखैर्मन्दाकिनीपुष्करबीजमालाम् ॥'

—कुमारसम्भव (३।६५)

इसके पत्तों पर जल नहीं ठहरता और जल में रहकर जल से अलिप्त रहते हैं। वेदान्तियों के लिए यही उपदेश दिया जाता है कि वे—

'पद्मपत्रमिवाम्भसि'—इस संसार में रहें । सूर ने भी इस उपमा का लाभ उठाया है—

'पुरइन-पात रहत जल-भीतर ता रस देह न दागी ।'

—भ्रमरगीत-सार (पद १०१)

कमल सूर्योदय पर खिलता है और सूर्यास्त होते ही बन्द हो जाता है । सूर्य के साथ इसके स्नेह की बात का उल्लेख गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामजी से भी किया है—

'उदित उदय गिरि मंच पर, रघुबर बाल पतंग ।
बिकसे संत सरोज सब, हरषे लोचन भृङ्ग ॥'

—रामचरितमानस (बाल-काण्ड)

इसका जल में वास रहता है, सूर्य से इसका स्नेह है । सूर्य और जल भारत की खेती के लिए विशेष महत्व रखते हैं, इसीलिए भारत में इसको विशेष आदर मिला है । इसमें सुन्दरता के साथ गन्ध भी है । गन्धहीन कोरी सुन्दरता किसी काम की नहीं होती ।

श्री जयशंकर प्रसाद ने प्रियतम के कानों को कमल के पत्ते की भाँति बताकर उनमें जल-बिन्दु की पंक्ति न ठहरने की व्याख्या की है—

'मुख-कमल समीप सजे थे
दो किसलय से पुरइन के
जल बिन्दु सदृश ठहरे कब
उन कानों में दुख किनके ?'

इस उपमान में आकार के सादृश्य के साथ जल-बिन्दु न ठहरने का साधर्म्य भी है । प्रियतम की निष्ठुरता पर सुन्दर व्यंग्य है ।

भ्रमर को कमल का प्रेमी माना गया है । रात्रि होने पर कमल-कोश के बन्द हो जाने पर भौंरा भी उसमें बन्द हो जाता है । दारुभेदनिपुण भौंरा कमल-कोश को छेदकर बाहर नहीं निकलता—'काठ फोरि घर कियो मधुप पै बँधे अंबुज के पात' (भ्रमरगीत-सार, पद १३८)—वह धैर्यपूर्वक प्रातःकाल की प्रतीक्षा करता है कि कब कमल खिले और कब वह बाहर

निकले। एक भाग्यहीन भौंरे का वर्णन आता है कि जब वह यह आशा कर रहा था कि रात्रि चली जायगी, सूर्योदय होगा और तब पंकज-श्री खिलेगी, उसी समय वह भी कमल-कोश से बाहर निकलेगा। इतने में ही हाथी कमल को उखाड़ कर खा जाता है। जीवन में ऐसे बहुत से अवसर आते हैं जब आशाएँ बहुत ऊँची होती हैं और विफलता हाथ लगती है। तब यही कहना पड़ता है—

'रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पंकजश्रीः
इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे
हा ! हन्त ! हन्त ! नलिनीं गजउज्जहार'

एक कवि ने किसी नवयौवना के सुन्दर मुख और नेत्रों से प्रभावित होकर कमल से कमल उत्पन्न होने की चमत्कारपूर्ण बात कही है—

'कमले कमलोत्पत्तिः
श्रूयते न च दृश्यते।
बाले तव मुखाम्भोजे,
दृष्टमिन्दीवरद्वयम् ॥'

अर्थात् कमल से कमल की उत्पति की बात सुनी जाती है, देखी नहीं जाती। पर सुन्दरी ! तुम्हारे मुख-रूपी कमल में ये नेत्र-रूपी कमल (नीलोत्पल) सुशोभित हैं।

करील (CAPPARIS APHYLA)—यह ब्रज की विशेष देन है। इस वृक्ष में पत्ते नहीं होते हैं वरन् फूल और फल ही आते हैं। इसके फल को जो छोटे बेर के आकार का होता है, टेंटी कहते हैं। महाराज भर्तृहरि ने कहा है—'पत्रं नैव करीलविटपे दोषोवसन्तस्य किम्।

कविवर दीनदयाल गिरि ने करील के इस त्याग की सराहना करते हुए लिखा है—

'धार्यो करीर तुम बहु ऋतु राज पाय।
यहै त्याग दृढ़ देखिके प्रिय कीनौ यदुराय ॥'

इसकी कुंजों पर रसखान ने कोटि 'कलधौत के धाम' वारे हैं—

'कोटिन हूँ कलधौत के धाम, करील के कुंजन ऊपर वारौं'

सूरदास जी ने भी कृष्ण का सँदेशा लाने वाले ऊधो जी से गोपियों द्वारा कहलाया है कि जिस मधुकर ने कमल का रस चाखा है वह करील के फल क्यों खायगा—

'जिन मधुकर अंबुज रस चाख्यो क्यों करील फल खावै।'

कर्णिकार (NERIUM ODORUM)—इस को कुछ लोग कनेर भी कहते हैं और कनक-चम्पा भी। कनेर नाम अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। इसमें कवि लोग गंध नहीं मानते। महाकवि कालिदास ने कुमारसम्भव में लिखा है कि कर्णिकार के फूल देखने में तो सुन्दर लगते हैं किन्तु गन्ध न होने के कारण मन को नहीं भाते। ब्रह्मा की कुछ ऐसी बान पड़ गई है कि वे किसी वस्तु को पूरे गुण नहीं देते—

'वर्णप्रकर्षे सति कर्णिकारं दुनोति निर्गन्धतया स्म चेतः।
प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणानां पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्ति ॥'

—कुमारसम्भव (३।२८)

शायद इसी बात का सहारा लेकर कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने मिथिलेश-नन्दिनी उर्मिला से कहलाया है—

'सहज मातृगुण गन्ध था कर्णिकार का भाग,
विगुण रूप-दृष्टान्त के अर्थ न हो यह त्याग !'

—साकेत (नवम् सर्ग)

काँस (SACCHARUH MUNJA)—काँस शरद ऋतु का सूचक है। कवि-कुल-गुरु कालिदास ने शरद् को काँस के कपड़े पहनाये हैं—

'फूले काँस सकल महि छाई। जनु बरषाकृत प्रकट बुढ़ाई'

केशवदास जी ने भी शरद्ऋतु को वृद्धदासी का रूप दिया है जो सीताजी की खोज के लिए राम और लक्ष्मण को उठाने के लिए आई है। बड़ी ही सुन्दर उत्प्रेक्षा है। यह उत्प्रेक्षा अधिकांश में काँस के फूलों, चाँदनी रात और कुन्दादि पुष्पों के ही कारण दी जा सकी है। सेनापति ने भी शरद् के

सम्बन्ध में काँसों का वर्णन किया है—

'सेनापति आए तें सरद रितु फूलि रहे,
आस-पास कास खेत खेत चहूं देस हैं।'
—कवित्त-रत्नाकर (तीसरी तरंग)

कुन्द (JASMINUM PUBESCENE)—कुन्द के फूल सफेद होते हैं किन्तु इसकी कलियाँ कुछ लाल रहती हैं। इनको दाँतों का उपमान बनाया जाता है—

'कुलिस कुंद कुडमल दामिनि दुति दसननि देखि लजाई'

विद्यापति ने कुन्द-कुसुमों को हँसते हुए दिखाया है—

'चल देखए जाऊ रितु बसन्त।
जहाँ कुन्द कुसुम केतकि हसंत॥'
—विद्यापति की पदावली (बसन्त)

जब कुन्द के फूल खिलते हैं इकट्ठे ही खिलते हैं और वास्तव में हँसते हुए दिखाई देते हैं। कुन्द का इन्दु के साथ-साथ श्वेतता के उपमानों में उल्लेख होता है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरितमानस के मंगलाचरण में शिवजी के सम्बन्ध में कहा है—

'कुन्द इंदु सम देह उमा रमन करुना अयन।
जाहि दीन पर नेह करउ कृपा मर्दन मयन॥'
—रामचरितमानस (बाल-काण्ड)

कुमुद (NYPHEA ALBA)—जिस प्रकार सूर्योदय पर कमल खिलता है उसी प्रकार चन्द्रोदय पर कुमुद खिलते हैं। चन्द्रमा और कुमुद का स्नेह माना जाता है। रामचरितमानस में चन्द्रमा को 'कुमुद-बन्धु' कहा है—'कुमुद-बन्धु कर निन्दक हासा'—अर्थात् रामचन्द्र जी का हास चन्द्रमा का तिरस्कार करता है। सूर्योदय होते ही कुमुद बन्द हो जाते हैं—

'अरुन उदय सकुचे कुमुद, उडगन जोति मलीन'

कुसुम (CARTHEUMUS TINCTURINUS)—इसके फूल से

कुसुम्भी रंग बनता है । रजा रानी मीरा को कुसुम्भी रंग की साड़ी बहुत प्रिय थी । वे उसी से अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण जी को रिझाना चाहती थी—

'सावरिया के दरसन पाऊँ पहन कुसुम्भी सारी'

केतकी (PANDANUS FASCICULARIS)—इसका वृक्ष केवड़े की जाति का काँटेदार पत्तों वाला होता है । इसका भीतर का पत्ता श्वेतता का उपमान माना जाता है—'केतकी गर्भ आभा' । इसके काँटेदार होने के ही कारण महाकवि भूषण ने राणा को केतकी बनाया है—'राना केतकी विराज हैं' ।

केसू (टेसू, पलाश) (BUTEA MONOSPERMA)—केसू बसन्त का सूचक है । बसन्त ऋतु के आगमन पर इसके पत्ते झर जाते हैं और उसके लाल-लाल फूल बन को रक्तवर्ण बना देते हैं—पल=माँस, आश=खाने वाला—बसन्त के आगमन का सूचक होने के कारण यह विरहिणियों का मांस खाने वाला माना जाता है । केसू शब्द का प्रयोग सेनापति ने किया है—

'लाल लाल केसू फूलि रहे हैं बिसाल, संग
स्याम रंग भेंटि मानौं मसि में मिलाए हैं ।'
—कवित्त-रत्नाकर (तीसरी तरंग)

केसू के फूल का ऊपरी भाग अंगारे जैसा लाल और नीचे का डंटल सहित घुंडीवाला भाग कोयला जैसा काला (गहरा कत्थई) होता है । उसके ऊपर 'मधु-काज आइ बैठे मधुकर-पुंज' को देखकर सेनापति ने कामदेव द्वारा विरहियों को जलाने के लिए कोयला सुलगाये जाने (आधे अन-सुलगे और आधे सुलगे) की बात बड़ी उत्तम रीति से कही है—

'तहाँ मधु-काज आइ बैठे मधुकर-पुंज,
मलय पवन उपवन-बन धाए हैं ।
'सेनापति' माधव महीना में पलास तरु,
देखि देखि भाव कविता के मन आए हैं ।

आधे अन-सुलगि, सुलगि रहे आधे, मानो
बिरही दहन काम क्वैला परचाए हैं ॥'
—कवित्त-रत्नाकर (तीसरी तरंग)

पलाश के पत्तों के दोने बनते हैं। भगवान श्री कृष्ण भी कमल के पत्तों और पलाश के दोनों का प्रयोग किया करते थे—

'बन भोजन बिधि करत, कमल के पात मँगाए।
तोरे पात पलास, सरस दोना बहु लाए ॥'

पलाश के फूल तोते की चोंच की तरह होते हैं इसीलिए इनको किंशुक (किम् शुक) कहते हैं अर्थात् 'क्या तोते हैं?' किंशुक के फूलों को कालिदास ने भी तोते की चोंच की तरह का कहा है—

'किं किंशुकैः शुकमुखच्छविभिर्न भिन्नं
किं कर्णिकारकुसुमैर्न कृतं नु दग्धम् ॥'
—ऋतुसंहार (६।२०)

कविवर सुमित्रानन्दन पंत ने पलाश की लाली के कारण उसको यौवन के नये रक्त और जीवन-ज्वाला का प्रतीक कहा है—

'यौवन के नव रक्त, तेज का जिनमें मदिर उभार!
हृदय रक्त ही अर्पित कर मधु को, अपर्ण-श्री शाल!
तुमने जग में आज जला दी दिशि-दिशि जीवन-ज्वाल!'
—युगवाणी (पलाश)

पंत जी ने पलाश की शोभा, श्री और दीप्ति की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

गुंजा (ABRUS PRECATORIUS)—इसको घुँघची या रत्ती भी कहते हैं। जंगल में सुलभता से मिलने के कारण श्रीकृष्ण जी इसकी बनमाल पहना करते थे। सूर ने तो गुंजा की माल का उल्लेख किया ही है—'उर गुंजा बनमाल मुकुट सिर बेनु रसाल बजावत'—बिहारी ने भी भगवान श्री कृष्ण को गुँजा की माल के मानिक से मन में बसाना चाहा है—

'मोर मुकुट कटि काछनी, उर गुंजा की माल।
यह बानक मो मन बसहु, सदा बिहारीलाल ॥'

सूर की गोपियों ने अपनी रोती हुई लाल आँखों की गुंजों से उपमा दी है—

'बिनु गोपाल बैरिन भई कुंजें।
× × ×
सूरदास प्रभु को मग जोवत अँखियाँ भईं बरन ज्यों गुंजें।'
—भ्रमरगीत-सार (८५)

गुड़हल (जपाकुसुम) (HIBISCUS ROSA CHINENSIS)—गुड़हल का फूल लाल होता है। इसे जपाकुसुम भी कहते हैं। देवी की पूजा में इसका विशेष प्रयोग किया जाता है। इसकी तीव्र लाली के कारण ही सूर्य देव के लिए यह उपमान बनाया गया है—'जपाकुसुम् संकाशं काश्यपेयं महाद्युतिम्।' इसके सम्बन्ध में यह कवि-प्रसिद्ध है कि जहाँ यह फूल होता है वहाँ लड़ाई होती है—

'वाही दिन तैं ना मिट्यौ मानु, कलह कौ मूलु।
भलें पधारे, पाहुने, ह्वै गुड़हर कौ फूलु ॥'
—बिहारी-रत्नाकर (दोहा ५६५)

गेंदा (TAGETES PATULA)—गेंदे का फूल गेंद (कन्दुक) की भाँति गोल होता है, इसी से इसका नाम गेंदा पड़ा है। इसका आकार कुछ-कुछ पाग-का-सा होता है, इसी लिए भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने लिखा है—

'गेंदा फूले सब डार डार,
मनु पाग पहिरि ठाड़ी कतार।'

चन्दन (SANTALUM ALBOM)—यह सूखने पर ही सुगन्धि देता है। इसमें फूल भी होते हैं लेकिन कवि इनका वर्णन नहीं करते हैं। इससे उनको विधाता की बुद्धि पर तरस खाने को मिल जाता है। इसके विषय में यह भी प्रसिद्धि है कि जम्भीर, नीम, कुटज आदि जो भी

वृक्ष मलयागिरि पर होते हैं वे सब चन्दन हो जाते हैं—

'मन्यामहे मलयमेव यदाश्रयेण ।
कंकोल निम्ब कुटजा अपि चन्दनाः स्युः ॥'

कुटज (कुटज का दूसरा नाम 'कुरैया' है जिसके बीज को 'इन्द्रजौ' कहते हैं) के फूलों से ही मेघदूत के यक्ष ने मेघ को अर्घ्य देकर उसकी पूजा की थी—

'स प्रत्यग्रैः कुटजकुसुमैः कल्पितार्घाय तस्मै ।
प्रीतिः प्रीतिप्रमुखवचनं स्वागतं व्याजहार ॥'

—मेघदूत (पूर्वमेघ ४)

चन्दन के वृक्ष पर साँप लिपटे रहने की प्रसिद्धि बहुत पुरानी है। कालिदास ने परशुराम के सतोगुणी यज्ञोपवीत के साथ धनुषबाण धारण करने की उपमा में चन्दन के वृक्ष पर सर्प का उल्लेख किया है--

'सद्विजिह्व इव चन्दनद्रुमः ॥'

—रघुवंश (११।६४)

चम्पा (MICHELIA CHAMPAKA)—जिस चम्पा का कवि लोग वर्णन करते हैं वह पीले रंग की होती है । उसके फूलों का पीला रंग शरीर के पीले रंग में मिल जाता है । गोस्वामी तुलसीदास जी सीताजी के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

'चम्पक हरवा अँग मिलि अधिक सुहाइ ।
जानि परै सिय हियरे जब कुम्हलाइ ॥'

इसके सम्बन्ध में यह कवि-प्रसिद्ध है कि भौंरा इसके पास नहीं आता है, इसलिए इसके विषय में कहा गया है—

'चंपा तोमें तीन गुण, रूप रंग अरु बास ।
औगुन तो में एक है, भँवर न आवै पास ॥'

महाकवि भूषण ने इसमें इसी गुण का सहारा लेकर छत्रपति शिवाजी को चम्पे का फूल बनाया है जिसके इस गुण के कारण भौंरा औरंगजेब पास नहीं आ सकता है—

'त्यागे सदा षटपद-पद अनुमानि यह
नवरंगजेब चम्पा सिवराज है ॥'

—शिवाबावनी

गुप्त जी ने भी इसी कवि-प्रसिद्ध का लाभ उठा कर विरहिणी उर्मिला से कहलाया है—

'भ्रमर, इधर मत भटकना, ये खट्टे अंगूर,
लेना चम्पक-गन्ध तुम, किन्तु दूर ही दूर।'

—साकेत (नवम सर्ग)

छुई मुई (MIMOSA PUDICA)—इसका पौदा बड़ा लजीला और कोमल होता है जो छूते ही मुर्झा जाता है। कविवर सुमित्रानन्दन पंत ने ढलते हुए दिन की आभा को छुईमुई बनाया है—

जुही (JASMINUM AURICULATUM)—जुही का फूल छोटा और अत्यन्त मोहक भीनी गन्ध से युक्त होता है। इसकी चमेली-की-सी बेल चलती है। सूर ने श्रीकृष्ण जी के रास में अन्तर्ध्यान हो जाने पर गोपियों द्वारा जुही आदि वृक्षों से कृष्ण जी का पता पूछा है—

'अति व्याकुल भईं गोपिका, ढूँढ़त गिरधारी।
बूझति हैं बन बेलि सौं, देखे बनवारी॥'

—सूरसागर (दशम स्कंध, पृष्ठ ६३८)

श्री निराला जी की 'जुही की कली' कविता काफी ख्याति प्राप्त कर चुकी है—

विजन-वन-वल्लरी पर
सोती थी सुहागभरी-
स्नेह-स्वप्न-मग्न-अमल-कोमल-तनु तरुणी
जुही की कली,
दृग बन्द किये, शिथिल, पत्रांक में।
वासन्ती निशा थी;
विरह-विधुर प्रिया-सङ्ग छोड़

किसी दूर-देश में था पवन
जिसे कहते हैं मलयानिल।

तमाल (LAURUS CUSSIA)—तमाल का वृक्ष श्रीकृष्णजी के प्रिय वृक्षों में से है। उनके शरीर की उपमा तमाल से दी जाती है—'तरु तमाल गोपाल लाल बने'। व्रज की गोपियाँ ऊधव से कहती हैं—'ये बल्ली विहरत वृन्दावन अरुझीं श्याम तमालहिं'। भगवान कृष्ण को त्रिभंगी मुद्रा में तमाल के नीचे खड़ा होना बड़ा प्रिय है—'तरु तमाल तरे त्रिभंगी कान्ह कुँवर, ठाड़े हैं साँवरे सुवरन।' कुछ लोग तमाल के पत्तों का तेजपात के पत्तों से तादात्म्य करते हैं। तेजपात को 'LAURUS NOBLIS' कहते हैं। गीतगोविन्द के मंगलाचरण में रात की श्यामलता का वर्णन करते हुए लिखा है—

'मेघैर्मेदुरमम्बरं वनभुवः श्यामास्तमाल द्रुमैः'

—गीतगोविन्द (१।१)

जिस प्रकार 'कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन' का उल्लेख होता है वैसे ही जमुना-तट के तमालों का भी उल्लेख होता है—'तरनि तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाये।'

दाड़िम (अनार) (PUNICA GRONATUM)—दाड़िम या अनार कवियों और शुकों का बड़ा प्रिय फल है। इसके दाने दाँतों का उपमान बनते हैं—'कुन्दकली दाड़िम दसन'। कविवर श्री मैथिलिशरण गुप्त ने नाक को शुक का प्रतिनिधि मानकर बेसर के मोती को दाड़िम का दाना बनाया है—

"नाक का मोती अधर की कान्ति से,
बीज दाड़िम का समझ कर भ्रान्ति से,
देखकर सहसा हुआ शुक मौन है,
सोचता है, अन्य शुक यह कौन है?"

—साकेत (प्रथम सर्ग)

इसमें तद्गुण और भ्रान्ति अलंकारों की भी छटा दर्शनीय है। कवि-

सम्राट अयोध्यासिंह उपाध्याय ने पूरे वृक्ष की ही शोभा का वर्णन किया है। उसमें फूल-फल और दाने सभी कुछ आ जाते हैं—

'बिलोल - जिह्वा - युत रक्त-पुष्प से।
सुदन्त शोभी फल भग्न-अंक से।
बढ़ा रही थी वन की विचित्रता।
समाद्रिता दाड़िम की द्रुमावली।'

—प्रियप्रवास (नवम सर्ग)

देवदारु (CEDRUS DEODARA)—पहाड़ी वृक्षों में देवदारु का साल के वृक्ष की तरह विशालकाय होने का उल्लेख होता है। यह पाँच प्रकार के देववृक्षों में से एक है। देवदारु शब्द का ही अर्थ है देवताओं की लकड़ी (दारु=काष्ठ)। कविवर जयशंकर प्रसाद जी ने कामायनी के आरम्भ में हिमालय का वर्णन करते हुए देवदारु की विशालता का वर्णन किया है। उनको मनु के समान ही लम्बा बतलाया है—

'उसी तपस्वी से लम्बे, थे
देवदारु दो चार खड़े;
हुए हिम-धवल, जैसे पत्थर
बन कर ठिठुरे रहे अड़े।'

—कामायनी (चिन्ता)

धतूरा (DATURA ALBA)—आक के साथ शिवजी की प्रिय वस्तुओं में धतूरा भी होता है। इसका फूल तुरही के आकार का होता है। इसी आकार-सादृश्य के कारण महाकवि विद्यापति ने वसन्त के जन्मोत्सव में धतूरे को तुरही बजाने वाला कहा है—'काहरकार धतूरा'।

इसको संस्कृत में कनक भी कहते हैं। कनक का अर्थ सोना भी है। इसी द्वयर्थकता का लाभ उठाकर कविवर बिहारीलाल जी ने लिखा है—

'कनक कनक तें सौगुनी मादकता अधिकाइ।
उहिं खाएँ बौराइ, इहिं पाएँ हीं बौराइ॥'

—बिहारी-रत्नाकर (दोहा १९२)

धवा (ANOGEISSUS SP.)—धवा धाय के वृक्ष को कहते हैं। परिसंख्या अलंकार का चमत्कार दिखाते हुए केशवदास जी कहते हैं —'बिधवा बनी न नारि'। प्रवर्षणगिरि के वर्णन में इसके धाय रूप का भी लाभ उठाया गया है—'संग धाय विराजे'।

निम्ब (नीम) (MELIA AZADIRACHTA)—नीम भारत के अत्यन्त लोकप्रिय वृक्षों में से है। उपयोगिता की दृष्टि से इसका बहुत महत्व है किन्तु कवियों ने उसमें भी मानवीय भाव भरने की कोशिश की है। कविवर नरेन्द्र शर्मा ने नीम से अपनी तुलना करते हुए लिखा है—

> 'मौन था मैं, आह भर भर
> कर कराहे रात भर तुम—
> नीम ! मेरे भाव हैं वह,
> दे रहे हो तुम जिन्हें स्वर !'
>
> —मिट्टी और फूल (हवा में नीम)

पाकर (FICUS INFECTORIA)—कीकर (ACACIA ARABICA) के साथ इसका उल्लेख होता है—

> 'कीकर पाकर तार जामुन फलसा आमला।
> सेव कदम कचनार पीपर रसी तू न तज॥'

इसमें मुद्रालंकार द्वारा पेड़ों के नाम उपस्थित किये गए हैं और साथ ही पातिव्रत धर्म का उपदेश भी दिया गया है।

पाटल (गुलाब) (ROSA INDICA)—कविवर तुलसीदासजी ने मनुष्यों की प्रकृति का वर्णन करते हुए गुलाब, पनस (कटहल, ARTOCARPUS INTERIFOLIA) और रसाल (MANGIFERA INDICA) का उल्लेख किया है—

> 'जनि जल्पना करि सुजसु नासहि, नीति सुनहि करहि क्षमा
> संसार महँ पुरुष त्रिबिध पाटल रसाल पनस सम

एक सुमनप्रद एक सुमन फल एक फलइ केवल लागहीं
एक कहहिं कहहिं करहिं अपर एक करहिं कहत न बागहीं'

रामचरितमानस (लंका-काण्ड)

गुलाब फूलता ही है फलता नहीं। यह उस व्यक्ति के समान है जो केवल कहता है करता नहीं है।

कटहल फूलता नहीं है फलता है। यह उस व्यक्ति के समान है जो कहता नहीं करता है—'सूर समर करनी करहिं कायर करहिं प्रलाप।'

आम फूलता फलता दोनों ही है। यह उस व्यक्ति के समान है जो कहता और करता दोनों ही है।

पीपल (अश्वत्थ) (FICUS RILIGIOSA)—यह वट के साथ भारत के पवित्र और पूजनीय वृक्षों में माना जाता है। इसीको बोधि-वृक्ष भी कहते हैं। भगवद्गीता में इसको भगवान् की विभूतियों में गिनाया गया है—'अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः' (श्रीमद्भगवद्गीता, १०।२६)। इसी ग्रन्थ-रत्न में संसार को ऊपर की ओर जड़ तथा नीचे की ओर शाखा फैलाए हुए अश्वत्थ वृक्ष कहा गया है—

'ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्'

—श्रीमद्भगवद्गीता (१५।१)

आधुनिक कवि पं० सुमित्रानन्दन पन्त ने वर्तमान संस्कृति के अनुकूल इसका उल्टा कर दिया है क्योंकि पृथ्वी का आश्रय लिए बिना संस्कृतियाँ पल्लवित नहीं हो सकतीं—'अधोमूल अश्वत्थ विश्व, शाखाएँ संस्कृतियाँ वर'।

इसको संस्कृत में चलदल भी कहते हैं क्योंकि इसकी पत्ती हवा के कारण चंचल बनी रहती है। परिसंख्या अलंकार का सहारा लेते हुए कवि केशवदास ने चंचलता को चलदल में ही सीमित कर दिया है, पुरुषों में उसको स्थान नहीं दिया है—'अति चंचल जहँ चलदलै, विधवा बनी न नारि'।

बन्धूक (IXORA BANDHUKA)—इसका फूल छोटा, लाल और गुच्छेदार होता है। होंठों, हाथों आदि की इससे उपमा दी जाती है। उर्मिला शरद् का स्वागत करती हुई 'साकेत' में कहती है—

'करके ध्यान आज इस जन का निश्चय वे मुसकाये,
फूल उठे हैं कमल, अधर से ये बन्धूक सुहाये !'

—साकेत (नवम सर्ग)

बिम्बा (COLOCYNTHIS INDICUS)—इसकी बेल होती है और प्रायः जंगलों में पाई जाती है। इसका फल शाक के काम में आता है। पक जाने पर यह लाल रंग का हो जाता है और अधरों का उपमान बनता है। इसको कुँदरू भी कहते हैं। सूर ने श्रीकृष्ण की भोजन-सामग्री में इसको गिनाया है—**'कुनरू और ककोरा।'**

तोते को भी यह फल बहुत प्रिय मालूम पड़ता है। संदेह अलंकार का सहारा लेकर सूरदास जी अधरों का इस प्रकार वर्णन करते हैं—

'किधौं तरुन तमाल बेलि चढ़ि,
जुग फल बिम्ब सु पाक्यो ॥
नासाकीर आइ मनु बैठ्यो,
लेत बनत नहिं ताक्यो ॥'

इसमें तमाल श्रीकृष्णजी का प्रतिनिधित्व करता है और बिम्ब अधरों का। सूर ने बिम्ब के साथ जान-बूझकर 'सुपाक्यो' विशेषण दिया है क्योंकि पके हुए कुन्दरू का ही रंग लाल होता है।

उपमा के सहारे सूर ने एक जगह और इसका सुन्दर वर्णन किया है—

'अधर अरुन, अनूप नासा, निरखि जन-सुखदाइ।
मनौ सुक, फल बिब कारन, लेन बैठ्यौ आइ।'

—सूरसागर (दशम स्कंध, पृष्ठ ३४०)

बेत (CALAMUS SP.)—भवभूति आदि प्राचीन संस्कृत कवियों में बेत की लता का वर्णन आया है। इसके सम्बन्ध में यह कवि-

प्रसिद्धि है कि यह न फूलता है और न फलता है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने मूर्ख हृदय की इससे उपमा देते हुए लिखा है—

'फूलइ फरइ न बेत जदपि सुधा बरषहिं जलद।
मूरुख हृदय न चेत जौं गुर मिलहिं बिरंचि सम॥'

—दोहावली (दोहा ४८४)

किन्तु बेत की कुछ जातियों में फूल और फल आते हैं। इस कवि-प्रसिद्धि द्वारा मूर्ख हृदय पर गुरु-उपदेश की विफलता अच्छी तरह दिखाई जा सकती है।

भीम (अम्लवेत) (VITIS ADNATA)—केशवदासजी ने भीम नाम का लाभ उठाते हुए पंचवटी को 'पाँडवों की प्रतिमा' बतलाया है—

'पाँडव की प्रतिमा सम लेखो।
अर्जुन भीम महामति देखो॥'

—रामचन्द्रिका (पंचवटी-वन-वर्णन)

मुचुकुन्द (PTEROSPERNUM ACERIFOLIUM)—इसका फूल सफेद और गुच्छेदार होता है। भूषण ने राजाओं को भिन्न-भिन्न फूलों का रूप देते हुए औरंगजेब को भौंरा बताया है जो चम्पा (शिवाजी) को छोड़कर और सब का रस लेता है। इसी सिलसिले में भूषण ने मुचुकुन्द का भी उल्लेख किया है—

'करम कमल कमधज है कदमफूल गौर है गुलाब राना केतकी बिराज हैं।
पाँडरि पँवार जुही सोहत है चंद्रावत सरस बुँदेला सो चमेली साजबाज हैं।
'भूषन' भनत मुचकुंद बड़गूजर हैं बघेले बसन्त सब कुसुम-समाज हैं।
लेइ रस एतेन को बैठि न सकत अहै अलि नवरंगजेब चम्पा सिवराज हैं।'

—शिवाबावनी (छन्द १७)

मल्लिका (JASMINUM SAMBAE OR AUGUSUTI-FOLIUM)—इसको मोतिया भी कहते हैं। ये बेले की जाति का एक फूल होता है। अभीज्ञान शाकुन्तल नाटक में मल्लिका का विवाह आम्र वृक्ष से कराया गया है और शकुन्तला ने उसका नाम 'वन-

ज्योत्स्ना' रखा था। यह नाम बड़ा ही सार्थक तथा चित्रमय है। शकुन्तला की सखी प्रियंवदा उससे छेड़खानी करती हुई कहती है—'यथा वनज्योत्स्नानुरूपेण पादपेन सङ्गता तथा अहमपि आत्मनोऽनुरूपं वरं लभेय 'इति'।

चन्द्र मल्लिका के फूल को कविवर सुमित्रानन्दन पन्त ने सफेद गुलदाउदी का फूल माना है—

'शय्या ग्रस्त रहा मैं दो दिन, फूलदान में हँसमुख
चन्द्र मल्लिका के फूलों को रहा देखता सन्मुख।
गुलदावदी कहूँ—कोमलता की सीमा ये कोमल!
शैशव स्मिति इनमें जीवन की भरी स्वच्छ, सद्योज्वल!'

ग्राम्या (पृष्ठ १०७)

माधवी (HIPTAGE MADOBLOTA)—इसका भी फूल सफेद होता है और इसका भी प्रणय रसाल वृक्ष से कराया जाता है। इसका उल्लेख वसन्त के सम्बन्ध में होता है। कविवर बिहारीलाल जी ने इसका उल्लेख इस प्रकार किया है—

'छकि रसाल-सौरभ, सने मधुर माधुरी-गंध।
ठौर ठौर झौंरत झँपत भौंर-झौंर मधु-अंध॥'

—बिहारी-रत्नाकर (दोहा ४९६)

माधवी का अर्थ वैशाख से सम्बन्धित भी है।

मालती (ECHITES CARYOPHYLLATA)—इसका फूल श्वेत रंग का और इसकी गन्ध बड़ी भीनी होती है। सूरदास जी ने श्री कृष्ण के अन्तर्ध्यान हो जाने पर गोपिकाओं द्वारा श्रीकृष्ण का मालती आदि वृक्षों से पता पुछवाया है—

'अति व्याकुल भईं गोपिका, ढूँढ़त गिरधारी।
बूझति हैं बन बेलि सौं, देखे बनवारी॥
जाही, जूही, सेवती, करना, कनिआरी।
बेलि, चमेली, मालती, बूझति द्रुम-डारी॥'

—सूरसागर (दशम स्कंध, पृष्ठ ६३८)

तुलसीदासजी ने भी इसी प्रकार 'खग मृग मधुकर श्रेणी' से राम द्वारा सीता का पता पुछवाया है—

'हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी। तुम्ह देखी सीता मृग नैनी।'

—रामचरितमानस (अरण्य-काण्ड)

कविवर रहीम खानखाना ने गंगाजी को शिवजी के सिर की मालती-माल कहा है—'अच्युत-चरण-तरंगिणी शिव-सिर-मालति-माल'।

कविवर सेनापति ने नायिका के तन की वास द्वारा मालती-माला की सुगंधि को द्विगुणित करती हुई बताया है—

'मालती की माल तेरे तन कौं परस पाइ,
और मालतीन हू तें अधिक बसाति है।'

—कवित्त-रत्नाकर (शृंगार-वर्णन)

मौलिश्री (MIMUSOPS ELENGI)—इसके फूल छोटे और कटे हुए गोल श्वेत रंग के होते हैं जिनकी बड़ी भीनी सुगन्धि आती है। कविवर बिहारीलाल जी ने इसकी माला का उल्लेख नीचे के दोहे में किया है—

'अपनें करगुहि, आपु हठि हिय पहिराई लाल।
नौल सिरी औरै चढ़ी बौलसिरी की माल॥'

—बिहारी-रत्नाकर दोहा (२०४)

इसमें नायक के पहनाये जाने के कारण मौलिश्री की माला की द्युति और भी बढ़ जाती है और वह नई शोभा धारण कर लेती है, (नौल सिरी=नवल श्री, बौलसिरी=मौलसिरी, मौलिश्री)।

रसाल (MANGIFERA INDICA)—यह भारत का विशेष फल है और इसका बड़ा साँस्कृतिक महत्व है। इसके पल्लवों का प्रत्येक शुभ कार्य में प्रयोग होता है। इसके तोरण तथा बन्दनवार बनाये जाते हैं। आम का बौर बसन्त का अग्रदूत माना जाता है और इसीलिए वह विरहिणियों के हृदय को छेदता बतलाया है—

'लाल हैं प्रवाल फूले देखत बिसाल, जऊ
फूले और साल पै रसाल उर-साल है ॥'
—कवित्त-रत्नकार (ऋतु-वर्णन)

कवि लोग कोयल को भी प्रायः रसाल वृक्ष पर ही बैठा हुआ देखते हैं—

'मेरे बौरे रसाल बन-से
मन मे कोयल बन-जाओ ।'
—नरेन्द्र शर्मा

लवंगलता (PERGULARIA)—इसका फूल छोटा होता है और अपनी सुगंधि के कारण मधुकरों को आकर्षित करता है । महाकवि जयदेव ने अपने गीत-गोविन्द में इस लता को अमर कर दिया है—

'ललितलवङ्गलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे
मधुकरनिकरकरम्बितकोकिलकूजितकुञ्जकुटीरे'
—गीतगोविन्द (३१२)

भारतेन्दुजी ने इसी गीत का हिन्दी रूप इस प्रकार उपस्थित किया है—

'लै ललित लवंग-सुवास, डोलत कोमल मलयज बतास।
अलि-पिक-कलरव लहि आसपास, रह्यो गूँजि कुंज गह्वर अवास ॥'

वट (FICUS BENGALENSIS)—पीपल के साथ यह भी भारत के पवित्रतम वृक्षों में माना जाता है । वट सावित्री के पर्व पर इसकी सधवा स्त्रियों द्वारा पुत्र-कामना से पूजा की जाती है । यह पर्व ज्येष्ठ बदी अमावस्या को होता है । इसका सम्बन्ध सावित्री-सत्यवान की कथा से है । इसका सम्बन्ध शिवजी से भी है और श्री कृष्ण से भी । शास्त्रों में ऐसा माना जाता है कि इसका एक वृक्ष प्रलयकाल में भी बना रहता है और इसके एक पत्ते पर भगवान् विष्णु बालमुकुन्द रूप में शयन करते हैं—

'वटस्य पत्रस्य पुटे शयानम् बालं मुकुन्दम् मनसा स्मरामि ।'

कविवर जयशंकर प्रसादजी ने भी जल-प्लावन के सम्बन्ध में 'कामायनी' में इसी वृक्ष का उल्लेख किया है—

'बँधी महा-वट से नौका थी
सूखे में अब पड़ी रही;
उतर चला था वह जल प्लावन,
और निकलने लगी मही।'

—कामायनी (चिन्ता)

श्रीकृष्ण भगवान् भी वंशी-वट के नीचे ही बैठकर वंशी की तान से गोपिकाओं को मुग्ध किया करते थे। इसी के नीचे बैठकर वे कभी-कभी विचार भी किया करते थे—

'बंसीवट सीतल जमुना-तट, अतिहि परम सुखदाई।
सूर श्याम तँह बैठि विचारत, सखा कहाँ बिरमाई॥'

शेफाली (NYCTANTHES ARBOR-TRIS)—इसको हार-शृंगार भी कहते हैं। इसके फूल की पंखड़ी सफेद और डंठल लाल होता है। इससे रंग निकाला जाता है। इसके रंग का उल्लेख गुप्तजी ने साकेत में किया है—

'तुम अर्द्धनग्न क्यों रहो अशेष समय में,
आओ, हम कातें-बुनें गान की लय में।
निकले फूलों का रंग, ढंग से ताया,
मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया।'

—साकेत (अष्टम सर्ग)

सरसों (BRASSICA)—इसका फूल पीला होता है। यह भी बसन्त का अग्रदूत माना जाता है। कविवर सुमित्रानन्दन पंत ने इसकी तैलाभ गन्ध का उल्लेख किया है—

'उड़ती भीनी तैलाक्त गन्ध,
फूली सरसों पीली पीली,'

—ग्राम्या (ग्राम-श्री)

साल (SHOREA ROBUSTA)—यह वृक्ष बड़ा विशालकाय होता है जो प्रायः पहाड़ों पर ही पाया जाता है। इसकी विशालता के सम्बन्ध में पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय अपने 'प्रियप्रवास' में इस प्रकार लिखते हैं—

'नितान्त ही थी नभ-चुम्बनोत्सुका।
द्रुमोच्चता की महनीय-मूर्ति थी।
खगादि की थी अनुराग-वर्द्धिनी।
विशालता-शाल-विशाल-काय की।

—प्रियप्रवास (९।४५)

सिरिस (ALLUZZIA LEBECK)—इसका फूल बड़ा कोमल होता है। इसको कोमलता गुण का उपमान बनाया जाता है। कालिदास ने 'सिरीसकुसुमादपि सुकुमार्या' लिखकर इसकी सुकुमारता का परिचय दिया है। कवि-चूड़ामणि तुलसीदास जी ने भी इसकी सुकुमारता का उल्लेख किया है—

'विधि केहि भाँति धरऊँ उर धीरा। सिरिस-सुमन-कन बेधिय हीरा।'

सेमर (BOMBAX MALABARICUM)—इसका पेड़ लम्बा होता है और इसके फूल में रुई निकलती है। कवि इसके द्वारा संसार की निस्सारता का वर्णन करते हैं—

"सेमर सुवना सेइया, दुइ टेढ़ी की आस।
टेढ़ी फूटी चटाक दे सुवना चला निरास।"

सूर ने भी इसी परम्परागत उक्ति का उपयोग किया है—'रसमय जानि सुवा सेंमर की चोंच छालि पछितायौ'।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत की बन-सम्पति को हमारे कवियों ने जी खोलकर प्रयोग किया है। इस उपयोग में उनका प्रकृति-प्रेम प्रदर्शित होता है और काव्य में सुबोधता, सजीवता तथा चित्रमयता आ जाती है। साहित्य में आने वाली फूल-पौदों पर आश्रित उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं का पूरा-पूरा आस्वाद लेने के लिए इन पेड़ पौदों का निरीक्षण तथा इनकी

पहचान आवश्यक है । इसके लिए विशेषज्ञों की सहायता वांछनीय है। बनस्पति-शास्त्र के विद्वान् भारतीय पेड़-पौदों और फूल-पत्तों के देशी नाम से परिचित होने का प्रयत्न करें (कुछ वृक्षों और पौदों जैसे, कर्णिकार, तमाल, मल्लिका आदि के सम्बन्ध में अब भी मतभेद है कि उनका नाम क्या है?) और साहित्यिक बन्धु फूल-पेड़ों के नामोल्लेख के अतिरिक्त प्रत्यक्ष जानकारी प्राप्त करें तभी ऋतु-वर्णन और उपमानों आदि के प्रसंगों में वर्णित फूल-पत्तियों की श्री और शोभा का आस्वाद कर सकेंगे।